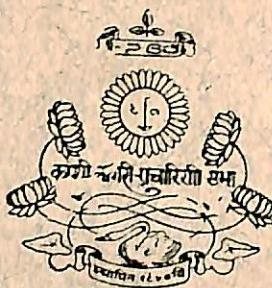


संस्कृत साहित्य का इतिहास

लेखक

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार



नागरीप्रचारणी सभा, काशी

ଶ୍ରୀମଦ୍ଭଗବତ
ପ୍ରକାଶ
ପରିଚୟ
ପରିଚୟ
ପରିଚୟ

ନାନ୍ଦପ୍ରଥମ ସଭା
କାଶୀ



रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथमाला

संस्कृत साहित्य का इतिहास

लेखक

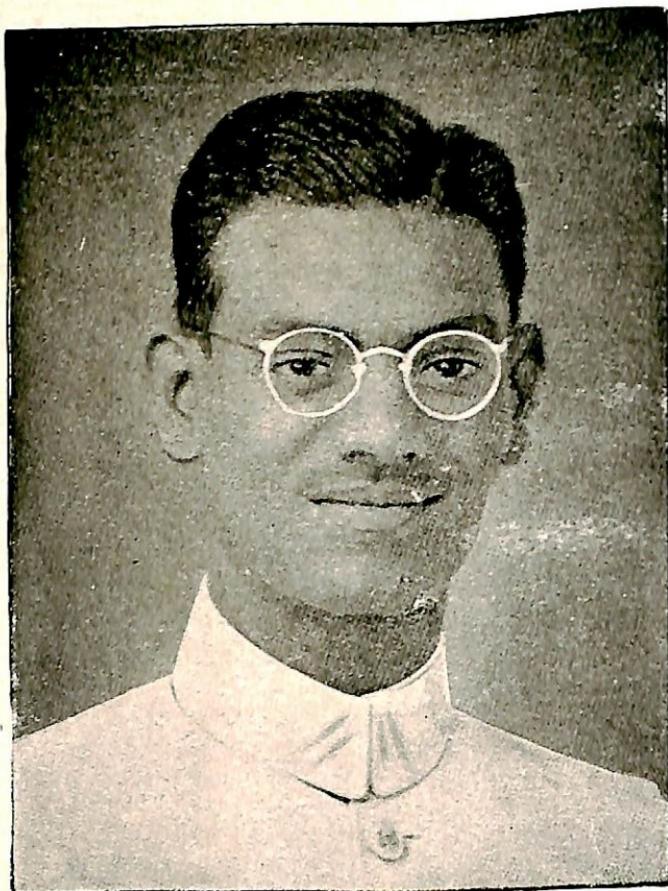
सेठ कन्हैयालाल पोद्दार



नागरीप्रचारिणी सभा काशी

प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक—महताव राय, नागरी मुद्रण, काशी
संवत् २०११, द्वितीय संस्करण १५०० प्रति
मूल्य ४)





स्व० कुँवर श्रीरामविलास जी पोदार

दो शब्द

कुँवर रामबिलासजी पोदार नवलगढ़ तथा बंबई के लघुप्रतिष्ठ व्यापारी सेठ आनंदीलालजी पोदार के कनिष्ठतम पुत्र थे। उनका जन्म ३ सितम्बर सन् १९१३ को बम्बई नगर में हुआ था। 'प्रसाद चिन्हानि पुरः फलानि' के अनुसार उनकी गुण-गरिमा बाल्यकाल ही से प्रगट होने लग गई थी।

प्रारम्भिक शिक्षा घर में ही प्राप्त करने के बाद रामबिलास जी बम्बई के मारवाड़ी विद्यालय हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए; वहाँ से उन्होंने मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की। इसके बाद वे सेंट जेवियर्स कालेज में भरती हुए और सन् १९३४ में उन्होंने बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। इसके एक वर्ष पहिले ही कलकत्ते के मान्य व्यवसायी सेठ भूधरमल जी राजगढ़िया की सुपुत्री कुमारी ज्ञानवती से उनका विवाह सम्बन्ध हो गया था। तदनन्तर वे एम० ए०, एल-एल० बी० का अध्ययन करने लगे, पर व्यापार सम्बन्धी उच्चरदायित्व के बढ़ते जाने के कारण उन्हें अध्ययन स्थगित कर देना पड़ा।

मैट्रिक्युलेशन पास करने के बाद से ही रामबिलासजी ने व्यापार की ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया था और बी० ए० पास करने के बाद तो आनन्दीलाल पोदार एण्ड को० की सम्हाल और देख-रेख का अधिकांश कार्य-भार उन पर आ पड़ा। अपने थोड़े से व्यापारिक जीवन में भी उन्होंने बहुत अधिक सफलता प्राप्त कर दिखाई और न केवल फर्म के प्रत्येक विभाग की ही उन्नति की किंतु अनेक नवीन विभाग भी स्थापित किये।

व्यापारोन्नति से अधिक महत्वपूर्ण उनकी समाज-सेवा तथा देशभक्ति थी। अध्ययन-काल में भी वे असहाय छात्रों की हर तरह से मदद किया करते थे। पुस्तकों दिलवा देना, कपड़े बनवाना या फीस आदि दे देना उनके नित्य के कार्य थे। मारवाड़ी युवकों की उन्नति के लिये उन्होंने 'मारवाड़ी

स्पोर्टिंग क्लब' की स्थापना की । वर्मर्ह के प्रसिद्ध 'मेरी मेकर्स क्लब' के भी वे संरक्षक तथा संस्थापकों में थे ।

शिक्षा-संस्थाओं से रामविलासजी को विशेष प्रेम था । 'सेंट जेवियर्स कालेज' के गुजराती इन्स्टीच्यूट की स्थापना में उनका प्रमुख भाग था । 'मारवाड़ी विद्यालय' तथा 'सीताराम पोदार बालिका विद्यालय' के प्रत्येक समारोह में वे बड़े उत्साह से भाग लेते थे । अपने पिता द्वारा स्थापित और संरक्षित संस्थाओं की सुव्यवस्था का उन्हें सदैव ध्यान रहता था । विशेषतः नवलगढ़ के 'सेठ जी० बी० पोदार हाई स्कूल' और सांताकूज स्थित 'सेठ आनंदीलाल पोदार हाई स्कूल' का तो प्रबंध भार बहुत कुछ उन्हीं पर था और उनकी देखरेख में इन संस्थाओं ने उल्लेखनीय उन्नति की ।

रामविलासजी को देश का भी पूरा ध्यान था । अल्पवयस्क होते हुए भी वे आधुनिक युग के उन्नत विचारों से भली भाँति परिचित हो गये थे । उनके विचार पूर्णतया राष्ट्रीय थे, जिनमें समाजवाद की भी कुछ झलक थी । कांग्रेस के प्रति उनकी श्रद्धा असीम थी और देश के महान् आनंदोलनों में उन्होंने बड़े नाजुक मौकों पर सहायता दी थी ।

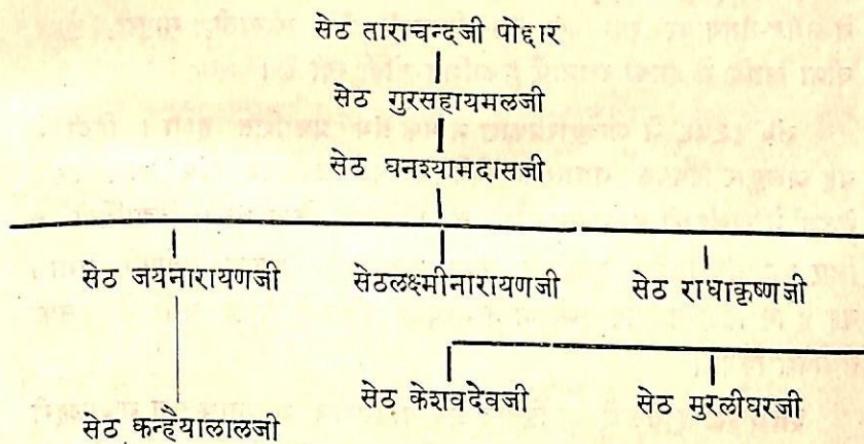
सब से बड़ी बात उनमें यह थी कि अन्य लक्ष्मीपात्रों की तरह वे कभी अर्थ-मदान्ध नहीं हुए । उनमें सहानुभूति, उदारता और स्वार्थत्याग कूट कूट कर भरे थे । उनका सादा गार्हस्थ्य जीवन, कर्तव्यशीलता और निष्कपट व्यवहार अनुकरणीय था । संक्षेपतः रामविलासजी बड़े शिक्षाप्रेमी, विद्वान् और व्यापार-कुशल थे और इनसे भी बड़ कर थी उनमें सदाचारिता, सौजन्य, सहदयता और देशभक्ति । यदि वे जीवित रहते तो निःसंदेह समाज और देश की उनके द्वारा बहुत सेवा होती और वे जाति तथा देश का मुख उज्ज्वल करते, पर शोक है कि ६ जुलाई सन् १९३६ को कराल काल ने अकस्मात् मोटर दुर्घटना के बहाने इस युवकरत्न को केवल २३ वर्ष की अवस्था में अपना ग्रास बना लिया ।

ऐसे होनहार युवक के अकाल देहावसान से उसके कुदम्बीवर्ग, भित्रों तथा उसके सम्पर्क में आनेवाले अन्य व्यक्तियों को कितना शोक हुआ, यह

शब्दों द्वारा प्रगट नहीं किया जा सकता । सबने मिल कर उसकी समृति रक्षार्थ 'श्री रामबिलास पोदार स्मारक समिति' की स्थापना की । इस समिति ने मित्रों तथा प्रेमियों के विशेष आग्रह के कारण रामबिलासजी की जीवनी तथा समृतियों का संग्रह प्रकाशित करने 'का निश्चय किया और देश तथा विदेश के उच्चकोटि के साहित्य को हिन्दी भाषा में प्रकाशित करने के उद्देश्य से 'श्री रामबिलास पोदार स्मारक ग्रंथमाला' की स्थापना की । इस माला में चार सौरभ पुष्प गुफ्ति करने के अनंतर संवत् १९६८ से समिति ने यह कार्य काशी नागरीप्रचारिणी सभा को सौंप दिया । समिति की इच्छा के अनुसार राष्ट्र भारत की अर्चना के लिए सुन्दर सुरभित सुमनों के संचय का जो दायित्व सभा ने लिया है उसकी पूर्ति में आशा है उसे विद्वद्वर्ग का सहयोग सुलभ होगा और इस मालिका की दिवंगतात्मा की गौरवगरिमाके अनुरूप प्रस्तुत करने में उसे सफलता मिलेगी ।

ग्रन्थकार-परिचय

साहित्य-मर्मज्ञ सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार का जन्म सं० १६२८ वि० में मधुरा नगरमें हुआ। इनके पिता का नाम सेठ जयनारायणजी था जो सुप्रसिद्ध ताराचन्द जी पोद्दार के प्रपौत्र थे। निम्नलिखित वंशावली से पाठकों को सब स्पष्ट हो जायगा—



सेठजी के पूर्वजों का निवास-स्थान चूरू (बीकानेर राज्य) में था। इसके पश्चात् वे लोग रामगढ़ (जयपुर राज्यान्तर्गत सीकर ठिकाना) में स्थायी रूप से रहने लगे। सं० १९०० के लगभग सेठ गुरसहायमलजी ने आकर मथुरा में श्री गोविन्ददेवजी का मंदिर बनवाया और उस समय से मथुरा में प्रायः निवास भी करने लगे।

सेठ जयनारायणजी अनन्य भगवद्गत्त के, उनकी दानशीलता ब्रजमंडल में सुप्रसिद्ध है। उनको अंग्रेजी शिक्षा में असत्ति थी, अतः सेठजी को धार्मिक तथा व्यापारिक शिक्षा हिंदी-संस्कृत में ही मिली। सं० १६४० में

पिताजी का देहांत हो जाने पर गृहस्थी और व्यापार का सारा भार इन्हीं पर आ पड़ा। इस समय इनकी अवस्था केवल १२ वर्ष की थी, परन्तु इन्होंने छैर्य न छोड़ा, और व्यापारादि में संलग्न रहते हुए भी वे विद्याध्ययन की ओर प्रयत्नशील रहे। श्रीभद्रागवत, श्री वाल्मीकीय रामायण तथा श्री रामचरित मानस आदि के निरंतर पठन तथा मनन के कारण इनके हृदय में काव्य-संबंधी अभिश्चिं जागृत हो गई और साहित्य-ग्रंथों के अध्ययन का अनुराग बढ़ता गया। सेठजी काव्य-रचना का भी अभ्यास करने लगे।

सं० १६४७ में इनका भर्तृहरि के तीनों शतकों का ब्रजभाषा पद्यानुवाद कालाकांकर (प्रतापगढ़) के प्रसिद्ध दैनिक 'हिन्दोस्तान' में निकला तब से समय-समय पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं जैसे सरस्वती, माधुरी, सुधा, वीणा आदि में इनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रही हैं।

सं० १६५६ में अलङ्कारप्रकाश नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। हिंदी में यह अलङ्कार विषयक गद्यात्मक विवेचन का सर्वप्रथम ग्रंथ था। इसमें सेठजी ने अलंकारों का नवोन शैली से विवेचन किया था। विद्यार्थियों के लिए यह ग्रंथ विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ और इसका सर्वोपरि प्रमाण यह है कि हिंदी-साहित्य सम्मेलन ने मध्यमा परीक्षा के पाठ्य ग्रंथों में इसका समावेश किया।

इसके पश्चात् सेठजी का द्वितीय ग्रंथ पंडितराज जगन्नाथ कृत गङ्गालहरी का तथा तृतीय ग्रंथ श्री श्रीभद्रागवत के दशमस्कंध के ५ अध्यायों का समश्लोकी पद्यानुवाद पंचगीत के नाम से प्रकाशित हुआ।

तदनंतर इनकी प्रसिद्ध रचना 'हिंदी मेघदूत विमर्श' जनता के सामने आई। इसकी विस्तृत भूमिका में लेखक ने मेघदूत संबंधी अनेक विषयों की खोजपूर्ण गवेषणा की है और कालिदास के समय-निरूपण के संबंध में ऐतिहासिक विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त मेघदूत के समश्लोकी पद्य तथा गद्यानुवाद के साथ-साथ उस विषय की ऐतिहासिक, भौगोलिक और साहित्यिक बातों का भी विवेचन किया गया है।

सं० १६८३ में कनामक ग्रंथ आगरा नाड़ु व्यव्यक्तनागरीप्रचारिणी सभा

द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें अलंकारों के साथ रस, ध्वनि, व्यंग्य, गुण, रीति, काव्यदोष आदि सभी काव्याङ्गों का समावेश किया गया है। यह ग्रंथ भी हिंदी-साहित्य-संमेलन की मध्यमा परीक्षा के लिए स्वीकृत हुआ था। यही नहीं बल्कि हिंदी के उद्घट लेखकों जैसे चाठ० जगन्नाथ दास 'भानु' लाला भगवानदीन आदि ने भी अपनी रचनाओं में इसका पर्याप्त उपयोग किया है।

सं० १९९१ तथा ९३ में काव्यकल्पद्रुम का नवीन संस्करण रस-मंजरी और अलंकारमंजरी के नाम से दो भागों में मुद्रित हुआ। इनमें काव्य-साहित्य जैसे जटिल विषय प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथों के धाधार पर सरलतापूर्वक समझाये गये हैं। इन पुस्तकों में केवल विषय-निरूपण ही नहीं है किंतु आचार्यों के विभिन्न मतों का आलोचनात्मक विवेचन भी है। ये दोनों ग्रंथ हिंदी-साहित्य-संमेलन की उच्चमा परीक्षा तथा आगरा एवं कलकत्ता विश्वविद्यालयों की एम० ए० परीक्षाओं में निर्वाचित हैं। अभी हाल में हिंदी-साहित्य-संमेलन ने मध्यमा के परीक्षार्थियों के लिए संक्षिप्त अलंकारमंजरी इनसे लिखवा कर प्रकाशित की है।

सेठजी की नवीनतम कृति 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पाठकों के सामने है ही। यह ग्रंथ कितना विवेचनापूर्ण, गम्भीर तथा उच्चकोटि का है, यह अध्ययन से ही ज्ञात होगा। यहाँ मैं केवल इतना ही कहूँगा कि हिन्दी भाषा में इस कोटि का ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ।

समालोचक के रूप में भी इनका हिन्दी संसार में एक विशिष्ट स्थान है। चाठ० जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के काव्य प्रभाकर^१, लाला भगवानदीन की व्यंग्यार्थ मंजूषा^२, और अलङ्कारमंजूषा^३, पं० रामशंकर शुक्ल (रसाल) के अलङ्कार

१ माधुरी वर्ष ७ खंड १ संख्या १ पृष्ठ ५४-६२ और अलङ्कार मंजरी की भूमिका
माधुरी वर्ष ७ खंड १ संख्या ५ पृष्ठ ३३२-३७

माधुरी वर्ष ६ खंड २ संख्या ३ पृष्ठ ३१३-३१८

३ माधुरी वर्ष ८ खंड २ संख्या ३ पृष्ठ २६०-६५ और अलङ्कार मंजरी की भूमिका
तथा समालोचक त्रैमासिक हेमन्त १६८४ पृ० १५१-६०

पीयूष^१, कविराजा मुरारिदान वृत्त जसवन्तजसोभूषण^२ आदि पर इनके आलोचनात्मक लेख पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं जिनका प्रतिवाद आजतक नहीं निकला।

सेठजी साहित्य-संसार में ही नहीं किन्तु मारवाड़ी समाज में भी एक विशेष स्थान रखते हैं। ये कुल परंपरागत सनातनधर्म के दड़ अनुयायी हैं। मारवाड़ी समाज ने आपकी सामाजिक सेवाओं का समुचित आदर किया है। हाथरस में होनेवाली प्रान्तीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा का सभापतित्व इन्हींने ग्रहण किया था। अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी पंचायत का जो प्रथमाधिवेशन बम्बई में किया गया था उसका सभापति इन्हीं को बनाया गया था। लक्ष्मणगढ़ (जयपुर राज्यान्तर्गत सीकर ठिकाना) में होनेवाले अखिल सनातन-धर्मानुयायी मारवाड़ी युवक-सम्मेलन के भी सभापति सेठजी ही थे। इन अधिवेशनों में दिये गये भाषण इनके धार्मिक तथा सामाजिक विचारों के अच्छे परिचायक हैं।

विद्वान् होने के साथ-साथ सेठजी बड़े मिलनसार, सादगी-पसन्द और विनोद-प्रिय व्यक्ति हैं। एक बार सम्पर्क में आनेवाला भी इनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए विना नहीं रहता। व्यापारादि कार्यों से समय निकाल कर इन्होंने जो साहित्य-सेवा की है, इसके लिए ये वास्तव में बघाई के पात्र हैं।

जबाहिरलाल जैन

१ माधुरी वर्ष ८ खण्ड २ संख्या ५ पृष्ठ ५८६-६२ और अलङ्कार मंजरी की भूमिका

२ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ और काव्यकल्पद्रुम द्वि० सं० पृ० २२४-३२

भूमिका

“वन्दे कवीन्द्र वक्त्रेन्दुलास्यमन्दरनर्तकीम् ।

देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वताम् ॥”

‘साहित्य’ शब्द सहित शब्द से भाव के अर्थ में ‘ध्यज्’ प्रत्यय के संयोग से बनता है । सहित का अर्थ है मेलन—सहित + ध्यज्=मेलनम् । साहित्यस्य भावः साहित्यम् । अर्थात् जिससे एक से अधिक वस्तु मिली हों वह ‘साहित्य’ कहा जाता है । शब्दशक्तिप्रकाशिका आदि ग्रन्थों में साहित्य की जो—‘तुल्यवदेवकक्रियान्वयित्वम् वृद्धिविशेषविषयत्वं साहित्यम्’ इत्यादि परिभाषाएँ दी गई हैं उनसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है । इसी अर्थ को लेकर भाषा-विशेष के समस्त विषयों का ग्रन्थ-समूह उस भाषा का साहित्य कहा जाता है । व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों के ग्रन्थ-समूह के लिये साहित्य शब्द का प्रयोग किया गया है—

साहित्यपाठोनिधिमन्थनोत्थं,

काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।

यत्तास्य दैत्या इव लुण्ठनाय

काव्यार्थचोराः प्रगुणी भवन्ति ॥

—विक्रमाङ्कदेवचरित १११

इसमें संस्कृत के समस्त विषयों के ग्रन्थ-समूह के लिये सामान्य तथा साहित्य शब्द का व्यापक रूप में प्रयोग किया गया है । किन्तु प्राचीन-काल से ही साहित्य शब्द का प्रयोग अधिकतर काव्य के पर्यायवाची विशेष अर्थ में प्रचलित है । जैसे—

‘पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः ।’

—कविराज राजेशोखर काव्यमीमांसा पृ० ४

‘द्याकरणमीमांसात्कर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्पुर्ण शास्त्रेषु पयोगात् ।’

—सुकुल भट्ट, अभिधावृत्तिमात्रिका पृ० २१

‘मीमांसासारमेधात् पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात् ।

साहित्यश्रीमुरारेव्वधकुसुममधोः सौरिपादाव्जभृज्ञात् ॥’

—प्रतिहारेन्दुराज^१

‘विना न साहित्यविदा परत्र गुणाः कथञ्चित्प्रथते कवीनां ।’

— महाकवि मंखक, श्रीकण्ठचरित २।१२

इन वाक्यों में काव्य के लिये ही ‘साहित्य’ शब्द का प्रयोग विभिन्न साहित्याचार्यों द्वारा किया गया है। अन्दृष्टा, अब यह विवेचनीय है कि सभी शास्त्रों के लिये व्यापक रूप में प्रयोग किये जाने वाले ‘साहित्य’ शब्द का ‘काव्य’ के विशेष अर्थ में कव से प्रयोग होने लगा है। ऊपर जिन के बाब्य उद्घृत किये गये हैं, वे साहित्याचार्य या काव्य-लेखक हैं और वे सभी लगभग इसा की दशम शताब्दी में हुए हैं। किन्तु, इनके पूर्व भी काव्य के लिये ‘साहित्य’ का प्रयोग प्राचीन समय में अन्य शास्त्रकारों द्वारा भी किया गया है। भर्तृहरि का समय मि० मेक्समूलर के मतानुसार ६५० ई० है^१। भर्तृहरि महान् वैय्याकरण भी ये इनकी ‘सार’ नामक महाभाष्य की टीका का परिचय कराते हुए व्याकरणाचार्य कैयट अपनी ‘प्रदीप’ टीका में कहते हैं—

‘तथापि हरिवद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना ।

क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तोऽस्मि पड़गुवत् ॥’

ऐसे महान् व्याकरणाचार्य भर्तृहरि ने भी ‘साहित्य’ शब्द का प्रयोग काव्य के लिये किया है—

‘साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।’

बस उपलब्ध ग्रन्थों में इसा के सप्तम शताब्दी के लगभग से काव्य के

^१ देखिवे उद्घृट का काव्यालङ्कारसारसंग्रह की व्याख्या का अन्तिम पद्य ।

^१ देखिथे India what can it teach us P. 347

विशेष अर्थ में साहित्य' शब्द का प्रयोग मिलता है। और इसका कारण यह है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित रूप में प्रयुक्त होते हैं। आचार्य भास्म हने (जो ईसा की सतम शताब्दी के ही लगभग हुआ है) काव्य का लक्षण—

'शब्दार्थौं सहितौ काव्यम् ।'

—काव्यालङ्कार १२६

यह लिखा है। किन्तु प्रश्न होता है कि शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष होने के कारण काव्य के अतिरिक्त अन्य सभी शास्त्रों में भी शब्द और अर्थ सम्मिलित ही रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ में क्या विशेषता है, जिसके कारण काव्य को 'शब्दार्थौं सहितौ' कहा गया? इस प्रश्न का समाधान राजशेखर की दी हुई साहित्य की

'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या ।'

—काव्यमीमांसा पृष्ठ ५

इस परिभाषा द्वारा हो जाता है। इस परिभाषा में 'यथावत् सहभाव' पद द्वारा स्पष्ट है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव समान रूप में तुल्य-कक्ष होना अपेक्षित है, जब कि अन्य शास्त्रों में केवल अर्थ की प्रतीति के लिये ही शब्द का आश्रय लिया जाता है। किन्तु काव्य में शब्द के अनुरूप अर्थ का और अर्थ के अनुरूप शब्द का होना आवश्यक है। जैसा कि राजानक रुद्यक ने कहा है—

'न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते ।

सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात् । साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यून्यातिरिक्तत्वम् ।'

—व्यक्तिविवेक व्याख्या

वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुन्तक ने साहित्य शब्द का विवेचन करते हुए इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। कुन्तक का कहना है—

संस्कृत साहित्य का इतिहास

“वाच्यार्थो वाचकःशब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि ।
तथापि काव्यमार्गऽस्मिन् परमार्थोयमेतयोः ॥
शब्दो विवक्षितार्थेकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहदयालहादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥”

—वक्रोक्तिजीवित १८-९

अर्थात् प्रथम तो अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द और अर्थ में बड़ा भेद है। अन्य शास्त्रों में वर्णनीय अर्थ के किसी भी वाचक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु काव्य में वर्णनीय अर्थ के वाचक अन्य बहुत से शब्दों के होते हुए भी ऐसे ही शब्द का प्रयोग होता है, जो कवि के केवल विवक्षित (ईप्सित) अर्थ का ही वाचक होता है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों में अर्थ भी केवल विषय-प्रतिपादक मात्र होता है, किंतु काव्य में जो अर्थ होता है वह भी काव्य-मर्मज्ञ सहृदयजनों के चित्त को एक बार ही आल्हाद से परिष्कृत करने वाला होता है। किर काव्य में शब्द और अर्थ का परस्पर सहित भाव (साहित्य) भी अन्य शास्त्रों की अपेक्षा विलक्षण होता है, वस काव्य के लिये ‘साहित्य’ शब्द का प्रयोग किये जाने में यही विशेषता है। कहा है—

‘साहित्यमनयोः शोभा शालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥’

—वक्रोक्तिजीवित १९-७

अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की अन्यूनानतिरिक्त परस्पर में स्पर्धापूर्वक मनोहारिणी श्लाघनीय स्थिति हो वह साहित्य है। साहित्य में वाचक (शब्द) की वाचकान्तर के साथ और ‘वाच्य (अर्थ) की वाच्यान्तर के साथ परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष या उत्कर्ष न होकर समान रूप में स्थिति होना आवश्यक है। शब्द और अर्थ की ऐसी समान स्थिति अन्य शास्त्रों में न रहकर काव्य में ही रहती है। जैसे—

“द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतः
त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥”

—कुमारसम्भव ५।७।

इस पद्य में भगवान् शङ्कर के साथ विवाह के लिसे तपश्चर्या करती हुई पार्वतीजी के प्रति प्रेम-परीक्षा लेने को ब्रह्मचारी का छङ्गवेश धारण करके गये हुए स्वयं श्री शङ्कर की उक्ति है—हे पार्वती, तेरे द्वारा कपाली (महादेव) के समागम की प्रार्थना किये जाने के कारण अब दो व्यक्ति शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गये हैं । एक तो कलाधारी चन्द्रमा की वह कान्तिमती कला और दूसरी तू जो अखिल विश्व के नेत्रों को आल्हादकारिणी है ।

भगवान् शङ्कर के नाम-वाचक सहस्रों शब्दों के होते हुए भी यहाँ ‘कपाली’ (नरकपालों की माला धारण करनेवाला) शब्द का प्रयोग ही कवि के विवक्षित अर्थ का (जो शङ्कर को अस्त्यन्त घृणास्पद और निंद्य सूचन करना है उस अर्थ का) वाचक है । यदि ‘कपाली’ के स्थान पर यहाँ ‘पिनाकी’ आदि शङ्कर के नामवाचक किसी अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता तो वह कवि के इस विवक्षित अर्थ का वाचक नहीं हो सकता था । प्रत्युत ‘पिनाकी’ (धनुष धारण करनेवाला) आदि शब्द द्वारा शङ्कर का वीरत्व आदि सूचन होता जो कि शङ्कर की निन्दा के प्रसङ्ग-विरुद्ध है । किर यहाँ ‘सम्प्रति’ और ‘द्वयं’ वह दोनों शब्द भी कवि के इस विवक्षित अर्थ के वाचक होने के कारण इनका प्रयोग भी बहुत उपयुक्त हुआ है अर्थात् अब से पहिले कपाली के संसर्ग में रहने के कारण एक चन्द्रकला ही लोक में शोचनीय हो रही थी पर ‘सम्प्रति’—अब—‘कपाली’ जैसे घृणास्पद व्यक्ति के समागम की प्रार्थना करने-वाली दूसरी तू भी उसी शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई है । यहाँ ‘प्रार्थनया’ शब्द भी अपना एक महत्व रखता है । अर्थात् तेरी यह शोचनीय दशा

संस्कृत साहित्य का इति हास

काकतालीय घटना द्वारा अकस्मात् नहीं हो गई है, किन्तु तू तो समझ बूँदकर ऐसे अमज्जल और धृणास्पद व्यक्ति की प्राप्ति के लिये घोर तपश्रीर्या द्वारा प्रार्थना कर रही है। इन शब्दों के अतिरिक्त यहाँ 'कलावतः' 'कान्तिमती' और 'लोकस्य च नेत्रकौमुदी' यह विशेषणात्मक शब्द भी क्रमशः चन्द्रकला और पार्वतीजी के अलौकिक सौन्दर्य के उत्कर्षक और कपाली के साथ उनके सम्बन्ध की अयोग्यता-सूचक होने के कारण शोचनीय अवस्था की परिपुष्टि कर रहे हैं। अतः यहाँ एक शब्द दूसरे शब्द के साथ स्पद्धांपूर्वक समान रूप में चमत्कारक है। यह प्रधानतया शब्द-सौन्दर्य विन्यास के परस्पर साहित्य का दिक्दर्शन है। अब देखिये, परस्पर वाच्य (अर्थ) के रमणीय-साहित्य का भी एक उदाहरण—

'तामभ्यगच्छुदितानुसारी
 मुनिः कुरोध्माहरणाय यातः ।
 निषादविद्वाण्डजदर्शनोत्थः
 श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।'

--रघुवंश १४।७०

इसमें भगवान् श्री रामचन्द्र की आज्ञा वश सीताजी को लक्ष्मणजी द्वारा वन में छोड़ जाने के बाद का वर्णन है कि—कुश और समिधा लेने को जाते हुए कवि (महर्षि वाल्मीकि) सीताजी के रुदन का अनुसरण करते हुए उनके (सीताजी के) सन्मुख प्राप्त हुए। कौन से कवि—वही कवि जिनका वह शोक—जो व्याध द्वारा विद्ध किये गये क्रौञ्च पक्षी को देखने से उत्पन्न हुआ था—इलोक में पराणित हो गया था।

यहाँ 'कवि' शब्द द्वारा निर्देश किये हुए मुनि का परिचय 'वाल्मीकि' कह देने मात्र से दिया जा सकता था। किन्तु यहाँ पद्य के उत्तरार्द्ध में महर्षि वाल्मीकिजी का परिचय पूर्वानुभूत क्रौञ्च पक्षी के वृत्तान्त द्वारा देकर कविशेखर कालिदास ने यह सूचित किया है कि जिन परम कारुणिक मुनि के अन्तःकरण

भूमिका

का, वह शोकोद्गार जो एक पक्षी की शोचनीय दशा देखने पर उत्पन्न हुआ था, इलोक रूप में बलात् मुख से निकल पड़ा था, उनके अन्तःकरण की वह करुणाप्लावित विवश दशा, जो निर्जन वन में परिस्यक्ता जनकराज-पुत्री साकेताधिपति महाराजाधिराज श्री रामचन्द्र को प्राणप्रिया गर्भिणी सीताजी की तादृश अत्यन्त शोचनीय अवस्था को देखने पर हुई, किस प्रकार कथन की जा सकती है—अनिर्वचनीय है।

इस पद्य के पूर्वार्द्ध का अर्थ जिस प्रकार करुण रस परिपूर्ण है उसी प्रकार उच्चरार्द्ध का अर्थ करुण रस का परिपोषक होने के कारण दोनों अर्थ स्पर्द्ध-पूर्वक सहृदय-जनों के हृदय के आलहादक हैं।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में जिस प्रकार वाचक के साथ वाचकान्तर की तथा वाच्य के साथ वाच्यान्तर की समान रूप में सौन्दर्य-स्थिति है, उसी प्रकार वाचकों (शब्दों) की वाच्यों के (अर्थों) के साथ भी तुल्य-कक्षता है—वर्णनीय विषय के अनुकूल पदावली है। शब्द और अर्थ की परस्पर तुल्य-कक्षता का एक उदाहरण और भी देखिये—

“ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।
दध्ने कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥”†

अरुणोदय के प्रारम्भ समय में अस्तायमान निष्प्रभ चन्द्रमा को यहाँ काम-रीढ़ा से क्षीण-काय होनेवाली कामिनी के कपोलों की पाण्डुता धारण करनेवाला कहा गया है। अतः जिस प्रकार यहाँ निर्दर्शन अलङ्कार की स्थिति द्वारा अर्थ की चमत्कृति है उसी प्रकार स्पन्द, मन्द आदि में वर्णों की साम्यता के कारण वृत्त्यानुप्राप्त है उसके द्वारा शब्द की चमत्कृति भी है। यहाँ अर्थ

† इस पद्य को सुभाषितावली संख्या २१५३ में श्री वाल्मीकिजी का और काव्यप्रकाश की वामनाचार्य की टीका में पृ० ५६६ में महाभारत के द्रोणपर्व का कमलाकर भट्ट के अनुसार बताया गया है किन्तु यह वाल्मीकि रामायण और महाभारत दोनों ही में नहीं मिलता है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

और शब्द परस्पर स्पर्द्धापूर्वक शोभायमान हैं। इसके विपरीत जहाँ शब्द या अर्थ का समान-रूप में सह-भाव (साहित्य) नहीं होता है वह वर्णन साहित्य या सत्काव्य पद के अधिकार से च्युत भी हो जाता है। इसका भी एक उदाहरण देखिये—

‘कल्पोलवेल्लितद्वप्तप्रहारौ

रत्नान्यमूर्मि भकराकर मा वर्मस्था ।

किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम

याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ।’

—भल्लुट शतक

इस पद्य में अन्योक्ति रूप में समुद्र को उपालम्भ दिया गया है कि हे भकराकर, तू अपनी उच्चुङ्ग तरङ्गावली से सञ्चालित पाषाणों के भयङ्कर प्रहार से इन रत्नों का तिरस्कार न कर। देख, कौस्तुभ रत्न ने तेरा कैसा यश प्रसिद्ध कर दिया है—जिसके लिये स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण ने हाथ पसार कर तेरे से याचना की थी।

यद्यपि अन्य शास्त्रों के समान शब्दों द्वारा यहाँ अर्थ की प्रतीति अवश्य हो जाती है। किन्तु काव्योपयोगी यहाँ शब्द-प्रयोग समान रूप से नहीं हो पाया है। यहाँ सामान्य रूप में रत्नों की अवहेलना करने का समुद्र को उपालम्भ देकर कवि का ईप्सित तात्पर्य यह है कि उन रत्नों में के एक रत्न ने ही तेरा कितना उपकार किया है। किन्तु उत्तरार्द्ध में सामान्य रूप में रत्नों का महत्व न बतला कर एक विशेष रत्न ‘कौस्तुभ’ का प्रयोग किया है जिसके द्वारा सामान्यतया सभी रत्नों का महत्व-सूचन नहीं हो सका है—केवल कौस्तुभ की ही प्रशंसा सूचित होती है। इस कथन से कवि के दिये हुए उपालम्भात्मक अर्थ की पुष्टि नहीं हो सकी है—कौस्तुभ के सिवा अन्य रत्न ऐसे महत्वपूर्ण न होने के कारण उनका तिरस्कार समुद्र द्वारा किया जाना अनुचित नहीं हो सकता। यदि तीसरे पाद में—‘किं कौस्तुभेन विहितो’ के स्थान पर—‘एकेन

किन्त्र विहितो'—ऐसा प्रयोग किया जाता तो कवि के विवक्षित अर्थ (उपालम्भ) का पुष्टि हो जाने से अर्थ के अनुरूप शब्दन्यास हो सकता था । क्योंकि उनका अर्थ वह होता कि 'जिनको तू अवहेलना कर रहा है उनमें के एक रक्त ही ने तेरा दिगन्त-व्यापी यश प्रसिद्ध कर दिया ।'

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ का तुल्य-कक्ष सहभाव काव्य में ही होता है और इसलिये साहित्य शब्द का वास्तविक प्रयोग काव्य के लिये ही उपयुक्त और समुचित है । अस्तु । वर्तमान काल में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्यग्रन्थों के लिये ही रुढ़ हो रहा है ।

काव्य या साहित्य क्या है । इस विषय पर संस्कृत के मुप्रसिद्ध आचार्यों ने अनेक रीति-ग्रन्थ लिखे हैं । उनमें काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी अत्यन्त गवेषणा-पूर्ण गम्भीर विवेचन किया गया है । क्योंकि काव्य के रहस्य से अभिज्ञ होने के लिये एवं उसके आनन्दानुभव के लिये काव्य-सम्बन्धी 'रीति' ग्रन्थ ही एक मात्र साधन हैं । केवल व्याकरण आदि शास्त्रों के जो विद्वान् हैं वे 'कर्णावतंस' और 'जघनकांची' आदि प्रयोगों के साहित्यिक रहस्यों को नहीं समझ सकते—साहित्य के अध्ययनशील विद्वान् ही यह जान सकते हैं कि इन शब्दों के प्रयोग में कौनसा निर्दोष है और कौनसा सदोषः । रघुवंश आदि महाकाव्यों में किस-किस शब्द, पद अथवा वाक्य का प्रयोग स्थल विशेष पर क्यों किया गया है, और उन प्रयोगों में क्या विशेषता है—उन प्रयोगों के व्यङ्ग्यात्मक या अलङ्कारात्मक रचनाओं में क्या चमत्कार है उसका दिक्दर्शन ऊपर कराया ही गया है । इस रहस्य को साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ही समझ सकते हैं । व्याकरण आदि शास्त्रों के ज्ञान से शब्दार्थ मात्र का ही बोध हो सकता है, न कि महाकवियों के रचना-रहस्य का । आलङ्कारिकों के शिरोभूषण महान् साहित्याचार्य ध्वनिकार ने कहा है—

* 'कर्णावतंस' का प्रयोग निर्दोष और 'जघनकांची' के प्रयोग में दोष है ।

‘शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम् ॥’

—ध्वन्यालोक १७

अतएव संस्कृत-साहित्य के इतिहास में हमारे विचार में सर्व प्रथम काव्य-रीति ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवेचन किया जाना ही उपयुक्त है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में काव्य-शास्त्र के सुप्रसिद्ध रीति ग्रन्थों के + एवं उनके प्रणेताओं से परिचय तथा काल-निर्णय के सन्बन्ध में ऐतिहासिक निरूपण किया गया है ।

द्वितीय भाग में काव्य-ग्रन्थों के विषय, काव्य का प्रयोजन (फल), काव्य का हेतु एवं काव्य के लक्षण आदि पर विभिन्न आचार्यों के मतों का मनोवैज्ञानिक आलोचनात्मक विवरण और काव्य के सिद्धान्त, रस, अलङ्कार, रीति, वकोक्ति और ध्वनि का स्पष्टीकरण तथा इन पांचों सिद्धान्तों की प्रचलित पाँचों सम्प्रदायों (schools) के प्रवर्तक प्रधान प्रतिनिधि साहित्याचार्यों के विभिन्न मतों के स्पष्टीकरण में यह विवेचन किया गया है कि किस-किस आचार्य ने रस आदि काव्य के मुख्य तत्त्वों में किस-किस तत्त्व को प्रधानता दी है । और उनके परस्पर विभिन्न मतों की आलोचना में उनका रहस्य उद्घाटन करने की भी यथासाध्य चेष्टा की गई है ।

ऐसे महान् साहित्याचार्यों के मतों पर आलोचनात्मक विवेचन करने का यह अल्पज्ञ स्वयं अपने को अनधिकारी समझता है । फिर भी आशा है सहृदय विद्वान्—‘ननु वक्तुविशेषनिष्पृहा गुणगृह्या वचने विपर्चितः’ इस महाकवि भारवि की उक्ति के अनुसार इस ग्रन्थ की उपेक्षा न करेंगे । अलङ्कार-सम्प्रदाय के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के विशेष समूहों के

+ जिनके अध्ययन से काव्य का स्वरूप एवं रहस्य तथा काव्य के रस, ध्वनि, अलंकार आदि भेदों का ज्ञान एवं दोष, गुण के विवेचन की शक्ति उत्पन्न हो उन ग्रन्थों को रीति ग्रन्थ कहते हैं ।

भूमिका

समय तक कालक्रमानुसार किस-किस नाम के कितने अलङ्कार आविष्कृत हुए हैं उनकी विवरण तालिकाएँ भी दी गई हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य का क्रम विकास किस-किस समय किस-किस साहित्याचार्य द्वारा किस प्रकार हुआ है, उस विषय पर भी प्रसङ्गानुसार दोनों ही भागों में प्रकाश ढाला गया है।

आगे के भागों में महाकवियों और उनके काव्य-नाटक आदि ग्रन्थों के विषय में विवेचन किया जायगा।

खेद है कि भारतवर्ष के प्रत्येक शास्त्रकारों का इतिहास घोर तमसाञ्छन्न है। इसका कारण यह है कि भारतीय प्राचीन शास्त्रकारों का लक्ष्य केवल सिद्धान्तों को सुरक्षित रखना और जन-सुदाय का उपकार करना मात्र ही रहा है—वे महानुभाव ग्रन्थ-रचना द्वारा अपनों प्रसिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक नहीं थे; यही कारण है कि उन्होंने अपने विषय में स्वयं कुछ भी उल्लेख नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय इतिहास का कार्य एक बड़ी विकट समस्या हो रही है। ऐसी परिस्थिति में इस विषय पर इस अव्यज्ञ का लेखनी उठाना यथार्थ में महाकवि कालिदास के शब्दों में—‘प्रांशुलभ्ये फले लोभा-दुद्धाद्विव वामनः’ दुःसाहस मात्र है। किन्तु प्रस्तुत विषय पर हिन्दी भाषा में स्वतन्त्र और आलोचनात्मक कोई ग्रन्थ न होने के कारण यह दुःसाहस करना पड़ा। इसके सिवा इस कार्य में प्रवृत्त होने का एक कारण यह भी है कि पाश्चात्य लेखकों ने संस्कृत-साहित्य के विषय में बड़ो निरंकुश लेखनी चलाई है। वाल्मीकीय रामायण और महाभारत आदि आर्ष ग्रन्थों के समय के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने लिखा है वह सर्वथा भ्रममूलक है। इन आर्ष ग्रन्थों का समय कुछ लेखकों ने इसा की दो-चार शताब्दी के पूर्व और कुछ लेखकों ने तो इसा के बाद तक भी निर्धारित कर दिया है। इसका कारण केवल उनका अपूर्ण अन्वेषण या उनकी भ्रमात्मक कल्पना मात्र ही नहीं, किन्तु उनको हमारी भारतीय संस्कृति को प्राचीनतम बतलाना भी अभीष्ट नहीं है। खेद का विषय तो यह है कि पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर भारतीय

संस्कृत साहित्य का इतिहास

लेखकों ने भी उन्हीं पाश्चात्य लेखकों का अनुसरण किया है। किन्तु हमने महाकवि कालिदास के—‘सन्तः परीक्षान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः’ इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्व लेखकों का अन्धानुसरण न करके प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वतन्त्र विवेचन किया है। और इस विषय पर भी प्रकाश डाला जाना आवश्यक समझा है कि उन विद्वान् लेखकों ने कैसे निर्मूल आधारों पर अपने कल्पना-जाल की विशाल अद्वालिका निर्माण की है।

ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रायः एक ग्रन्थ की दूसरे ग्रन्थ के साथ कुछ न कुछ साझश्य का होना अनिवार्य है। अतएव ऐसे ग्रन्थों में विवेचना-शैली और आलोचनात्मक स्वतन्त्र विचारों को शृङ्खला यादि ही मौलिकता की कसौटी है। वह प्रस्तुत ग्रन्थ में है या नहीं और लेखक को इस कार्य में कहाँ तक सफलता प्राप्त हो सकी है, इसका निर्णय साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ही कर सकते हैं।

अवश्य ही इस ग्रन्थ में विद्वान् इतिहासज्ञ एवं काव्य-मर्मज्ञों को बहुत कुछ त्रुटियाँ दृष्टिगत होना सम्भव है। इसके लिये सहदय महानुभावों की सेवा में यही निवेदन है—

‘यदि भवति मदीयग्रन्थमध्ये प्रमादः

क्वचिदपि स महिन्ना शोधनीयो महद्भिः।

स्वलिति गगनचारी प्रायशो नात्र चित्रं

भवति च गुरुहस्तालम्बनोऽपि प्रकारः।’

मथुरा,
अक्षय तृतीया
१६६५

}

विनयावनत
कन्हैयालाल पोद्दार

विषयानुक्रमणिका

भाग १

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
वैदिक काल	३—६	भामह और उद्दट	८२
वाल्मीकीय रामायण	६	भामह और वामन	८२
वाल्मीकि रामायण का समय	६	भामह और दंडी	८३
महामुनि श्री भरत का नाथ्यशास्त्र	१६	भामह और वाण	८७
नाथ्य शास्त्र में वर्णित विषय	२१	भामह और धर्मकीर्ति तथा न्यासकार	८८
नाथ्य शास्त्र का लेखक	२२	भामह और भास एवं कालिदास मेधावि आदि	८९
नाथ्य शास्त्र का समय	२७	दंडी और उसका काव्यादर्श	९०
पौराणिक काल	३६	दंडी द्वारा प्रणीत ग्रंथ	९५
महाभारत	४०	दंडी का समय	९६
महाभारत का लेखक	४१	उद्दट और उसका काव्यालंकार- सार संग्रह	१०१
महाभारत का निर्माण काल	४८	उद्दट का परिचय	१०३
अग्नि पुराण	५३	उद्दट का समय	१०४
मेधाविन्	७२	वामन और उसका काव्यालंकार- सूत्र	१०६
भट्टि	७३	वामन का समय	१०८
भट्टि और भामह	७३	रुद्रट और उसका काव्या- लंकार	१११
भट्टि का समय	७६		
भामह और उसका काव्या- लंकार	७६		
भामह का समय	८२		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
सद्रट का परिचय और समय	११२	महाराज भोज का सरस्वती-	
सद्रट और सद्रभट्ट	११५	कंठाभरण और शुंगार-	
धनिकार एवं श्री धानन्द-		प्रकाश	१५०
वर्धनाचार्य और उनका		महाराज भोज का परिचय	
धन्यालोक	११८	और समय	१५३
धन्यालोक के लेखक	११९	महाकवि क्षेमेन्द्र का कविकंठा-	
धन्यालोक का समय	१२८	भरण तथा औचित्य विचार-	
श्री धानन्द वर्धनाचार्य का		चर्चा	१५५
परिचय और समय	१२८	आचार्य मम्मट और उसका	
मुकुलभट्ट और अभिधावृत्ति-		काव्य-प्रकाश	१५७
मात्रिका	१३०	काव्य प्रकाश का विषय	१५७
राजशेखर और उसकी काव्य-		मम्मट द्वारा पूर्वाचार्यों की	
मीमांसा	१३१	आलोचनायें	१५८
राजशेखर का परिचय	१३४	काव्य-प्रकाश का लेखक	१६३
राजशेखर का समय	१३७	मम्मट का परिचय और	
धनञ्जय तथा धनिक का दश-		समय	१६६
रूपक	१३८	रुद्यक और उसका अलङ्कार-	
अभिनव गुप्त पादाचार्य, भट्ट		सर्वस्व अथवा अलङ्कार सूत्र	१७१
तौत और भट्टेन्दु राज	१३९	अलङ्कार सर्वस्व का लेखक	१७२
राजानक कुन्तल अथवा		रुद्यक और मम्मट	१७७
कुन्तक और उसका वक्रोक्ति-		वाग्भट प्रथम और उसका	
जीवित	१४२	वाग्भटालंकार	१८१
कुन्तल का समय	१४५	हेमचन्द्र जैनाचार्य और उसका	
महिम भट्ट और उसका व्यक्ति		काव्यानुशासन	१८२
विवेक	१४६	पीयूष वर्ष जयदेव और	
महिम का परिचय और समय	१४६	उसका चन्द्रालोक	१८४

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
भानुदत्त और उसकी रस- तरज्जिणी तथा रसमंजरी	१८६	केशव मिश्र और उसका	
विद्याधर और उसकी एकावली	१८७	अलङ्कार शेखर	१९६
विद्यानाथ और उसका प्रताप		शोभाकर और उसका	
रुद्रयशोभूषण	१८८	अलङ्कार रत्नाकर	१९८
बागभट द्वितीय का काव्या- नुशासन	१९०	यशस्क का अलङ्कारोदाहरण	१९९
विश्वनाथ और उसका साहित्य- दर्पण	१९१	अप्पय दीक्षित और उसके	
विश्वनाथ का परिचय और समय	१९३	कुबल्यानन्द आदिक ग्रंथ	१९९
श्री रूप गोस्वामी जी का उच्चल नील मणि	१९५	पंडित राज जगन्नाथ और उसका रसगंगाधर	२०३
		पंडितराज का समय और परिचय	२०६
		कवि राजा मुरारि दान और सुव्रह्मण्य शास्त्री का यशवन्त	
		यशोभूषण	२०९
		निष्कर्ष	२१२

विषयानुक्रमणिका

भाग २

विषय		पृष्ठ
विषय प्रवेश		?
साहित्य ग्रंथों के विषय	३	
काव्य का प्रयोजन	४	
काव्य हेतु	१०	
काव्य का लक्षण	१५	
काव्य और कवि शब्द का अर्थ	१५	
भरत मुनि के नाम्न शास्त्र का		
काव्य लक्षण	१७	
अमि पुराण का काव्य लक्षण	१७	
भास्मह का	१८	
दंडी का	१८	
वामन का	१९	
संद्रेष्ट का	२१	
ध्वनिकार का मत	२१	
कुन्तक का काव्य लक्षण	२१	
महाराज भोज का लक्षण	२२	
मम्मट का लक्षण	२२	
हेमचंद्र विद्याधर का लक्षण	२२	
वाग्भट्ट का काव्य लक्षण	२३	
जयदेव	२३	
विषय		पृष्ठ
विश्वनाथ का काव्य लक्षण	२३	
पंडितराज का,,	२४	
काव्य के लक्षणपर समालोचना		
नाएँ	२४	
काव्य प्रकाशोक्त लक्षण का स्पष्टीकरण	२६	
काव्य प्रकाशोक्त लक्षणपर आलोचनाएँ	२७	
जयदेव और विश्वनाथ के आक्षेपों का खंडन	२८	
विश्वनाथ के काव्यलक्षण की आलोचना	३५	
पंडित राजका आक्षेप और समाधान	३७	
काव्य के संप्रदाय (स्कूल)	३८	
रस संप्रदाय	३९	
रस संप्रदाय के आचार्य	४०	
रस शब्दका अर्थ	४०	
रस की निष्पत्ति	४१	
स्थायी भाव	४२	

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
विभाव	४२	अलंकार संप्रदाय (स्कूल)	७३
अनुभाव	४३	अलंकार क्या पदार्थ है	७५
व्यभिचारी भाव	४३	काव्य में अलङ्कारका स्थान	७७
भरत सूत्र के व्याख्याकारों के विभिन्न मत	४४	भरतमुनि का मत	७८
भट्ट लोलट्ट का आरोपवाद	४४	अग्निपुराण का मत	७८
श्री शंकुका अनुमानवाद	४४	भासह का मत	७९
भट्ट नायक का भुक्तिवाद	४४	दंडी का मत	७६
अभिनव गुप्ताचार्य का व्यक्ति- वाद और उसका मम्मट द्वारा स्पष्टीकरण	४८	उद्धट का मत	८०
भट्ट नायक और अभिनव गुप्त पादाचार्य	५०	वामन का मत	८०
रस का आस्वाद	५०	रुद्रट का मत	८१
रस कार्य और ज्ञाप्य नहीं	५१	ध्वनिकारों का मत	८१
पंडितराज का मत	५४	महाराज भोज का मत	८२
विश्वनाथ का मत	५४	मम्मट का मत	८३
पूर्वोक्त व्याख्याओं का निष्कर्ष	५५	मम्मट के मत का प्रदीपकार और उद्योतकार द्वारा स्पष्टी- करण और उनकी आलोचना	८३
विभावादि प्रत्येक स्वतंत्र रस व्यंजक नहीं	५७	गुण और अलङ्कार विषयक मम्मट का मत	८४
स्थायी और व्यभिचारी का भेद	६०	मम्मट द्वारा वामन के मत का संदर्भ	८४
रस वाच्य नहीं व्यङ्ग्य है	६२	रुद्यक का मत	८८
रसों की संख्या	६२	जयदेव का मत	८८
भक्ति रस	६५	विश्वनाथ का मत	८९
शांत रस और नाष्ट्य	७१	पंडितराज का मत	८९
करुण और वीभत्समें रसत्व क्यों माना गया	७२	अलंकार विवरण तालिका ^ए बाद के लेखकों द्वारा नवा-	९१
		विष्णुत अलङ्कार	९७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अलङ्कारों का क्रम विकास	१०१	महाकवियों द्वारा वक्रोक्ति का प्रयोग	१२७
अलङ्कारों का वर्गीकरण	१०३	अग्निपुराण और महाराज भोज का मत	१२८
रीति संप्रदाय (स्कूल)	१०७	वामन का मत	१२९
गुणों का महत्व	१०७	वक्रोक्ति और कुन्तक	१३१
गुणों का लक्षण	१०९	कुन्तक के मत का खंडन	१३२
वामन का मत	१०६	ध्वनि संप्रदाय (स्कूल)	१३५
गुणों की संख्या	११०	ध्वनि क्या पदार्थ है	१३५
वामन के मत का खंडन	११२	व्यञ्जना का शब्दार्थ	१३८
काव्य में गुण क्या पदार्थ है	११३	ध्वनिकी व्यापकता	१३९
मम्मट के मतपर विश्वनाथ की आलोचना और उसका खंडन	११७	ध्वनिके भेद	१४०
रीति	११६	असंलक्ष्य क्रम व्यंग्यध्वनि	१४०
रीतियों की संख्या	११६	संलक्ष्य क्रमव्यंग्य ध्वनि	१४२
रीतियों के नाम	१२०	ध्वनि सिद्धांत और मम्मट	१४५
वामन के रीति सिद्धांत का खंडन	१२१	ध्वनि सिद्धांत के विरोधियों का खंडन	१४६
वक्रोक्ति संप्रदाय (स्कूल)	१२४	भट्ट नायक के मत का खंडन	१४६
भामह का मत	११४	महिमभट्टके मतका खंडन	१४८
दंडी का मत	१२५	काव्य दोष	
ध्वनिकारों का मत	१२६	काव्य के विभाग	

संस्कृत साहित्य का इतिहास और उसका विकास क्रम

(प्रथम भाग)

साक्षी तु मिथुन

मृत्यु

(१८८४)

संस्कृत साहित्य का इतिहास
और

उसका विकास क्रम

(प्रथम भाग)

त्रिलोक अस्ति तदा
त्रिलोक अस्ति तदा

॥ श्रीहरिःशरणम् ॥

संख्यकृत साहित्य का इतिहास

[प्रथम भाग]

‘दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह वन्द्या न ते कवयः ॥’

—खट्ट

काव्य की सर्व प्रथम उत्पत्ति कवि और किसके द्वारा हुई और इसका क्रम-
विकास किन-किन सुप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा किस-किस समय में उनके निरूपित
सिद्धान्तों द्वारा किस प्रकार हुआ, इसपर विवेचन करने के लिये प्रथम काल-
सीमा का विभाग निर्दिष्ट किया जाना उपयुक्त होगा । हमारे विचार में वह काल-
विभाग इस प्रकार किया जा सकता है—

- (१) वैदिक-काल ।
- (२) वैदिक-काल के बाद और पौराणिक काल के प्रथम मध्यवर्ती काल ।
- (३) पौराणिक अर्थात् महाभारत काल ।
- (४) पौराणिक काल के पश्चात् ईसवी सन् के प्रारम्भ से लगभग १२०० ई०
तक ।
- (५) ईसवी सन् १२०० के पश्चात् लगभग ३० सन् १८०० तक ।

वैदिक-काल

वैदिक-काल को हम अन्य लेखकों के समान कोई निर्दिष्ट काल नहीं कह

१ स्वर्गामी हो जाने पर भी जिनकी अनल्प गुणगणशालिनी काव्यरूप
वाणी प्रलय काल तक जगत् को रक्षन करती रहती है, वे महानुभाव कविगण
क्यों नहीं वन्दनीय हैं ?

सकते । यह विषय स्वतन्त्र विवेचनीय है, क्योंकि यह विषय अत्यन्त जटिल और विवादास्पद होने के कारण संक्षेप में नहीं कहा जा सकता । यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि उस काल को हम अनादि और अज्ञात मानते हैं । यहाँ वैदिक-काल का उल्लेख केवल इसलिये किया गया है कि वेद ही काव्य का उद्भव स्थान है, यों तो वेद सभी विद्याओं के मूल-श्रोत हैं । व्याकरण, छन्द और ज्योतिष आदि वेद के अङ्ग ही माने गये हैं । श्री यास्क का 'निरुक्त' जो भाषा-विज्ञान का सर्वप्रथम ग्रन्थ है, वह वेद के अङ्गों में ही माना जाता है । धनुर्वेद और आयुर्वेद तो वेद संज्ञा से ही प्रसिद्ध हैं । इसी प्रकार नाट्य और काव्य की भी पंचम वेद संज्ञा है । श्री भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के प्रारम्भ में स्पष्ट उल्लेख है—

‘सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्त्तकम् ।
नाट्यार्थं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्’ ॥
संकल्प्य भगवानेवं सर्वान्वेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्वक्रे चतुर्वेदाङ्गं सम्भवम् ॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामध्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि’ ॥

—नाट्यशास्त्र १। १५, १६, १७

अर्थात् श्री ब्रह्माजी ने कठक, साम, यजु और अथर्व वेद से क्रमशः पाठ्य, गीत, अपिनय और रसों का ग्रहण करके नाट्य-वेद का निर्माण किया है । और महाभारत को जिसे श्री ब्रह्माजी और भगवान् वेदव्यास द्वारा महाकाव्य की संज्ञा दी गई है (जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा) पाँचवाँ वेद कहा गया है । केवल यही नहीं, वेदों का परोक्षवादात्मक होना प्रसिद्ध है । परोक्षवादात्मक सूतों में जिस प्रकार की अभिव्यक्तिना दृष्टिगोचर होती है, उसे हम व्यंग्यात्मक शैली निर्विवाद कह सकते हैं । एक उदाहरण देखिये—

‘अजामेकां लोहितकृष्णशुक्रां वह्नीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनु शेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।५

इस वेद मन्त्र में जो रूपकातिशयोक्ति है, उसमें प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध की अभिव्यजना है, वही मुख्य है, अतः यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यंग्य है। अतएव स्पष्ट है कि इस परोक्षवादात्मक शैली पर ही कान्य का मुख्य तत्त्व ध्वनि-सिद्धान्त निर्भर है। इसके सिवा अलङ्कार-शैली की रचना भी वेदों में पर्याप्त है, कुछ उदाहरण देखिये—

‘तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चकुराततं’ ।

—ऋक्-वेद ११२२१२०

‘आनो वर्हीरिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा । सीदन्तु मनुषो यथा’ ।

—ऋक् ११२६३३

‘वाश्रेव विद्यन्मिमाति त्रस्तं न माता सिषक्ति । यदेषां वृष्टिरसर्जि’ ।

—ऋक् ११३८८

‘सिंहाइव मानदन्ति प्रचेतसः पिशाइव सुधिशः विश्ववेदसः’ ।

—ऋक् ११६४८

‘अवोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति वेनुमिवायतीमुवासम् ।

यहाइव प्रवयामुजिहानाः प्रमानवः सस्तेनाकमच्छ्’ ।

—सामवेद प्रथमाध्याय अष्टमी दशति ।

‘त्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि वर्धनम् ।

उर्वारुकमिव वन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्’ ।

—यजुर्वेद ३।६०

‘अयमुते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।

वचस्तच्चिन्न ओहसे’ ।

—अथर्व वेद काण्ड २०

इन वेद मन्त्रों में उपमा अलङ्कार है। उपमा के अतिरिक्त अन्य अलङ्कार भी वेदों में दृष्टिगत होते हैं—

‘आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु’ ।

—कठोपनिषत् अ० प्रथम, तृतीय वल्ली

संस्कृत साहित्य का इतिहास

इसमें 'रूपक' अलङ्कार है। और देखिये—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषम्ब जाते ।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' ॥

—मुण्डकोपनिषत्, तृतीय मुण्डक, खण्ड ११

इसमें रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है।

'तत्त्वायामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानोहविभिः ।
अहेलमानो वस्त्रणोह बोध्युरुशं समान आयुः प्रमोषीः' ॥

—ऋग्वेद १२४११

इसमें उदात्त अलङ्कार है।

'त्वं विश्वस्यमेधिरे दिवब्रह्म ग्मश्च राजसि । स यामनि प्रतिश्रुधिः' ।

—ऋग्वेद १२५१२०

इसमें पर्याय अलङ्कार है।

'शन्मो देवी रभीष्टये शन्मो भवन्तु पीतये । शंयोरभिश्रवन्तु नः' ।

—साम, अध्याय ११३३

इसमें लाटानुप्रास अलङ्कार है।

'यत्र वाणाः सम्पत्तन्ति कुमारा विशिखा इव' ।

—शुक्ल यजुर्वेद अध्याय ११४८

इसमें पुनरुक्तवदाभास शब्दालङ्कार और उपमा अर्थालङ्कार भी है अतः शब्दार्थ उभयालङ्कार संस्थापित है।

अधिक उदाहरण अनावश्यक हैं, इन्हीं उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि वेदों में सत्काव्य रचना पर्याप्त संख्या में है, अतः वेद को ही हम काव्य और नाट्य का मूल-स्रोत निस्सन्देह कह सकते हैं।

वैदिक और पौराणिक काल का मध्यवर्ती काल

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण

'विहितघनालङ्कारं विचित्रवर्णावलीमयस्फुरणम् ।
शक्रायुधमिव वक्रं वल्मीकभुवं मुनिं नौमि' ॥

वैदिक और पौराणिक काल के मध्यवर्ती समय में अर्थात् पौराणिक काल के प्रारम्भ के प्रथम काव्यात्मक अभूतपूर्व वर्णन का ग्रन्थ केवल वाल्मीकीय रामायण उपलब्ध है।

वाल्मीकीय रामायण में केवल काव्यात्मक वर्णन ही नहीं किन्तु उसका नाम भी आदि काव्य है। उसके प्रति सर्ग के अन्त में—‘इति श्री आदि काव्ये’ का प्रयोग है। उसकी रचना भी सर्ग बन्ध है, जैसा कि महाकाव्यों में होने का नियम उसी के आदर्श से प्रचलित ग्रन्थों में पाया जाता है। वाल्मीकीय रामायण रस की दृष्टि से देखा जाय तो करुण रस प्रधान है। यों तो उसमें प्रसङ्गानुसार वीर, रौद्र, भयानक और अद्भुत आदि अन्य रसों का भी समावेश है। पर उनमें प्रधान ‘करुण’ रस ही है। श्री वाल्मीकीय रामायण के करुणाप्लुत वर्णनों का पाठ, ऐसा कौन सहृदय होगा जो अपनी स्वाभाविक शृङ्खलाबद्ध वाणी से कर सकता हो। महर्षि वाल्मीकिजी के मुख से क्रौञ्चपक्षी-युग्म के कारुणिक दश्य को देख कर जो—

‘मा निषाद् प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्कौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्’ ॥

यह शोकोद्गार सहसा निकल पड़ा था, और उस समय जो महर्षिवर्य के दृढ़दय-पट्टा पर अङ्कित हो गया था, वही ‘शोक’ करुण रस का स्थायी रूप रामायण में सर्वत्र व्याप्त है। और वही सारी रामायण की रचना का आधार है, अतः करुण रस ही रामायण में प्रायः सर्वत्र ध्वनित हो रहा है। उक्त श्लोक में अलद्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि है—जो काव्य के सर्वोत्तम भेद ध्वनि में मुख्य है। श्री रामायण की यह रस की स्थिति ही सत्काव्यत्व सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। पर इसके अतिरिक्त उसमें ध्वनि के अन्य भेद-गमित भी रचनाएँ हैं—

‘रविसंक्रान्तसौभाग्यसुषारावृतमण्डलः ।
निश्चासान्धविवादर्शश्वन्द्रमान प्रकाशते’ ॥

—अरण्य १६।१३

इसे साहित्य के सर्व प्रधान आचार्य श्री आनन्दवर्ढन आदि ने अत्यन्त तिर-स्कृत वाच्य-ब्वनि के उदाहरण में उद्धृत किया है। यही नहीं, अनुप्रास और उपमादि शब्दार्थ अलङ्कारों का तो रामायण में इतना प्राचुर्य है, कि उनके उदाहरण उद्धृत करना तो केवल विस्तार मात्र है। रामायण की वर्णन-शैली को उच्च-श्रेणी की बतलाना एक उसकी विडम्बना है। उसमें जो उपमा, उत्प्रेक्षादि की कल्पनाएँ हैं वे वही ही सारगमित और अभूतपूर्व होने पर भी वही सरलता से कही गई हैं। इस बात को पाश्चात्य विद्वान भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं—

“Valmiki is rich in the cumulating of Similes”

ऐसा कोई संस्कृत का सुप्रसिद्ध महाकवि न होगा जिसने उनके वर्णन का अनुकरण न किया हो, पर इस कार्य में सफलता सबको प्राप्त न हो सकी। एक उदाहरण देखिये, रामायण में श्रीमती जनकनन्दिनी के अन्वेषण में विलम्ब करते हुए देख कर वानरराज सुश्रीव के प्रति लक्ष्मणजी ने कहा है—

‘न स सङ्कुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुश्रीव मा वालिपथमन्वगा’ ॥

—क्रिक्षकन्धा ३४।१८

इसका अनुकरण जानकीहरण के प्रणेता कुमारदास कवि ने इस प्रकार किया है—

‘मदं नवैश्वर्यलवेन लम्भितं विसृज्य पूर्वः समयो विमुश्यताम् ।
जगज्जिघत्सातुरकण्ठपद्धतिर्नवालिनैवाहततृष्णिमन्तकः’ ॥

—जानकीहरण १२।३६

कहने की आवश्यकता नहीं कि जो चमत्कार महर्षिवर्य के अनुष्टुप् पद्य की साधारण उक्ति में है, वह क्लिष्ट-कल्पना और लम्बी रचना द्वारा भी जानकीहरण का प्रणेता अपने पद्य में न ला सका। इस कार्य में कविकुलशेखर कालिदास ही सफल हो सके हैं, उनके काव्य प्रायः वाल्मीकीय रामायण पर ही अवलम्बित हैं। विशेषतयां मेघदूत की कल्पना तो एक मात्र रामायण में वर्णित श्री हनुमानजी

वाल्मीकीय रामायण का समय

का दूतरूप में श्री जनकनन्दिनी के समीप जाने के प्रसङ्ग पर ही निर्भर है । कहने का तात्पर्य यह है कि रामायण केवल कहने मात्र को ही आदि-काव्य नहीं, किन्तु परवर्ती महाकवियों को पथ-प्रदर्शक होने के कारण यथार्थ में आदि-काव्य है । अतएव धनञ्जय ने दशरूपक में नाटक के लेखकों को नाटक की रचना के प्रथम श्री रामायण के अध्ययन करने के लिये परामर्श दिया है—

‘इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं
रामायणादि च विभाव्य वृहत्कथां च ।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या—
चित्रां कथामुचित चास्त्रवचः प्रपञ्चैः’ ।

—दशरूपक ११६८

वाल्मीकीय रामायण का समय

रामायण के रचना-काल के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ी विलक्षण विलक्षण कल्पनाएँ की हैं । उनके मत विभिन्न होते हुए भी इस विषय में वे सभी प्रायः एकमत हैं कि वाल्मीकीय रामायण का रचना-काल ईसवी सन् के पूर्व लगभग छँठी शताब्दी से अधिक पहले का नहीं है । किन्तु पाश्चात्य विद्वान् लेखकों ने रामायण के बाह्य और अन्तः प्रमाणों के आधारों पर जो आनुमानिक कल्पनाओं का भवन निर्माण किया है वह दृढ़-मूल नहीं—पूर्वापर विवेचनाओं की कसौटी पर कसने पर वे कल्पनाएँ सर्वथा निराधार प्रमाणित हो जाती हैं । पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त कुछ एतद्देशीय विद्वानों ने भी इस विषय पर उल्लेख किये हैं, पर खेद है कि वे एतद्देशीय विद्वान् भी पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होने के कारण उनके विचारों में भी पाश्चात्य दृष्टिकोण की ही प्रधानता है । अस्तु ।

१ इस विषय में लेखक ने अपने हिन्दी मेघदूत विमर्श में विस्तृत उल्लेख किया है ।

रामायण के रचना-काल के विषय में कुछ विद्वानों के स्थूल मत इस प्रकार हैं—

- (१) प्रोफेसर वेबर (Weber) महाभारत और ग्रीक देश के कवि होमर के पश्चात् रामायण का रचना-काल मानते हैं।^१
- (२) डॉक्टर भण्डारकर व्याकरणाचार्य श्री पाणिनि के बाद रामायण का रचना-काल मानते हैं।^२
- (३) मिठीथ रामायण का रचना-काल ई० सन् के पूर्व चतुर्थ शताब्दी ब्रतलाते हैं।^३
- (४) मिठी जेकोवी ई० सन् के पूर्व छठी शताब्दी में रामायण का रचना-काल स्वीकार करते हैं।^४
- (५) रायबहादुर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य रामायण के दो रूप मानते हैं। एक तो महर्षि वाल्मीकि-कृत मूल या प्राचीन रामायण, उसका समय श्री वैद्य, 'भारत' के बाद और 'महाभारत' के पूर्व और प्रचलित वर्तमान वाल्मीकीय रामायण को वे 'भारत' और 'महाभारत' दोनों के बाद ई० सन् के लगभग दो शताब्दी पूर्व का मानते हैं। श्री वैद्य, महाभारत के भी दो रूप मानते हैं एक भगवान् वेदव्यासकृत 'भारत' और दूसरा नैमित्तारण्य में शौनकादि ऋषियों को श्रवण करानेवाले सौति द्वारा परिवर्द्धितरूप अर्थात् वर्तमान "महाभारत"।

अच्छा अब यह द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त विद्वान लेखकों ने अपनी-अपनी कल्पनाएँ किन-किन आधारों पर की हैं और उन आधारोंमें कहाँ तक सत्यान्वेषण है।

- (१) प्रोफेसर वेबर का कहना है कि ग्रीक देश के कवि होमर के इलियड के

^१ देखिये Weber: History of Indian Literature

^२ देखिये Rama and Homer

^३ देखिये जर्नल अब द रोयल एसियाटिक सोसाइटी सन् १९१५ पृ० ३२०

^४ देखिये श्री पी० बी० काशे की साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका

कथानक के आधार पर रामायण की रचना की गई है और रामायण में वर्णित पात्र—श्री राम, सीता आदि काल्पनिक हैं अतएव रामायण का रचना-काल महाभारत के बाद का है। प्रो० वेवर के इस मत का खण्डन श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भली प्रकार कर दिया है।^१ एवं श्री काशीनाथ ऋम्बक तैलिङ्ग ने अपने 'Rama and Homer' नाम के ग्रन्थ में 'Was the Ramayan copied from Homer?' शीर्षक लेख में यह सिद्ध कर दिया है कि प्रस्तुत रामायण के आधार पर होमर ने ही इलियड की रचना की है। अतएव इसके विषय में अधिक उल्लेख अनावश्यक है।

- (२) डाक्टर भण्डारकर के मत का भी श्री वैद्य ने दृढ़ युक्तियों द्वारा खण्डन कर दिया है।^२ इसके सिवा डा० भण्डारकर के विस्तृद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि श्री पाणिनि ने 'कौसल्या' और 'कैकेई' इन दोनों के विषय में अष्टाध्यायी के दो सूत्रों में स्पष्टता की है। इसके अतिरिक्त 'राम' का पृथु और वेन आदि प्रसिद्ध राजाओं के साथ ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है 'प्रतदूःशीमे पृथवाने वेने प्ररामे बोचमसुरे माधवासु ।' (ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ६३।) अतएव डा० भण्डारकर का मत भी निराधार है।
- (३) मि० कीथ रामायण-काल ई० पूर्व चौथी शताब्दी और मि० जेकोवी ई० के पूर्व छठी शताब्दी बतलाते हैं अतः मि० कीथ के मत की आलोचना मि० जेकोवी के मत के अन्तर्गत नीचे की जाती है।
- (४) मि० जेकोवी का कहना है कि महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण के ५ कांड अयोध्या से युद्धकाण्ड तक ही हैं, शेष दोनों काण्ड—बाल और उत्तर-

१ देखो श्री वैद्य का "संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास" पृ० १०३-१०४ और देखो मेकडोनल के संस्कृत-साहित्य के इतिहास का श्री मोहनलाल पार्वती-शंकर, एम. ए., एल-एल. बी. कृत गुजराती अनुवाद की पाद-टिप्पणी पृ० ३८९
२ देखो श्री वैद्य का "संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास" पृ० १०६

काएड प्रक्रित हैं। इस कल्पना की पुष्टि में आपका कहना है कि वाल-काएड के प्रथम सर्ग और तीसरे सर्ग में रामायण के वर्णनों का जो संक्षिप्त विवरण है वह परस्पर विस्तृत है। और युद्धकाएड के अन्त में ग्रन्थ समाप्ति के लक्षण वर्तमान हैं। अब देखिये, यह कल्पनाएँ कैसे निर्मूल आवारों पर की गई हैं। वालकाएड के प्रथम सर्ग में नारदजी द्वारा महर्षि वाल्मीकि को श्री राम-चरित्र का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है। उसके बाद दूसरे सर्ग में ब्रह्माजी ने वाल्मीकिजी के समीप आकर श्री नारद द्वारा श्रवण किये हुये श्री रामचरित्र को वर्णन करने के लिये महर्षि वाल्मीकि को आदेश दिया है और ब्रह्माजी ने महर्षि को वह वरदान भी दिया है कि “श्री राम और जनकनन्दिनी आदि का जो चरित्र प्रकाश में है अथवा ऐसा गुत है, जो किसी ने देखा या सुना नहीं है, सभी आपको विदित हो जायगा,” इत्यादि। इसके बाद तीसरे सर्ग में समाविस्थ महर्षि वाल्मीकि को समस्त श्री रामचरित्र का वथावत् ज्ञान हो जाने पर श्री वाल्मीकि द्वारा वर्णित रामचरित्र का संक्षिप्त दिग्दर्शन है। हम नहीं समझते कि ऐसी परिस्थिति में प्रथम सर्ग के वर्णन के साथ तृतीय सर्ग के वर्णन में क्या विस्तृता है। जब कि उन दोनों वर्णनों का परस्पर कोई सम्बन्ध ही नहीं है। और युद्धकाएड के अन्त में ग्रन्थ समाप्ति के जो लक्षण मिलते हैं उनके द्वारा भी मिठो जेकोवी की कल्पना की कुछ भी पुष्टि नहीं हो सकती है। बात यह है कि महर्षि वाल्मीकिजी ने लवकुश को श्री रामचन्द्रजी के राज्यारोहण तक ही रामायण का अध्ययन कराया था और वहीं तक लवकुश ने राज-सभा में रामायण का गान किया था। ऐसी स्थिति में युद्धकाएड के अन्त में फल-स्तुति का होना आवश्यक ही था। उत्तरकाएड में तो राज्यारोहण के बाद का इतिहास और प्रसङ्गानुसार रामचरित्र विषयक और भी अनेक इतिहास हैं और ऐसे हैं कि उनका महर्षि वाल्मीकि के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा लिखा जाना असम्भव है।

(५) राय बहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने यद्यपि पाश्चात्य लेखकों का प्रायः अन्यानुसरण नहीं किया है, किर भी वाल्मीकीय रामायण के विषय में श्री वैद्य भी अधिकांश में प्रोफेसर वेवर आदि पाश्चात्यों के लेखों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। ऊपर कह चुके हैं कि श्री वैद्य महाभारत के दो रूप मानते हैं एक भारत दूसरा महाभारत। उनका कहना है कि भगवान् वेदव्यास कृत भारत का रचना-काल ई० सन् के ३१०० वर्ष पूर्व का है और सौति द्वारा परिवर्द्धित महाभारत का रचनाकाल ई० सन् के पूर्व लगभग दो शताब्दी का। इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण के भी श्री वैद्य दो रूप मानते हुए प्राचीन रामायण का समय लगभग ई० सन् के पूर्व पाँचवीं शताब्दी मानते हैं^१। और एक स्थल पर आप ई० सन् के पूर्व २१०० वर्ष भी मानते हैं^२। अर्थात् जिस भारत ग्रन्थ को वे श्री वेदव्यास कृत प्राचीन बताते हैं, उसके बाद और सौति द्वारा परिवर्द्धित महाभारत ग्रन्थ के पूर्व। अच्छा, प्रथम हम इसी वा० रामायण पर विचार करते हैं, जिसे वे प्राचीन मानते हैं। इस विषय में एक ऐसा अकाव्य आन्तर्य प्रमाण उपलब्ध है, जिसके विरुद्ध कुछ कहने का संभवतः कोई भी विद्वान् दुःसाहस नहीं कर सकता है। श्री वाल्मीकीय रामायण के युद्ध कारण के द१वें सर्ग की २८वीं संख्या का^३ यह श्लोक है—

“न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद्ब्रवीषि संवद्भम् ।

पीडाकरमस्मित्राणां यज्ञ कर्त्तव्यमेव तत् ॥”

यह श्लोक महाभारत ग्रन्थ के द्वोण पर्व में अध्याय १४३ की ६७।६८ संख्या में इस प्रकार मिलता है—

१ देखिये, श्री वैद्य का संस्कृत वाङ्मायाचा त्रोटक इतिहास पृ० १०६

२ देखिये, श्री वैद्य का संस्कृत वाङ्मायाचा त्रोटक इतिहास पृ० १०४

३ देखो गोविन्दराजीय ‘भूषण’ ‘रामायण तिलक’ और ‘रामायण शिरोमणि’ तीन व्याख्यायुक्त गुजराती प्रिंटिंग प्रेस (बंवई) में मुद्रित संस्करण।

“अपिचायं पुरागीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि,
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद्ब्रवीषि सवङ्गम् ।
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा,
पीडाकरमभित्राणां यत्स्यात् कर्तव्यमेवतत् ॥”

इसमें रेखांकित शब्द श्री वाल्मीकीय रामायण के प्रायः अविकल हैं। इसके द्वारा स्पष्ट है कि भारत या महाभारत का समय वाल्मीकीय रामायण के पूर्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। रामायण के इस उद्धरण को सौति द्वारा मिलाया जाना भी कदापि नहीं कहा जा सकता। मिठो मेकडोनल ने भी स्पष्ट कहा है कि इस श्लोक को सौति द्वारा रामायण से लेकर भारत ग्रन्थ में बढ़ाया नहीं गया है^१। इसके सिवा श्री वैद्य भी प्रकारान्तर से यह बात स्वीकार करते हैं। श्रीवैद्य ने कहा है—

“वाल्मीकि हा वैदिक ऋषि असलामूले नूल रामायण हां ग्रन्थ वेदकालीन आहे व तो ‘जय’ (महाभारताचें मूलाचें रूप) ग्रन्था पूर्वी चा आहे ।”^२

अर्थात् श्री वैद्य कहते हैं कि वाल्मीकि वैदिक ऋषि हैं और उनकी रामायण वेदकालीन है, वह वेदव्यासजी कृत जय (भारत) ग्रन्थ से पूर्व की है। ‘किमाश्चर्यमतः परम्’—एक ही ग्रन्थ में एक स्थान पर श्री वैद्य श्री वेदव्यास कृत जिस ‘जय’ (भारत) का समय ई० सन् के पूर्व ३१०० वर्ष स्वीकार करते हैं, उस ‘जय’ ग्रन्थ के पूर्व रामायण को बताते हैं और फिर आप उसी ‘भारत’ ग्रन्थ के बाद रामायण को—उस रामायण को जिसको वे महर्षि वाल्मीकि कृत आदि रामायण मानते हैं—बता रहे हैं।

अतएव स्पष्ट है कि श्री वैद्य के इस मत में पूर्वपर विरोध होने के कारण

^१ देखो मिठो मेकडोनल कृत संस्कृत साहित्य का श्री मोहनलाल पार्वती-शङ्कर दुबे, एम. ए., एल-एल. बी. कृत गुजराती अनुवाद पृ० ३८७

^२ देखिये श्री वैद्य का संस्कृत वाड्मयाचा त्रोटक इतिहास पृ० ९५

सर्वथा अग्राह्य है। अब यह देखना 'आवश्यक है कि श्री वैद्य जिस वर्तमान वाल्मीकीय रामायण का समय वाल्मीकि कृत रामायण से परिवर्द्धित मानते हैं, ई० सन् के २०० वर्ष पूर्व—भारत और महाभारत के बाद—वह किन किन आधारों पर बताते हैं। श्री वैद्य का कहना है—

(१) “महाभारत में केवल बौद्ध मत का उल्लेख है पर वर्तमान रामायण में बौद्ध मत के विस्तृद्ध वाक्य मिलते हैं। यही नहीं विशेष रूप से बुद्ध के नाम का भी उल्लेख है। अतः अशोक के बाद इस धर्म के अस्त होने के समय आर्य-धर्मावलम्बी पुष्यमित्र और अग्निमित्र के काल में वर्तमान रामायण की रचना सिद्ध होती है।”

श्री वैद्य की इस कल्पना का कुछ भी महत्व नहीं है क्योंकि महाभारत में प्रयुक्त ‘बौद्ध’ शब्द का अर्थ बुद्ध द्वारा प्रचलित सम्प्रदाय के अतिरिक्त क्या हो सकता है ? किर बुद्ध और बौद्ध शब्दों के प्रयोग में क्या भेद है जिसके आधार पर ऐसी कल्पना की जाय ? मिठा मेकडोनल का कहना है कि “बुद्ध या बौद्धों के विषय में रामायण में एक ही स्थान पर उल्लेख है और वह प्रक्षिप्त है”^१ संभव है ऐसा ही हो अतएव ऐसे निर्वल आधार पर वर्तमान वाल्मीकीय रामायण का समय परिवर्तन किस प्रकार किया जा सकता है ?

(२) दूसरी कल्पना यह है—“महाभारत में राशि गणित का उल्लेख नहीं है। किन्तु रामायण में श्रीराम-जन्म के समय कर्क लग्न पर पाँच ग्रहों की स्थिति वर्णित है। राशि गणित का ज्ञान भारतवर्ष में यवनों द्वारा प्रातः हुआ है और यवनों का भारतवर्ष में आगमन ई० सन् के २०० वर्ष पूर्व हुआ है।”

यह कल्पना भी निर्मूल है। डा० रावर्ट्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि राशि-ज्ञान सबसे प्रथम भारतवर्ष को ही हुआ है। और उसे भारतवर्ष से ही अन्यदेशीय विद्वानों ने सीखा है। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् मिठा वेली का मत है कि

^१ देखिये मिठा मेकडोनल का संस्कृत साहित्य का इतिहास रामायण प्रकरण।

ज्योतिष का भारतवर्ष में उत्तम रूप से प्रचार ई० सन् के ३००० वर्ष पूर्व हो गया था ।^१ इसके सिवा श्री शङ्कर वालकृष्ण भी राशि-गणित का प्रचार भारतवर्ष में स्वतंत्रता से मानते हैं । इसके सिवा यवनों के साथ भारतवर्ष का सम्बन्ध कब हुआ इसको तो श्री वैद्य स्वयं अनिश्चित स्वीकार करते हैं,^२ तब इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है ।

(३) तीसरी कल्पना यह है कि “रामायण के अयोध्या काण्ड में १०० वें सर्ग में जो राज-धर्म का विषय है, वह महाभारत सभापर्व के पञ्चम अध्याय से लिया गया है । क्योंकि भगवान् रामचन्द्र द्वारा भरतजी से जो प्रश्न पूछे गये हैं, वे असामिक हैं ।”

किन्तु इस प्रसङ्ग को दोनों ग्रन्थों में देखने पर ज्ञात हो सकता है कि यह आदर्श राज्य का दिग्दर्शन है । रामायण में भगवान् रामचन्द्र चित्रकूट में आए हुए भरत से उनकी उद्दिश्यता का कारण पूछने के लिये राज्य-विषयक परिस्थिति के रूप में प्रश्न करते हैं । और महाभारत में महाराज युविष्टिर से राज्य-व्यवस्थात्मक प्रश्नों के रूप में देवर्पिं नारद आदर्श-राज्य-धर्मों का उपदेश करते हैं । दोनों ही स्थलों पर यह विषय प्रसङ्गानुकूल है । हाँ, इस प्रसङ्ग में वाल्मीकीय रामायण के कुछ पद्यों का महाभारत के पद्यों में अविकल सादृश्य अवश्य है । यह साम्य स्वतन्त्र रूप से होना असम्भव न होने पर भी यदि यही कल्पना की जाय कि वे पद्य एक ग्रन्थ से दूसरे ग्रन्थ में लिये गये हैं तो भी प्रत्युत रामायण से महाभारत में लिया जाना ही सम्भव हो सकता है जैसा कि ऊपर दिखाया गया है कि महाभारत में वाल्मीकि के नाम के साथ रामायण का पद्य उद्धृत किया गया है । फिर किस प्रकार श्री वैद्य की यह कल्पना स्वीकार की जा सकती है ?

(४) चौथी कल्पना यह है कि “महर्पिं वाल्मीकि-प्रणीत आदि या मूल रामायण में ब्रह्मान्न द्वारा रावण के वध का उल्लेख है । किन्तु वर्तमान रामायण

^१ देखिये माधुरी पत्रिका अप्रैल सन् १९३१ पृ० ३१२ ।

^२ देखिये श्री वैद्य की महाभारत भीमांसा हिन्दी पृ० ७८ ।

वाल्मीकीय रामायण का समय

में रावण के एक सिर कट जाने के बाद तत्काल नवीन दूसरे सिर उत्पन्न होने तथा रावण के कण्ठस्थित अमृत-कुरुड़ को फोड़ कर रावण-वध की कथा है।”^१ प्रथम होता है कि वाल्मीकि-कृत वह दूसरी कौन सी ऐसी वाल्मीकीय रामायण है जिसमें रावण के कण्ठस्थित अमृतकुरुड़ को फोड़ कर रावण-वध की कथा है। वर्तमान वा० रामायण में तो ऐसा उल्लेख रावण-वध के प्रसङ्ग में नहीं मिलता। महाभारत के रामोपाख्यान में भी रावण का वध केवल ब्रह्मास्त्र द्वारा किया जाना ही वर्णित है। सम्भवतः इसी आधार पर श्री वैद्य की यह कल्पना भी निर्भर है। प्रथम तो विभिन्न पुराणोंतिहासों में अवतार-चरित्रों का एक ही रूप से वर्णन नहीं देखा जाता है। इस विभिन्नता का कारण एकमात्र कल्प भेद है जैसा कि गोत्वामी श्री तुलसीदासजी द्वारा ‘रामचरित मानस’ में विभिन्न कल्पों में होनेवाले श्री रामावतार के विषय में दिग्दर्शन कराया गया है। फलतः श्री वाल्मीकीय रामायण से ही महाभारत में रामोपाख्यान लिया गया है यह भी सन्देहात्मक ही है। इसके सिवा यदि यह मान भी लिया जाय कि महाभारत में यह विषय रामायण से ही लिया गया है तो भी श्री वैद्य के मत की पुष्टि नहीं हो सकती। वर्तमान रामायण में भी ब्रह्मास्त्र द्वारा ही रावण-वध का वर्णन है—

“अथ तं स्मारयामास मातली राघवं तदा,

अजानन्निव किं वीरं त्वमेनमनुवर्तत्से ।

विसृज्यास्मै वधाय त्वमस्त्रं पैतामहं प्रभो ।

× × × × × ×
ततः संस्मारितो रामस्तेन वाक्येन मातलेः;

जग्राह स शरं दीप्तं निश्चसन्तमिवोरगम् ।

यं तस्मै प्रथमं प्रादादगस्त्यो भगवानृषिः ।

ब्रह्मदत्तं महद्वाणममोर्वं युधि वीर्यवान् ॥” इत्यादि
—युद्धकाण्ड सर्ग १०८ । १, २, ३, ४ ।^२

१ श्री वैद्य का संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक पृ० १०५ ।

२ देखो भूषण आदि तीन व्याख्यायुक्त गुजराती प्रेस (बंबई) संस्करण ।

अब रही, रामण के सिर कट कर फिर उत्पन्न होने की वात। इस विषय में यही कहना पर्याप्त है कि जब स्वयं श्री वैद्य महाभारत के रामोपाख्यान को संक्षिप्त रूप मानते हैं तो ऐसी स्थिति में यदि किसी ग्रन्थ के विस्तृत वर्णन का तदनुरूप शृङ्खलावद्ध ही वर्णन किया जाय तो फिर संक्षिप्त का प्रयोजन ही क्या हो सकता है? इसके द्वारा सिद्ध है कि श्री वैद्य की यह कल्पना भी सर्वथा निस्सार है।

(५) श्री वैद्य की एक कल्पना यह भी है कि वर्तमान रामायण में छन्दों का प्रयोग है वह महाभारत काल के बाद का है। किन्तु छन्दों के प्रयोगों के विषय में भी श्री वैद्य स्वयं विश्वास नहीं करते हैं^१। अतएव इस विषय में भी अधिक कहना व्यर्थ है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा सिद्ध है कि श्री वैद्य महाशय की कल्पनाएँ कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं हैं। पाश्चात्य और एतदेशीय लेखकों ने और भी कुछ निस्सार कल्पनाएँ की हैं परं विस्तार भव से यहाँ उनका मुख्य कल्पनाओं के विषय में ही विवेचन किया गया है।

यहाँ एक बात और भी विचारणीय है कि जब ईसवी सन् की सम्भवतः छठी और सातवीं शताब्दी के लगभग के भट्टि-भामह भामह-दण्डी और ग्यारहवीं शताब्दी के मम्मट-रुद्धयक आदि साहित्याचार्यों के विषय में भी विद्वानों द्वारा अधिकाधिक चेष्टा की जाने पर भी उनके पूर्वापर का निश्चित रूप में मतैक्य नहीं हो सकता है, ऐसी अवस्था में निराधार कल्पनाओं पर रामायण को महाभारत के परवर्ती मान लेना या ईसवी सन् की कुछ शताब्दियों के पूर्व इसका समय निश्चित कर देना निस्सन्देह बड़ा दुस्साहसपूर्ण कार्य है, जब कि रामायण के प्राचीनतम होने के विरुद्ध कोई भी दृढ़ प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सकता है। हाँ, सम्भव है आर्ष-ग्रन्थों में कुछ प्रक्षिप्त अंश पीछे से मिला दिया गया हो परं इसके द्वारा सम्पूर्ण ग्रन्थ का काल-निर्णय करना कहाँ तक युक्तियुक्त हो सकता है, यह इतिहासज्ञ विद्वान् अनुभव कर सकते हैं।

१ देखो श्री वैद्य कृत भारत मीमांसा।

महामुनि श्री भरत का नाथ्यशास्त्र

साहित्य शास्त्र के प्रथमाचार्य का स्थान उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर महामुनि भरत के सिवा अन्य किसी को प्रदान नहीं किया जा सकता। क्योंकि काव्य के लक्षण-ग्रन्थों में सबसे प्रथम हमको इन्हीं का नाथ्यशास्त्र उपलब्ध होता है। यद्यपि काव्य-मीमांसा में कविराज राजशेखर ने शास्त्रसंग्रह नामक प्रथमाध्याय के आरभ्म में भगवान् श्री कण्ठ द्वारा काव्य-शिक्षा प्राप्त होने का जहाँ उल्लेख किया है, वहाँ भरत मुनि के साथ-साथ अन्य साहित्याचार्यों के भी नामोल्लेख किये हैं, जैसे—

“सोऽपि भगवान् स्वयंभू…… काव्यविद्याप्रवर्त्तनायै प्रायुड्क्त ।
सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच ।
तत्र कविरहस्यं सहस्रातः समाम्नासीत्, मौक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं
सुवर्णनामः, आनुप्राप्तिकं प्रचेतायनः, यमकानि चित्रं चित्राङ्गदः, शब्द-
श्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पराशरः,
अर्थश्लेषमुत्तथ्यः, उभयालंकारिकं कुवेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपक-
निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः,
गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदकं कुचमारः इति” ।

—का० मी० पृ० १

उपर्युक्त आचार्यों में जिन सुवर्णनाम और कुचमार का उल्लेख है, उनके विषय में वात्स्यायन प्रणीत कामसूत्र में भी उल्लेख है^१ जो कि राजशेखर से अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। और नन्दिकेश्वर (अथवा नन्दि) का उल्लेख नाथ्यशास्त्र में स्वयं श्री भरत मुनि ने नाथ्यशास्त्र विषय के अपने उपदेशक के रूप में तुएड के नाम से किया है—जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। किन्तु राजशेखर के बताये हुए आचार्यों में इस समय श्री भरत-प्रणीत नाथ्यशास्त्र ही उपलब्ध है।

^१ ‘सुवर्णनामः साम्यप्रोगिक्म’ कामसूत्र १११३, ‘कुचमार औपनिषदिक्म’।
कामसूत्र १११७,

वाचु सुशीलकुमार दे, एम० ए० डी० लिट० (दाका युनिवर्सिटी) आदि ने राजशेखर के उपर्युक्त वाक्य को कवि-कल्पना मात्र एवं अपने अधिकृत शास्त्र को गौरवान्वित करने के लिये उसके साथ इस प्रकार देवता और ऋषियों का सम्बन्ध स्थापित कर देना संस्कृत लेखकों के लिये स्वभाव-सिद्ध बतलाया है।^१ किन्तु हम तो यह कहते हैं कि संस्कृत लेखकों द्वारा ऐसा किये जाने की वात तो केवल पश्चिमीय शिक्षा से प्रभावित विद्वानों की कपोल-कल्पना मात्र ही है। पर हमारे ऋषियों के सम्बन्ध के ऐसे वाक्यों पर ऐसी निराधार कल्पनाएँ कर लेना पाश्चात्य-लेखकों पर अन्य-विश्वास रखनेवाले एतदेशीय विद्वान् लेखकों के अवश्य ही प्रत्यक्ष स्वभाव-सुलभ दृष्टिगत होती है। अतएव ऐसी अवस्था में ऐसी अंग्रेजीक मनगढन्त कल्पनाओं को हम भी अध्य-विश्वास से किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं, जब कि उनकी कल्पनाओं के विरुद्ध हमको प्रमाण भी उपलब्ध हैं। विचारणीय यह है कि राजशेखर ने जिन-जिन अचार्यों का नामोल्लेख किया है, उनमें से भरत का नाम्यशास्त्र ही उपलब्ध है, पर इसके सिवा और भी दो आचार्यों का नामोल्लेख राजशेखर के अत्यन्त पूर्ववर्ती वात्स्यायन के काम-सूत्र में वडे आदर के साथ किया गया है—जैसा कि हम पहिले दिखा चुके हैं। और कामसूत्र के उल्लेख द्वारा उन दोनों का अस्तित्व भी स्वीकार किया जाता है—जब कि उनके ग्रन्थ भी कोई उपलब्ध नहीं है। फिर हमको राजशेखर-कथित अन्य आचार्यों का अस्तित्व असम्भव मान लेने का क्या आधार है? यदि उनके ग्रन्थ अप्राप्य होना ही इसका आधार मान लिया जाय तब तो यह भी सम्भव है कि यदि श्री भरत का नाम्यशास्त्र और कामसूत्र भी अप्राप्य होते तो भरत, सुवर्णनाभ और कुचमार को भी वे काल्पनिक व्यक्ति ही समझ लेते। अतएव किसी निर्दिष्ट आचार्य का ग्रन्थ या किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का चिह्न उपलब्ध न होना उनके अस्तित्व को असिद्ध करापि नहीं कर सकता। यदि ऐसा ही मान लिया जाय तब तो इसका परिणाम बहुत ही भयंकर हो सकता है—

^१ संस्कृत पोर्ट्रेटिक्स S. K. De. Vol. 1

सभी ऐतिहासिक व्यक्ति काल्पनिक समझे जा सकते हैं। निष्कर्ष यह कि राजशेखर के वाक्य को कपोल-कल्पित मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत स्वयं नाथ्यशास्त्र में राजशेखर के वाक्य की पुष्टि में प्रमाण मिलते हैं। नाथ्यशास्त्र में 'अन्ये' (श्र० ६।१३० के आगे) 'अन्यैरपि उक्तम्' (६।१४४ के आगे), 'अन्येतु' (६।१६१, और ६।१६६ के आगे) इत्यादि अनेक प्रयोग मिलते हैं, जो कि हमको भरत के समकालीन या उनके पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के परिचायक हैं। संभव है जिस प्रकार राजशेखर ने श्री भरत, सुवर्णनाम और कुचमार के ग्रन्थ देखकर उनका नामोल्लेख किया होगा उसी प्रकार अन्य आचार्यों के भी ग्रन्थ या अन्य किसी ग्रन्थ में उनका नामोल्लेख देख कर ही ऐसा किया होगा। ग्रन्थ या अन्य किसी ग्रन्थ में उनका नामोल्लेख देखने वाले रस, अनुपलब्ध हैं, महामुनि अस्तु ऐसी परिस्थिति में जब कि अन्य आचार्यों के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, महामुनि भरत ही साहित्य के प्रथमाचार्य के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं और उनका नाथ्यशास्त्र ही इस विषय का प्रथम ग्रन्थ।

नाथ्य शास्त्र में वर्णित विषय

नाथ्यशास्त्र का विषय प्रधानतया दृश्य-काव्य नाथ्य विषय है। पर काव्य के दृश्य और श्रव्य दोनों ही भेदों के इसमें नियम निरूपण किये गये हैं। हाँ, यह अवश्य है कि श्रव्य-काव्य अथवा श्रव्य और दृश्य दोनों से सम्बन्ध रखनेवाले रस, अलङ्कार, गुण, वृत्ति, नायिकाभेद और दोषादिकों का उतना विस्तार से विवेचन नहीं किया गया है, जितना केवल दृश्य-काव्य विषयक नाथ्याभिनय का वर्णन किया गया है।

नाथ्यशास्त्र में ३७ अध्याय हैं। जिनमें छठे अध्याय में रस; ७वें में भाव-स्थायी, व्यभिचारी आदि; १४वें में छुंदों के लक्षण और उदाहरण; १६वें में अलङ्कार, काव्य के दोष गुण और काव्यलक्षण; १७वें में प्राकृतादि भाषाएँ; १८वें में दस प्रकार के रूप; २०वें में भारती, सात्वती, कौशिकी और आरभटी वृत्ति और २२वें में हाव, भाव, हेला, नायक-नायिकादि भेद निरूपण हैं। विशेषतया श्रव्य-काव्य से सम्बन्ध रखनेवाला यही अध्याय है, शेष अध्यायों में प्रायः नाट्याभिनय विषय ही है।

नाथ्यशास्त्र के उपर्युक्त अध्यायों के विषय निरूपण पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि नाथ्यशास्त्र के रचना-काल में अलङ्कारों के अधिक भेद निर्दिष्ट नहीं हुए थे—जैसा कि उसमें किये गये उपमादि केवल चार अलङ्कारों के निरूपण से स्पष्ट हैं। अलंकारों के उपभेद भी उसमें केवल उपमा और यमक के ही कुछ निरूपण किये गये हैं। उपमा के अवान्तर भेदों के विषय में यह भी कहा गया है—

‘उपमाया वुधैरेते भेदा ज्ञेयाः समासतः ।
ये शेषा लक्षणेनोक्तास्ते ग्राह्याः काव्यलोकतः’ ॥

—नाथ्यशास्त्र १६।५४

इससे विदित होता है कि उपमा के उपभेद उस समय और भी कुछ महारुद्धन भरत के ध्यान में अवश्य थे, सम्भवतः वे काव्यों में ही दृष्टिगत होते थे—किसी लक्षण ग्रन्थ में निरूपण नहीं किये गये थे। इनमें बहुत से उपभेदों का निरूपण अग्रिमपुराण और दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है।

अलङ्कारों के बाद नाथ्यशास्त्र में दश दोषों और गुणों का निरूपण है।

नाथ्यशास्त्र का लेखक

नाथ्यशास्त्र के लेखक के विषय में बाबू एस. के. दे लेक्चरर ढाका यूनिवर्सिटी^१ और श्री कारो का मत है^२ कि यह विस्तृत नाथ्यशास्त्र श्री भरत की कृति नहीं किन्तु किसी अन्य की है जिसने सिद्धान्तों की शिक्षा पाकर एवं कला के प्रयोग करके इसको प्रणीत किया है। इसकी पुष्टि में श्री कारो ने नाथ्यशास्त्र के—

‘आत्मोपदेशसिद्धं हि नाथ्यं प्रोक्तं स्वयंभुवा ।
शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोलाहलः कथिष्यति’ ॥

—३७।१८

^१ देखो हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स जिल्द एक नाथ्यशास्त्र विषयक निवन्ध्य।

^२ देखो श्री कारो के साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० ७,८।

‘भरतानां च वंशोयं भविष्यं च प्रवर्तितः ।
कोहलादिभिरेवं तु वत्सशारिडल्यधूर्तितैः’ ॥

—३७१२८

इन वाक्यों को उद्धृत किया है। इनके अतिरिक्त वे अन्य प्रमाण भी देते हैं—
१ दामोदर गुप्त ने कुट्टनीमत में नाट्यशास्त्रकारों में भरत के साथ कोहल का
नाम भी दिया है—‘कोहलभरतोदितकियया’ (कुट्टनीमत श्लो० ८१)।
२ ‘ताल’ नामक ग्रन्थ जो कोहलाचार्य कृत कहा जाता है यह इण्डिया ओफिस की
लायब्रेरी में है।

३ हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में (‘आदिशब्दात्कोलाहलादिलक्षितास्तोषकादयो
ग्राह्याः ।’ पृ० ३२५) इस वाक्य में कोलाहल को नाट्य-लेखक वतलाया है।
४ रसार्पवसुधाकर (प्रथम विलास) में शिङ्ग भूपाल ने भरत, शारिडल्य, कौटिल्य
दत्तिल और मतङ्ग को दूसरे नाट्य-ग्रन्थों के प्रणेता वतलाये हैं।

वस, श्री काणे की कल्पना इन्हीं प्रमाणों पर अधिकतया अवलम्बित है।
किन्तु उपर्युक्त प्रमाणों में किसी भी प्रमाण से यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता
है कि यह वर्तमान नाट्यशास्त्र भरत मुनि प्रणीत नहीं ? प्रत्युत उपर्युक्त प्रमाणों
द्वारा तो ऊपर उद्धृत नाट्यशास्त्र की दोनों कांरिकाओं में जो कहा गया है कि
‘नाट् यशास्त्र का विस्तार कोहलादि करेंगे’ इसकी पुष्टि होती है। क्योंकि उपर्युक्त
पहिली, दूसरी और तीसरी संख्या के प्रमाणों में यही कहा गया है कि कोहलादिक
नाट्य-विषयक ग्रन्थों के प्रणेता हैं। और दूसरी संख्या के प्रमाण द्वारा कोहलकृत
‘ताल’ नामक ग्रन्थ का पता चलता है। अतएव इनके द्वारा तो केवल यही
निष्कर्ष निकल सकता है कि १, ३, ४ संख्या के प्रमाणों में कहे हुए वाक्यों का
दूसरी संख्या के प्रमाण द्वारा समर्थन होता है। किन्तु यह चारों प्रमाण श्री काणे
ने भरत के नाट्यशास्त्र के लेखक के सम्बन्ध में किस प्रकार लागू किये यह एक
वस्तुतः विचित्र बात है।

बाबू एस. के. दे ने भी^१ नाट्यशास्त्र के ३७५वें अन्तिम अध्याय के अन्त

१ देखो हिस्त्री आव् संस्कृत फेलिक्स पृ० २४, २५।

में—‘इति भारतीये नाम्यशास्त्रे गुह्यविकल्पो नामाध्यायः सप्तत्रिंशः’ इस वाक्य के आगे लिखे हुए—‘समातोर्यं नन्दिभरत संगीत पुस्तकम्’। और ऊपर उद्धृत नाम्यशास्त्र के अध्याय ३७ की १८वीं एवं २४वीं कारिकाओं के आधार पर यही मत स्थिर किया है कि नाम्यशास्त्र का वर्तमान रूप कोहल, नन्दिकेश्वर आदि के किये हुए परिवर्तनों के पीछे किसी अन्य द्वारा सम्पादित किया गया है। फिर एस. के. दे ब्रावू यह भी लिखते हैं कि^१ “नाम्यशास्त्र में—(१) मुक्त गद्यांश, (२) आनुवंश्य श्लोक, (३) सूत्र भाष्य शैली और (४) सक्रम कारिकाएँ हैं अतः यह विभिन्न शैली की रचना एक काल की नहीं हो सकती। यह ग्रन्थ कभी सूत्र भाष्य रूप में लिखा गया होगा जिसका रूपान्तर वर्तमान रूप है”। किन्तु हमको आश्रित है कि श्री काणे और श्री एस. के. दे ब्रावू जैसे संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों ने यह मत ऐसे निर्वल और निर्मूल आधारों पर किस प्रकार स्थिर कर लिया। उनको इस मत पर आने के प्रथम आर्ष-ग्रन्थ जो ऋषि-प्रणीत महाभारतादिक हैं, उनके आरम्भ से समाप्ति तक की क्या रचना-शैली है उस पर भी ध्यान देना आवश्यक था। क्या उन ग्रन्थों में इसी प्रकार की रचना-शैली नहीं है? क्या गद्य भाग और अनुष्टुप् या आर्या छन्द आदि नहीं हैं? अवश्य ही इन आर्ष-ग्रन्थों के मूल भाग को श्री काणे आदि भी उन्हीं महानुभाव ऋषियों के प्रणीत स्वीकार करते हैं, यद्यपि उनके वर्तमान रूप को वे कहीं कहीं परिवर्द्धित बताते हैं। किन्तु यह भी उनकी निराधार कल्पना मात्र है। (इस विषय पर प्रसङ्गानुसार आगे विवेचन किया जायगा) यहाँ पर विचारणीय यही है कि जब कोहलादिक का नामोल्लेख नाम्यशास्त्र में भी है और उसी के आधार पर श्री काणे आदि नाम्यशास्त्र के वर्तमान रूप को मूल रूप से भिन्न बतलाते हैं तो प्रश्न यह होता है कि प्रथम तो नाम्यशास्त्र में इसके लेखक रूप में कोहलादि का उल्लेख ही कहाँ है? ‘विस्तार’ का अर्थ अन्य ग्रन्थों का निर्माण उनके द्वारा किया जाना न मान कर इसी सुप्रसिद्ध नाम्यशास्त्र को

^१ हिस्ट्री सं० पो० पृ० ३१।

कोहलादि द्वारा लिखे जाने या परिवर्द्धित किये जाने में प्रमाण ही क्या है ? जब कि कोहलादि द्वारा लिखे गये स्वतंत्र ग्रन्थों का अस्तित्व श्री काणे के उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा ही सिद्ध होता है । इनके सिवा भरत नाथ्यशास्त्र पर जो ‘अभिनवभारती’ नाम की टीका है^१ उसमें भी कोहल के मत उद्धृत किये गये हैं—

“सात्विकोप्यङ्गीकृत एव कोहलाद्यैः—‘सत्वातिरिक्तोऽभिनयः’
इत्यादिवचनमालिखद्धिः” । (पृ० १७३) । तदुक्तं कोहलेन—
‘सन्ध्यायां नृत्यतः’ इत्यादि (पृ० १८२) । “यथोक्तं
कोहलेन ‘लयान्तरप्रयोगेण’ इत्यादि (पृ० १८३) ।

इन वाक्यों द्वारा भी कोहली का स्वतंत्र प्रन्थ भरत नाथ्यशास्त्र से भिन्न सिद्ध होता है । फिर यह भी एक प्रभ है कि कोहलादि का समय किस आधार पर भरत मुनि से अत्यन्त परवर्ती कहा जा सकता है । नाथ्यशास्त्र में ‘आनुवंश्य’ आर्याओं के विषय में कहीं यह स्पष्ट नहीं कहा गया है कि यह अन्य किसी के हैं । हाँ, ‘अन्ये’ ‘केचित्’ आदि प्रयोग अवश्य हैं, यदि उन आर्याओं को भी इसी श्रेणी में रख दिया जाय तो भी अनेक लेखकों द्वारा नाथ्यशास्त्र का लिखा जाना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है, सिवा इसके कि इन वाक्यों से अपने समकालीन या पूर्ववर्ती आचार्यों के मत भरत मुनि ने प्रदर्शित किये हैं । यदि श्री काणे आदि अपने मत की पुष्टि में कोई दृढ़ प्रमाण दिखलाते तो किसी को आग्रह न होता कि ऐसा न माने, पर जब तक कोई अकात्य प्रमाण उपलब्ध न हो यह कभी नहीं माना जा सकता कि श्री भरत के सिवा अन्य भी कोई इस नाथ्यशास्त्र के प्रणेता या परिवर्द्धक हैं ।

अच्छा, ग्रन्थ समाप्ति के ‘नन्दिभरत’ के प्रयोग का सम्बन्ध श्री एस. कै. डे बाबू केवल नाथ्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय के साथ लगाते हैं, किन्तु अन्तिम

^१ अबतक इस टीका का नाममात्र अन्य ग्रन्थों में दृष्टिगत होता था, पर अब यह टीका गायकवाड़ सीरीज में सुदृत हो रही है और प्रथम भाग में ७ अध्याय तक सुदृत भी हो गई है ।

अध्याय की 'इतिश्री' में तो वही उल्लेख है, जो कि प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'इति श्री भारतीये नाट्यशास्त्रे' लिखा हुआ है। इसके बाद 'समाप्तोऽनन्दिभरत-सङ्गीतपुस्तकम्' यह लिखा हुआ है। अतएव इस वाक्य का विशेष सम्बन्ध केवल अन्तिम अध्याय अथवा नाट्यशास्त्र के अन्य किसी विशेष भाग के साथ तो किसी भी प्रकार स्थापित हो ही नहीं सकता। यदि इसका सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, तो सारे ग्रन्थ के साथ ही हो सकता है। भरत मुनि को नाट्य-विषयक शिक्षा महात्मा नन्दि द्वारा ही उपलब्ध हुई है, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

'ततस्तण्डुं समाहूम् प्रोक्तवान् भुवनेश्वरः ।
प्रयोगमङ्ग्हाराणामाचद्व भरताय वै ॥
ततो ये तण्डुना श्रोक्तास्त्वङ्ग्हारा महात्मना ।
नानाकरणसंयुक्तान्व्याख्यास्यामि सरेचकान् ॥'

—नाट्यशास्त्र ४।१७-१८

तण्डु, यह नन्दि का ही दूसरा नाम है जैसा कि 'तण्डु' की व्याख्या में अभिनवभारती में उल्लेख है—'तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी'^१। अतएव हम इसके द्वारा इस निष्कर्ष पर आ सकते हैं कि नन्दि द्वारा भरत मुनि को शिक्षा प्राप्त होने के कारण नाट्यशास्त्र का नन्दि के मतानुसार लिखा जाना सिद्ध होता है। सम्भव है इसी कारण से ग्रन्थान्त में 'नन्दि भरत' का प्रयोग किया हो। इसके सिवा प्रायः अन्य नाट्याचार्यों के लिए भी भरत संज्ञा का प्रयोग होता है, सम्भव है अन्य आचार्यों से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए ही प्रसिद्ध भरत मुनि के लिए, जिनको नन्दि द्वारा शिक्षा प्राप्त हुई है, 'नन्दि भरत' का प्रयोग किया गया हो। इसके अतिरिक्त लेख-प्रमाद और प्रक्रित अंश का समावेश हो जाने के कारण इसका निश्चय किया जाना भी बड़ा ही दुःसाध्य व्यापार है। अभिनवभारती के साथ नाट्यशास्त्र के गायकवाड सीरीज के संरकरण

^१ अभिनवभारती पृ० ९०

की भूमिका द्वारा विदित होता है कि इस संस्करण के लिए ४० प्रतियाँ हस्त-लिखित एकत्र की गई हैं, जिनमें कोई भी दो प्रतियों का पाठ एक दूसरी से नहीं मिलता है। और अध्यायों की संख्या में भी विभिन्नता है। कुछ प्रतियों में ३६ अध्याय हैं, जब कि कुछ प्रतियों में उतना ही पाठ ३६ और ३७ संख्या के दो अध्यायों में लिखा हुआ है। एक प्रति में ३८वाँ अध्याय भी उसी पाठ में लगा हुआ है। इस पर सम्पादक महाशय ने लिखा है—

“Bharat's work has undergone such variations at every part of the work that every verse really requires half a printed page to show its variants.”
(Natyashastra, Gaekwad's Oriental Series: Preface, page 9, last two lines).

अर्थात् ‘भरत की मूल कृति के प्रत्येक भाग में इतना परिवर्तन हो गया है कि प्रत्येक पद्य के परिवर्तनों को दिखाने के लिए वास्तव में मुद्रित आधे पृष्ठ की आवश्यकता है।’ ऐसी परिस्थिति में यहाँ भी कहा जा सकता है कि सम्भवतः नाट्यशास्त्र में कुछ प्रक्रियत अंश भी समावेशित हो गया हो तो क्या आश्चर्य है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ का लेखक भरत मुनि के स्थान पर अन्य किसी को कल्पना कर लेना तो वस्तुतः बड़ा ही दुःसाहसपूर्ण कार्य है। अतएव संदिग्ध आधार पर ऐसी महत्वपूर्ण धारणा के लिए हमको रुक जाना ही श्रेयस्कर है।

नाट्यशास्त्र का समय

यद्यपि कुछ विद्वान् नाट्यशास्त्र का निर्माण अग्निपुराण के पीछे बताते हैं, जैसा कि काव्यप्रकाशादर्श नामक काव्यप्रकाश की टीका में महेश्वर ने लिखा है—

‘सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्वृत्य काव्यरसास्वादकरणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संचित्य भरतमुनिः प्रणीतवान्’।

यह टीका ईसवी १७वीं शताब्दी में लिखी गई है^१। इसी प्रकार साहित्य-कैमुदी की कृष्णानन्दिनी टीका में भग्नण ने भी लिखा है—

काव्यरसास्वादनाय वहिपुराणादिष्ठां साहित्यप्रक्रियां भरतः
संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निवबन्ध'

किन्तु यह उल्लेख सर्वथा निराधार है। इसके लिए अन्यत्र अन्वेषण की आवश्यकता नहीं, जब कि अग्निपुराण के—

‘वाक् प्रधाना नरप्राया स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता ।

भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती रीतिरुच्यते’॥^२

—अग्नि पु० ३४०।६

इस वाक्य से ही स्पष्ट है कि ‘भारती’ रीति का नामकरण श्री भरत-प्रणीत होने के कारण किया गया है। यही नहीं, अग्निपुराण के इस वाक्य की पुष्टि नाट्यशास्त्र के—

‘या वाक् प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृत वाक्ययुक्ता ।

स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत् वृत्तिः’॥

—नाट्यशा० २०।२५

इस पद्य से भी होती है। इसी के अनुसार अग्निपुराण के उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है। अग्निपुराण का पाठ कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि उसमें ‘स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता’ पाठ है, जब कि नाट्यशास्त्र में ‘स्त्रीवर्जिता संस्कृत वाक्ययुक्ता’ पाठ है। सम्भवतः अग्निपुराण में भी “स्त्रीत्यक्ता प्राकृतोज्भिता” पाठ हो, और हस्तलिखित प्रति के लिपि-भ्रम से ऐसा मुद्रित हो गया हो। जो कुछ हो यह निर्विवाद सिद्ध है कि नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण से प्राचीन ही नहीं किन्तु वह अग्निपुराण में लिये गये इस विषय का आदर्श भी है।

इसके प्रथम कि हम नाट्यशास्त्र के समय के सम्बन्ध में यथा साध्य

१ देखो काव्यप्रकाश भूमिका पृ० ३७ वामनाचार्य टीका द्वितीय संस्करण।

२ अर्थात् भरत की प्रणीत होने के कारण इसे भारती रीति कहते हैं।

निष्कर्ष निकालें, यह प्रदर्शित करना प्रयोजनीय है कि अन्य विद्वान् लेखकों का इस विषय में क्या मत है—

१—प्रोफेसर मेकडोनल्ड नाट्यशास्त्र का निर्माण काल ई० सन् की छठी शताब्दी बताते हैं।^१

२—प्रोफेसर लेवी (Leve) इसका समय इन्डो सीदियन चेत्रप के समय में बतलाते हैं।^२

३—महामहोपाध्याय श्री हरिप्रसाद शास्त्री ई० सन् के दो शताब्दी पूर्व बतलाते हैं।^३

४—ब्राह्म एस. के. दे नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप आठवीं शताब्दी के लगभग बतलाते हैं।^४

५—श्री कारण इसकी अन्तिम सीमा महाकवि कालिदास के समय पर निर्भर बतलाते हैं। और पूर्व सीमा ई० सन् के प्रारम्भ से अधिक प्राचीन नहीं मानते।^५

निष्कर्ष यह है कि इन सभी विद्वान् लेखकों ने नाट्यशास्त्र का निर्माणकाल ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दी से प्रथम स्वीकार नहीं किया है। उपर्युक्त विद्वानों के इन मतों पर विवेचन करने के प्रथम उचित यह होगा कि हम नाट्यशास्त्र के विषय में बाह्य और अन्तरङ्ग उपलब्ध प्रमाणों पर कुछ विचार करें। अतः प्रथम हम ई० सन् की ११ वीं या १२ वीं शताब्दी के पूर्व के विद्वानों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों के बाह्य प्रमाणों पर विचार करते हैं।

^१ देखो संस्कृत लिटरेचर पेज ४३४। और मि० मेकडोनल का संस्कृत इतिहास गुजराती अनुवाद पृ० ५६२।

^२ देखो इंडियन एण्टीकायरी पुस्तक ३३ पृ० १६३।

^३ देखो जरनल एशियाटिक सोसायटी बंगाल सन् १९१३ पृ० ३०७।

^४ संस्कृत साहित्य का इतिहास History of Sanskrit Poetics पृ० २७।

^५ देखो साहित्यदर्पण को अंग्रेजी भूमिका पृ० ८-९-१०।

काव्यप्रकाश में उल्लेख है :—

‘उक्तं हि भरतेन—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।’

—का० प्र० उ० ४ पृ० १०१^१

यह नाट्यशास्त्र के अध्याय ६ पृ० ६२ का उद्धरण है। इस सूत्र पर काव्य-प्रकाश में भट्ठ लोक्ष्यट, श्री शंकुक, भट्ठ नायक और अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्याओं का सारांश दिया गया है और वह नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्ताचार्य की ‘अभिनवभारती’ नाम की टीका से संक्षिप्त रूप में लिया गया है—

१—भट्ठ नायक का समय ३० सन् ९०० और ६२५ माना जाता है।

२—श्री शंकुक संभवतः वही है, जिसके विषय में राजतरङ्गिणी में—

‘कर्विर्बुधमनः सिन्धुशशाङ्कः शङ्कुकाभिधः ।

यमुद्दिश्याकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ॥

(रा० त० अ० ४७०५)

इसके अनुसार इनका समय ३० व४० है।

३—भट्ठ लोक्ष्यट के समय का ठीक पता नहीं, किन्तु यह श्री शंकुक के पूर्ववर्ती हैं क्योंकि अभिनवभारती में इनका उल्लेख उपर्युक्त भट्ठ लोक्ष्यट की नाट्यशास्त्र के सूत्र की व्याख्या के आलोचक के रूप में किया गया है। और धन्यालोक की लोचन व्याख्या में (पृ० १८८) अभिनवगुप्ताचार्य ने लिखा है कि भट्ठ का मत प्रभाकर के मतानुसार है—‘भाष्ट प्राभाकरं वैय्याकरणं च पक्षं सूचयति’ इत्यादि। काव्यप्रकाश की माणिक्यचन्द्र प्रणीत संकेत टीका और व्यक्तिविवेक आदि से भी पता चलता है कि भट्ठ लोक्ष्यट प्रभाकर और श्री शंकुक के पूर्ववर्ती हैं अतः इनका समय संभवतः ३० सन् ७०० से ८०० तक माना जा सकता है।

^१ यहाँ काव्यप्रकाश के जहाँ भी उद्धरण दिये गये हैं, वे सभी बम्बई में निर्णय सागर प्रेस में मुद्रित वामनाचार्य की टीका के द्वितीय संस्करण के पृष्ठ हैं।

४—अभिनवगुप्ताचार्य ने—जिनको काव्यप्रकाश प्रणेता आचार्य मम्मट संभवतः अपने आचार्य रूप में व्यक्त करते हैं—ध्वन्यालोक की लोचन व्याख्या में भरत मुनि के मत का अनेक स्थानों पर उल्लेख करते हुए ‘मुनिराह’ इत्यादि प्रयोग तो प्रायः किया ही है। एक स्थान पर लिखा है—‘चिरंतनैर्हि भरत-मुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे शब्दालङ्कारत्वेनेषु’ (पृ० ५) इनका समय दशम शताब्दी के लगभग है।

इससे सिद्ध होता है कि ईसवी की आठवीं शताब्दी के भड़ लोक्षण ने नाट्यशास्त्र के उक्त सूत्र पर व्याख्या की है और दशम शताब्दी के अभिनवगुप्ताचार्य जैसे संधान्त आचार्यों ने श्री भरत को ‘मुनि’ और ‘चिरंतनैः’ शब्दों से व्यक्त किया है, जब कि उन्होंने भामह, उद्धट और दण्डी के ‘चिरंतन’ शब्द का प्रयोग नहीं किया है जिनका समय अभिनवगुप्त के लिए पूर्व दो से चार शताब्दियों तक का है। दशरूपक के प्रणेता धनञ्जय या धनिक ने भी लिखा है—

‘उधृत्योधृत्यसारं यमखिलनिगमान्नाद्यवेदं विरिच्छि—
श्वके यस्य प्रयोगं मुनिर्पि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः’।

(दशरूपक ११४)

इसमें भरत को ‘मुनि’ और नाट्यवेद को विरिच्छि-व्रह्मा द्वारा निर्मित बताया गया है। फिर इनके पूर्ववर्तीं श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य ने, जिनका समय ई० सन् ८०० और ६०० के मध्य में माना जाता है, अपने ध्वन्यालोक में भरत का नामोळ्हेख अनेक स्थानों पर किया है—

१ ‘अतएव च भरतेन प्रवन्धप्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रस्त्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकत्वयतयोपन्यस्तं’।

(पृ० १४६)

२ ‘यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धाननुगुणमपि द्वितीयेऽड्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम्’।

(पृ० १५०)

३ ‘यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कौशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तर-
प्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां’।

(पृ० १६३)

४ ‘एतच्च रसादितात्पर्यण काव्यनिवन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति’।

(पृ० १८१)

इनमें द्वितीय उद्धरण के अनुसार विलास नामक संव्यङ्ग की परिभाषा उप-
लब्ध नाट्यशास्त्र के १६।७१ में और तीसरे उद्धरण के अनुसार कौशिक्यादि
वृत्तियों का निरूपण अभ्याय २० में किया गया है। इससे सिद्ध है कि वेणीसंदार
नाटक के प्रणेता भट्ट नारायण ने, जो श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य से पूर्व लगभग ई०
की छठी या साठवीं शताब्दी में हो गया है, भरत के मतानुसार विलास संव्यङ्ग
को लिखा है, यही नहीं वह भरत को नाट्यशास्त्र का सर्वोच्च आचार्य भी स्वीकार
करता है।

ध्वन्यालोक के पूर्व दामोदर गुप्त ने अपने कुट्टनीमत ग्रन्थ में भरत का
नामोल्लेख तो एकाधिक स्थानों पर किया ही है, किन्तु वह यह भी लिखता है—

‘ब्रह्मोक्तनाट्यशास्त्रे गोते मुरजादिवादने चैव’।

—कुट्ट० क्षो० ७५

अतएव ई० सन् की आठवीं शताब्दी में भी नाट्यशास्त्र के उल्लेख के अनु-
सार नाट्यशास्त्र को ब्रह्मोक्त और भरत का ब्रह्मादि देवों के साथ सम्बन्ध स्वीकार
किया गया है, जो भरत को प्राचीनतम सिद्ध करता है।

दामोदर गुप्त के पूर्ववर्ती भवभूति ने, जिसका समय ई० ७०० से ७४० तक
माना जाता है, उत्तरामचरित नाटक के चतुर्थाङ्क में जहाँ कि जनक और लव
के वर्तालाप में महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण निर्माण किये जाने का प्रसङ्ग उप-
स्थित किया है, वहाँ लव के द्वारा ये वाक्य कहलाये हैं—

‘लवः-प्रणीतो न तु प्रकाशितः। तस्यैव खलु कोऽप्येकदेशः सन्द-
भान्तरेण रसवानभिनेयार्थः कृतः तं च स्वहस्तलिखितं मुनिर्भगवान्
व्यसृजद्वरतस्य मुनेस्तौर्यत्रिकसूत्रकारस्य’।

जनकः—किमर्थम् ?

लवः—स किल भगवान् भरतस्तमप्सरोभिः प्रयोजयिष्यतीति' ।

—उत्त० पृ० २४४, २४५ (कलकत्ता, गोवर्धन प्रेस संस्करण)

इसमें महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत श्री रामायण का एक अंश नाटकरूप में अभिनेयार्थ भरत मुनि के समीप भेजे जाने का उल्लेख है । यह कथा-प्रसङ्ग यदि भवभूति द्वारा कल्पित भी मान लिया जाय-किर भी इसके द्वारा यह तो अवश्य सिद्ध होता है कि भवभूति के समय में भी भरतमुनि महर्षि वाल्मीकि के समकालीन माने जाते थे और उनका नान्यशास्त्र प्रसिद्ध था ।

कादम्बरी आदि के प्रणेता महाकवि बाणमट्ट ने भी, जिसका समय ई० की छठी शताब्दी माना जाता है, नान्यशास्त्र को भरत प्रणीत माना है । हर्षचरित के दूसरे अध्याय में आरभटी वृत्ति का उल्लेख किया है—

‘रैणवावर्त्तमण्डली रेचकरासरसरभसारव्य-
नर्त्तनारम्भारभटीनटाः’ । (पेरा ४)

किर तीसरे अध्याय के पेरा ५ में—जहाँ गान विद्या का उल्लेख है, लिखा है—‘भरतमार्गमजनगुरुगीतं’ । और नान्यशास्त्र में आरभटी वृत्ति के विषय में लिखा है—

‘अतउद्वृवमुद्धतरसामारभटीं संप्रवद्यामि’ ।

—ना० शा० अ० २०।५४

तथा रेचक के विषय में भी लिखा है—

‘तत्रान्निभ्रूविकाराश्च शृङ्गाराकारसूचकाः ।
सग्रीवा रेचका ज्ञेयो हावश्चित्समुथितः’ ॥

—ना० शा० अ० २२।१०

इसके द्वारा विदित होता है कि छठी शताब्दी में बाणमट्ट ने भी नान्यशास्त्र के मत का अनुसरण किया है । अच्छा अब देखिये, बाण के पूर्ववर्ती महाकवि कालिदास भरत के विषय में क्या उल्लेख करते हैं—

‘मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टुरसाश्रयः प्रयुक्तः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः ॥’

—विक्रमोर्वशोय २।१८

इसमें भरत मुनि, नाश्चाचार्य कहे गये हैं एवं उनके नाटक का प्रयोग अप्सराओं द्वारा किये जाने का उल्लेख है। और नाईशाल्ल में नाटकीय आठ रसों का उल्लेख है, उसी के अनुसार इसमें आठ रसाश्रय ही नाटक कहा गया है। अप्सराओं द्वारा नाटक का प्रयोग किये जाने का उल्लेख भी नाश्चाचार्य में है।

‘प्रयोगान् कारिकाश्चैव निस्तक्तानि तथैव च ।

अप्सरोभिरिदं सार्थं क्रीडनीयैकहेतुकम्’ ॥

—ना० शा० ३।१९

कालिदास के काल-निर्णय में बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों द्वारा अत्यन्त गवेषणा की जाने पर भी अव्यापि सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। किन्तु इनकी अन्तिम सीमा ईसा की पञ्चम शताब्दी के पश्चात् किसी भी इसिहासज्ञ विद्वान् द्वारा नहीं मानी गई है। इस पर प्रायः सभी इतिहासज्ञ विद्वान् एकमत हैं। किन्तु इनकी पूर्व सीमा के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि ये महाकवि भास के परवर्ती हैं, क्योंकि इन्होंने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक में भास का नामोल्लेख किया है—

‘मा तावद् । प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रवन्धान्
अतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो वहुमानः’ ।

—प्रथमाङ्क

भास का समय यदि सप्तान्त्र चन्द्रगुप्त के समकालीन माना जाय, जैसा कि हमने अपने हिन्दी-मेघदूत-विमर्श की भूमिका में (पृ० ६।-१०७ तक) विवेचन किया है, ईसवी सन् के तीन शताब्दी पूर्व, तो कालिदास की पूर्व और उत्तर सीमा में लगभग आठ शताब्दियों का एक बड़ा लम्बा अन्तर है। किन्तु जहाँ तक हमारी धारणा है, कालिदास के मालविकाग्निमित्र और रघुवंशादि की रचना में अग्निमित्र और उसके पिता पुष्यमित्र के चरित्रों का स्पष्ट प्रतिविम्ब प्रतीत होता

है, अतएव इनका स्थिति-काज शुद्धवंशीय अग्निमित्र के राज्यकाल में होना संभव है, जिसका समय ईसवी सन् के प्रारम्भ के लगभग है^१।

यहाँ तक नाट्यशास्त्र के विषय में उपलब्ध वाह्य प्रमाणों का उल्लेख किया गया है। अब हम इन वाह्य प्रमाणों के आधार पर अन्य विद्वानों के मत जो नाट्यशास्त्र के समय-निर्णय पर पहिले (पृ० ३६, ४० में) प्रदर्शित किये हैं, उनमें सबसे प्रथम हम नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा जिसे श्री कारण ने कालिदास के समय पर निर्भर रखा है, उस पर विचार करते हैं। संभवतः उन्होंने विक्रमोर्धवीय नाटक में जो भरत का नामोल्लेख है, (जैसा कि पहिले दिखाया गया है) उसी पर यह मत स्थिर किया है कि भरतमुनि कालिदास के पूर्ववर्ती हैं। किन्तु जहाँ तक ध्यान देकर देखा जाता है नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा कालिदास के अधिकाधिक पूर्व जा सकती है। कालिदास के पूर्व भास नामक प्रसिद्ध कवि-जिनके विषय में अभी कहा गया है, उनके बहुत से नाटक अब सौभाग्यवश प्रकाशित हो गये हैं। उन नाटकों की रचना में भी नाट्य-विषयक नियमों का उसी प्रकार पालन किया गया है, जैसा कि उनके परवर्ती कालिदास, भवभूति आदि के नाटकों में भरतमतानुसार दृष्टिगत होता है। इस बात को श्री एस. के. दे बाबू भी स्वीकार करते हैं। इस परिस्थिति में ध्यान देने योग्य बात यह है कि भास, सौमिला आदि ने जो नाटक-रचना की, वह किस नाट्य-पथ-प्रश्नक ग्रन्थ के आधार पर की? अतएव यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि भास आदि के प्रथम नाट्य-नियम विषयक कोई ग्रन्थ अवश्य था, क्या कारण है कि वह ग्रन्थ हम उपलब्ध प्राचीनतम नाट्यशास्त्र के सिवा अन्यतम कल्पना करें, जब कि तत्कालीन किसी अन्य ग्रन्थ का पता ही नहीं चलता है। किर नाट्यशास्त्र की अंतिम सीमा कम से कम भास से भी प्राचीनतम न मान कर कालिदास तक ही क्यों मानें। भास का समय उसकी वासवदत्ता नाटिका की भूमिका में श्री गणपति

^१ इस विषय पर हमने अपने हिन्दी मेघदूत विमर्श पेज ९१ से १०७ तक विस्तृत विवेचन किया है।

शास्त्री ने ईसवी सन् के पूर्व आठवीं शताब्दी के श्री पाणिनि के भी प्रथम स्थिर किया है, किन्तु वह भ्रमात्मक है, संभवतः भास का समय है। सन् के पूर्व तीपरी या चौथी शताब्दी के लगभग सम्राट् चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में प्रतीत होता है, जैसा कि पहिले कह चुके हैं। अतएव श्री काणे की निर्वारित अंतिम सीमा भ्रांत सिद्ध होती है। और इसके साथ ही श्री एस. के. दे बाबू की कल्पना भी, क्योंकि वह भी ऐसी ही निर्मूल युक्तियों पर अवलम्बित है। एस. के. दे बाबू अभिनव-गुप्ताचार्य द्वारा नाट्यशास्त्र की टीका अभिनव-भारती और दामोदर गुप्त के द्वारा किये गये उपर्युक्त उल्लेख और नाट्यशास्त्र में गद्य, कारिका, एवं सूत्र तीन अंश होने के आधार पर नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप ईसवी की आठवीं शताब्दी के पूर्व का अनुमान करते हैं, किन्तु इन आधारों के द्वारा यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि ईसवी की आठवीं शताब्दी के कुछ पूर्व ही नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप हुआ? और इसके अत्यन्त प्राचीनतम् महाभारत आदि के पूर्व नहीं। एस. के. दे बाबू कहते हैं “गद्य, सूत्र, भाष्य-शैली और सक्रम-कारिका यह चार अंश जो भरत नाट्यशास्त्र में हैं यह एक कालिक न होकर भरत की कृति इन परिवर्तनों द्वारा इस वर्तमान रूप में है” और वे यह भी कहते हैं “यद्यपि यह शैली दशमी शताब्दी के एक लेखक द्वारा लिखे गये काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है, पर भरत नाट्यशास्त्र पर यह नियम लागू नहीं हो सकता”। कहिये तो इस कल्पना की उड़ान का भी कुछ ठिकाना है? प्रश्न होता है कि दशमी शताब्दी के एक लेखक के लिखे हुए ग्रन्थ में उपलब्ध शैली नाट्यशास्त्र के विषय में क्यों नहीं लागू हो सकती? जब कि हमको काव्यप्रकाश आदि के भी बहुत पूर्व के लेखक द्वारा लिखे गये कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी यही शैली दण्डित होती है? और देखिये, भवभूति के उत्तररामचरित का अवतरण जो ऊपर उद्धृत किया गया है, उस पर एस. के. दे बाबू यह एक अभूत-पूर्व कल्पना करते हैं कि ‘भवभूति के समय में पौराणिक भरत और नृत्य-संगीत विषयक सूत्र-ग्रन्थ के लेखक भरत एक ही समझे जाने लगे थे’। किन्तु आश्चर्य यह है कि पौराणिक भरत को और नाट्यशास्त्र के लेखक भरत को उन्होंने किस

आधार पर भिन्न-भिन्न कल्पना कर लिया ? किन्तु इस विषय में दे वाबू मौन हैं। अतएव उनकी इस निर्मल कल्पना का उद्देश्य सिवा इसके और क्या हो सकता है कि भवभूति के उल्लेख द्वारा भरतमुनि प्राचीनतम सिद्ध होते हैं और दे वाबू को ऐसा अभीष्ट नहीं।

ऊपर जो विवेचन किया गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा भास तक निर्धारित हो चुकी, किन्तु कहने का तात्पर्य यह है कि नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा भास तक तो पहुँच जाती है, जब कि भास के पूर्व-कालीन काव्य और नाटक अनुपलब्ध हैं।

अच्छा, यह तो हुई उत्तर सीमा की बात, अब नाट्यशास्त्र की पूर्व सीमा अर्थात् यह ग्रन्थ अमुक निर्दिष्ट काल के प्रथम का नहीं, इसके लिये कोई दृढ़ साधन नहीं। उल्लिखित विद्वान् लेखकों ने जो सम्भावना की है वह नितान्त निराधार है। एस. के. दे वाबू नाट्यशास्त्र में 'यवन' आदि शब्दों के आधार पर ही इसकी पूर्व सीमा ईसवी सन् के प्रारम्भ से पूर्व नहीं मानते, किन्तु 'यवन' शब्द के प्रयोग के विषय में—जैसा कि हम आगे महाभारत के प्रसंग में स्पष्ट करेंगे, ऐसी धारणा किया जाना सर्वथा भ्रमात्मक है। खेद है कि वस्तुतः सभी विद्वान् ऐतिहासिक लेखकों ने केवल उत्तर सीमा के ही आधार पर—उससे कुछ समय पूर्व एक या दो शताब्दी पीछे हटा कर नाट्यशास्त्र के समय की कल्पना की है, किन्तु यह कल्पना ठीक उसी प्रकार की है, जैसे हम चन्द्रलोक जाने के इच्छुक होकर वायुयान (Aeroplane) में बैठकर आकाश की ओर उद्धरणी हों और १० माइल के लगभग ऊपर—जहां तक उसकी गति न रुके, जाकर आगे जाना अगम्य हो जाने पर यह धारणा कर लें कि 'यहाँ तक तो निश्चय रूप से चन्द्रलोक नहीं है, पर संभवतः यहाँ से दो चार माइल ऊपर अवश्य होगा' कहिये तो ऐसी कल्पनाओं का क्या मूल्य हो सकता है, जब कि इन कल्पनाओं के विरुद्ध श्री भरत मुनि को अत्यन्त प्राचीनतम स्वीकार करने को उपर्युक्त उद्धरण ही हम को आकर्षित करते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों में कालिदासादि के नाटकों में श्री भरत मुनि का ब्रह्मादि

देवों के साथ साक्षात्सम्बन्ध और महर्षि वाल्मीकि आदि के समकालीन होना उल्लिखित है। यद्यपि नाटकों के वाक्य एक बार ही सत्य नहीं—कल्पित होना भी सम्भव है, किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि ऐसी धारणाओं की कल्पना किसी भी लेखक द्वारा क्या अपने से १००० या ५०० वर्ष के पूर्ववर्ती व्यक्ति के विषय में को जा सकती है? वैदिक और पौराणिक मर्हर्षियाँ के सिवा क्या आज तक किसी अन्य ग्रन्थ-लेखक के विषय में ऐसी कल्पनाएँ किसी लेखक द्वारा की गई हैं? क्या हम भी अब से १००० या ५०० वर्ष पूर्व के किसी व्यक्ति के विषय में ऐसी धारणा कर सकते हैं? अतएव क्या यह संभव है कि कालिदास द्वारा उसके १००० या ५०० वर्ष पूर्व के व्यक्ति के विषय में ऐसी धारणा का उल्लेख किया जा सकता था? किसी भी ग्रन्थ का निश्चयात्मक समय तो तभी कहा जा सकता है, जब उसमें उसके पूर्वकालीन किसी ग्रन्थ का नामोल्लेख हो, जिसका समय निश्चित हो गया है। पर जब कि नाट्यशास्त्र में किसी निश्चयात्मक समय के ग्रन्थ का नामोल्लेख ही नहीं है, और जब कि उसकी पूर्व सीमा अत्यन्त प्राचीनतम—अज्ञात काल स्वीकार करने के विरुद्ध हमारे पास कोई प्रमाण भी नहीं है तो हम किस आधार पर उसे इतने अर्वाचीन काल में वसीट कर ला सकते हैं? इस प्रकार की कल्पना का आधार केवल पञ्चमीय विद्वानों की अनर्गल लेखनी से निकले हुए निराधार उद्धार मात्र हैं, और उन्हीं के गतानुगतिक होकर गड्डुरिका प्रवाह न्याय से हमारे एतदेशीय विद्वान् भी उन्हीं उद्धारों को अपनी लेखनी से प्रवाहित कर रहे हैं। किन्तु ऐसे निर्वल और अप्रामाणिक कल्पनाओं के आधार पर निर्मित विशाल अद्वालिका क्या स्थिर रह सकती है? अस्तु।

यहाँ तक नाट्यशास्त्र विषयक वाह्य प्रमाणों पर विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि नाट्यशास्त्र में वर्णित साहित्यिक विषय पर ध्यान दिया जाय तो, प्रथम शात होता है कि अलङ्कार शास्त्र के प्राचीन लेखक हमारे परिचित भट्टि, भामह, दण्डी और उद्घट आदि जब कि ३८ से ५० तक अलङ्कारों का निरूपण करते हैं, तब नाट्यशास्त्र में केवल उपमा, रूपक, दीपक और यमक यहीं चार अलङ्कार हैं—जो कि विकास-क्रम का सर्वप्रथम रूप है। भामह सबसे पहिले इन्हीं चारों

को प्रथम वर्ग में दिखलाता है। यद्यपि भामह ने प्रथम वर्ग में पाँचवाँ अनुप्रास भी रखवा है, पर यमक और अनुप्रास एक ही कक्षा के हैं, अतः भामह ने भी 'अनुप्रासः स यमको' यही कहा है। यदि नाट्यशास्त्र का वर्तमाम रूप ई० द०० शताब्दी के लगभग होता—जैसा कि दे बाबू की कल्पना है, तो फिर यह क्या संभव था कि अन्य विषयों के परिवर्द्धन के साथ साथ अलङ्कार विषय का परिवर्द्धन न किया जाता? यदि किसी लेखक द्वारा नाट्यशास्त्र का परिवर्द्धन किया जाना मान लिया जाय तो साथ ही यह भी स्वीकार किया जाना अनिवार्य होगा कि उसे अपने समय में प्रचलित काव्य और नाट्य के अन्य सभी विषयों का नाट्यशास्त्र में समावेश करना अभीष्ट था। इस अवस्था में प्रश्न होता है कि अन्य विषयों के साथ अधिक अलङ्कारों का भी समावेश अवश्य ही किया जाता, पर ऐसा नहीं है। यह भी नहीं कि द वीं शताब्दी तक अधिक अलङ्कारों का निरूपण न होने पाया था, क्योंकि द वीं शताब्दी के पूर्व के भट्टि, भामह और दण्डी आदि के ग्रन्थों में ४० से ५० तक अलङ्कारों का निरूपण है। दूसरी बात यह भी है कि यदि नाट्यशास्त्र का द वीं शताब्दी में परिवर्द्धित किया जाना माना जाय तो उसके लिये किसी अन्य ग्रन्थ का आदर्श भी होना आवश्यक है, किन्तु दे बाबू नहीं बतला सके हैं कि अमुक ग्रन्थों के आधार पर नाट्य-शास्त्र परिवर्द्धित किया गया है। ऐसी परिस्थिति में नाट्य-शास्त्र के अन्तरङ्ग प्रमाणों द्वारा भी इसकी पूर्व सीमा का समय निर्णय और इसके वर्तमान रूप को किसी द्वारा परिवर्द्धित किया जाना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव निर्विवाद सिद्ध है कि वैदिक काल के बाद और पौराणिक काल के पूर्व नाट्यशास्त्र का अज्ञात समय है।

पौराणिक काल ।

'पुराण' शब्द का प्रयोग वेद की श्रुतियों में भी है—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं
चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।"

यह श्रुति छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय ७ खण्ड १, २) की है। ब्रह्मविद्या

के उपदेश लेने को गये हुए देवर्पि नारदजी से यह प्रश्न करने पर कि तुम्हारा अध्ययन इस विषय में कहाँ तक है, भगवान् सनत्कुमार के प्रति यह नारदजी की उक्ति है। इसमें ऋग्वेदादि के साथ इतिहास पुराण का पञ्चम वेद की संज्ञा से उल्लेख है। इसके द्वारा स्पष्ट है कि 'पुराण' का समय वैदिक काल के समकालीन है। यहाँ काल विभाग के प्रसङ्ग में 'पौराणिक काल' से हमारा प्रयाजन भगवान् श्री वेदव्यास-प्रणीत महाभारत और अष्टादश महापुराणों के रचना-काल से है।

महाभारत

'व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे ।

भूषणतयैव संज्ञां यदद्वितां भारती वहति ॥

पौराणिक काल में सबसे प्रथम प्रायः सभी महाकाव्य और नाटकों का उद्भव स्थान परमोत्कृष्ट महाकाव्य महाभारत उपलब्ध होता है। महाभारत के विषय में महाभारत ही में कहा है—

'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्पम् ।

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्मेहास्ति न तत्कचित् ॥

भारतीय साहित्य में वेदों के पश्चात् प्राचीन सर्वमान्य ग्रन्थों में महाभारत का सर्वोच्च स्थान है। क्या धार्मिक, क्या राजनैतिक, क्या व्यावहारिक, क्या ऐतिहासिक, क्या भू-गौलिक और क्या काव्य भारतवर्धीय सम्पूर्ण साहित्य प्रायः महाभारत पर अवलम्बित है। इस ग्रन्थरत्न के महत्व पर केवल भारतवर्षीय ही नहीं, किन्तु सुप्रसिद्ध अनेक पाश्चात्य विद्वान मि० हापकिन्स,¹ विंटरनीज,² मेकडोनेल,³

1. Cambridge History of India, Vol. 1 p. 256.

2. "The Mahabharat is not ONE poetic production at all, but rather a whole literature."--Winternitz : History of Indian Literature, Vol. 1, p. 316 ".....(Mahabharat) the most remarkable of literary productions." Ibid p. 321.

3. ".....the Mahabharat.constitutes a moral encyclopaedia, in an inexhaustible mine of Proverbial Philosophy."

---Macdonell : Sanskrit Literature, p. 378.

ओनरेविल मार्टिन स्टुवर्ट एलफिन्स्टन,^१ सिलविनलेवी^२, प्रोफेसर हिरीन^३ और मोनियर विलियम्स^४ आदि भी मुख्य हैं।

महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु इतिहास के साथ-साथ जिस प्रकार धार्मिक, नैतिक और व्यावहारिक आदि विषयों का इसमें समावेश है, उसी प्रकार काव्य-दृष्टि से इसे देखा जाय तो यह अनेक महा-काव्य लौर नाटकों का भी उद्भव स्थान है। यद्यपि काव्य संज्ञा से यह नहीं पुकारा जाता है, किन्तु महाभारत को स्वयं भगवन् श्री वेदव्यास और परमेष्ठि ब्रह्माजी द्वारा 'काव्य' संज्ञा दाँ गई है, जैसा कि—

'उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्' ॥ १६१
'त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात्काव्यं भविष्यति' ॥ १७२
—महाभारत आदि पर्व ।

इन वाक्यों से स्पष्ट है। महाभारत की काव्य-संज्ञा केवल नाम मात्र ही नहीं, किन्तु यह काव्य-शैली की रचना से भी परिपूर्ण है^५। सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने

1. "Milman and Schlegel vie with Wilson and Jones in their applause.....we learn the simplicity and originality of composition, the sublimity, grace and pathos.....the natural dignity of the actors....."
 2. "The Mahabharat is not only the largest, but also the grandest of all epics " P. C. Roy's Translation of Mahabharat.
 3. Historical Researches into Politics etc. of the Principal Nations of the Antiquity Vol 11 ch. 1 p. 164.
 4. ".....a Vast cyclopaedia or thesaurus of Hindu mythology, legendry, history, ethics and philosophy."
 5. ".....abounds with the poetical beauties of the first order...." James Mill & H. H. Wilson : History of British India Vol. 11, ch. 9, p. 52.
- Mountstuart Elphinstone : The History of India, p. 170.
--Sir Monier Monier--Williams: Indian Wisdom p. 370.

संस्कृत साहित्य का इतिहास

इसके अनेक पद्य रीति-ग्रन्थों में उदाहरण रूप में उद्धृत किये हैं। श्री आनन्द-वर्धनाचार्य ने शान्तिपर्व का—

‘अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदास्तणाः ।

श्रः श्रः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना ॥

यह पद्य ध्वन्यालोक (पृ० १५५) में अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि के उदाहरण में और—

‘अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्युसजघनस्पर्शी नीबीविस्त्रंसनः करः’ ॥

—स्त्री पर्व अ० ६४

इस पद्य को ध्वन्यालोक (पृ० १६६) में रसां के विरोधाविरोध प्रकरण में उद्धृत किया है। और आचार्य मम्मट ने भी काव्यप्रकाश (उल्लास पृ० २३३)^१ में इसे अपराङ्गगुणीभूत व्यञ्जक के उदाहरण में रखा है, और—

‘अलंस्थित्वा शमशानेऽस्मिन्’.....

—शान्तिपर्व आपद्धर्म (३।१५३)

इत्यादि कुछ पद्य काव्यप्रकाश (उल्ला० ३।३ पृ० १६६) में प्रवन्धध्वनि के उदाहरण में दिया है। महाभारत में अलङ्कार-गर्भित रचना तो स्थल स्थल पर है, उसके अवतरण दिखाया जाना व्यर्थ विस्तार है। इसके अतिरिक्त किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित आदि अनेक महाकाव्य एवं शकुन्तला, वेणी-संहार आदि अनेक नाटकों का मूलस्रोत महाभारत ही है। इसके द्वारा सिद्ध है कि महाभारत स्वयं ही महाकाव्य नहीं, किन्तु अन्य अगणित महाकाव्यों और नाटकों का आधारभूत और उनके प्रणेता महान् साहित्याचार्य एवं महाकवियों के लिए आदर्श भी है। इस विषय में महाभारत में प्रथम ही उल्लेख किया गया है—

‘इतिहासोत्तमादस्माज्ञायन्ते कविबुद्धयः’ । २।३७२

‘इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते ॥ २।३७६

—आदि पर्व

^१ श्री वामनाचार्य टीका निर्णयसागर प्रेस द्वितीय संस्करण ।

महाभारत पर एतदेशीय और विदेशीय अनेक विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने इसके निर्माता और रचनाकाल के विषय में भी आलोचनात्मक विवेचन किया है। उनमें यद्यपि परस्पर कुछ मतभेद अवश्य है, पर उन सभी लेखों का मूलखोत एक ही है—वे सभी लेख पाश्चात्य दृष्टि-कोण से ही लिखे गये हैं। उन लोगों का मत है कि भगवान् वेदव्यासजी-प्रणीत 'भारत' इतना बड़ा ग्रन्थ नहीं था, बाद में अन्य विद्वानों द्वारा यह परिवर्द्धित किया गया है¹। केवल पाश्चात्य लेखकों ने ही नहीं, किन्तु पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर कुछ एतदेशीय विद्वानों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है²। सर्वेद आश्वर्य तो यह है कि राय ब्रह्मदुर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० बी०³ जिनका महाभारत के आलोचकों में प्रधान स्थान है, पाश्चात्य लेखकों की आलोचना करते

1. Winternitz : A History of Indian Literature Vol. 1 pp. 318-320; 324-326; 459.
Macdonell : Sanskrit Literature p. 284.
Weber : History of Indian Literature p. 187.
Max Muller : History of Ancient Sanskrit Literature pp. 43-47.
Mountstuart Elphinstone : The History of India p. 169.
Vincent A. Smith : The Oxford History of India p. 28.
Lionel D. Barnett : Antiquities of India p. 11.
2. B. S. Dalal : A History of India p. 276.
Rameshchandra Dutt : History of Civilisation in Ancient India Vol. 1 p. 155.
R. C. Majumdar : Ancient Indian History p. 266

इस श्री वैद्यजी ने 'महाभारत का उपसंहार' नामक एक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक ग्रन्थ महाराष्ट्र भाषा में लिखा है। उसका हिन्दी अनुवाद स्वर्गीय पं० श्री माधवराव सप्ते का किया हुआ भारतमीमांसा नामक ग्रन्थ लक्ष्मी नारायण प्रेस बनारस में सुदृश्टि हुआ है। और उन्होंने अंग्रेजी में भी 'The Mahabharata: A Criticism' नामक ग्रन्थ महाभारत पर लिखा है, ये दोनों ही ग्रन्थ बड़े महत्वपूर्ण हैं।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

हुए भी इस संक्रामक रोग से न बच सके, श्री वैद्य महाराय कहते हैं, कि—

“महाभारत ग्रन्थ में करीब १ लाख श्लोक हैं। यह अत्यंभव जान पड़ता है कि इतने बड़े ग्रन्थ की रचना एक ही मनुष्य ने की हो। व्यासजी के ग्रन्थ को वैशंपायन ने बढ़ाया और वैशंपायन के ग्रन्थ को सौति ने बढ़ा कर एक लाख श्लोकों का कर दिया।”

—महाभारत-मीमांसा पृ० ५

श्री वैद्य जैसे महाभारत के अध्ययनशील इतिहासज्ञ विद्वान् की इस कल्पना पर बड़ा आश्र्य होता है, जब कि वे यह भी कहते हैं कि—

“वैशंपायन द्वारा रचे गये ग्रन्थ में २४००० श्लोक थे।……… सौति ने एक लाख श्लोकों का महाभारत बना डाला।”

—महाभारत-मीमांसा पृ० ८।

इस अवतरण द्वारा स्पष्ट है कि आप २४००० से अधिक अर्थात् ७६००० श्लोक सौति द्वारा रचित मानते हैं। क्या ही विलक्षण कल्पना है, सौति जैसे एक व्यक्ति द्वारा ७६००० श्लोकों की रचना तो आप संभव स्वीकार करते हैं किन्तु भगवान् श्री वेदव्यासजी जैसे एक महानुभाव द्वारा १ लाख श्लोकों की रचना असंभव बतलाते हैं।

अस्तु, व्यासजी जैसे त्रिकालज्ञ महानुभावों की तो बत ही क्या है जब कि विक्रम की १८ वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य पाद गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी प्रणीत ६ लक्ष श्लोक संख्या के संस्कृत ग्रन्थ यद्यपि उक्त सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्यों के समीप सुरक्षित हैं^१। भक्तकवि श्री सूरदासजी, एवं महाराष्ट्र महाकवि मोरोपन्त आदि के ग्रन्थ भी अनुष्टुप् श्लोकों की एक लक्ष की संख्या तक उपलब्ध हैं। यही नहीं, विक्रम की वर्तमान शताब्दी के ही एक लेखक बूँदी-राज्याश्रित महाकवि मिश्रण सूर्यमलजी चारण-प्रणीत एक लक्षात्मक ‘वंशभास्कर’ ग्रन्थ संस्कृत

^१ देखो गोस्वामो श्री पुरुषोत्तमजी प्रणीत अवतार चादावली की भूमिका पृ० ४।

प्राकृत, शौरसेनी, मागधी और ब्रजभाषा का सुद्वित हुआ है। श्री वैद्य अपनी इस कल्पना की पुष्टि में कहते हैं—

“इसके प्रमाण में सौति का यह वचन है कि—

‘एकं शतसहस्रं च मयोक्तं वै निबोधत्’।

अर्थात् एक लाख श्लोकों का महाभारत मैंने कहा है। इससे स्पष्ट है”

—महा-मी० पृ० ५।

किन्तु इस श्लोकार्द्ध में प्रयुक्त जिस ‘मयोक्तं’ के आधार पर यह कल्पना की गई है, वह सर्वथा भ्रान्त है—इसके द्वारा श्री वैद्य की कल्पना की पुष्टि किसी प्रकार नहीं हो सकती, क्योंकि इस पद्मार्द्ध के प्रथम—

‘षष्ठिशतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम् ।

त्रिशच्छतसहस्राच्च देवलोके प्रतिष्ठितम् ॥

पित्र्ये पञ्चदशप्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश ।

एकं शतसहस्रं तु मनुष्येषु प्रतिष्ठितम् ॥

नारदो श्रावयेदेवानसितो देवलः पितन् ।

गन्धर्वयन्नरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः ॥

अस्मिन्तु मानुषे लोके वैशंपायन उक्तवान् ।

शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदांवरः ॥

एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत् ।

—महाभारत आदिपर्व ११०३-१०७ ।

यह उल्लेख है। इस अवतरण के अन्तिम पद्मार्थ में प्रयुक्त ‘एकं शतसहस्रं’ का (एक लाख का) सम्बन्ध वैशंपायन ऋषि और भगवान् वेदव्यासजी के साथ भी उसी प्रकार है, जिस प्रकार ‘मयोक्तं’ के प्रयोग द्वारा सौति के साथ है। अर्थात् वेदव्यासजी ने ६० लाख श्लोकों के महाभारत की रचना की, जिसमें ५६ लाख श्लोकात्मक ग्रंथ देवलोक आदि में श्री नारद आदि वक्ताओं के द्वारा कहा गया और शेष एक लाख श्लोकात्मक ग्रंथ मनुष्यलोक में वैशंपायन ऋषि ने राजा जन-

मेजय को कहा; वह एक लाख श्लोकों का महाभारत मेरा कहा हुआ आप सुनें^१ खेद है, श्री वैद्य ने 'मयोक्तं' के प्रथम जो पाठ ऊपर उद्धृत है, उस पर क्यों नहीं ध्यान दिया? अथवा ध्यान देकर भी दुराग्रहण ऐसा उल्लेख क्यों किया?

अनेक भ्रमात्मक कल्पनाओं के जाल में फँस कर विभिन्न लेखकों ने महाभारत में वर्णित बहुत से कथा-प्रसङ्गों को कालक्रम से अन्य विद्रानों द्वारा बड़ाया जाना बतलाया है^२। मिं० वेवर ने तो यह कहा है कि पाएडवों का चरित भी कल्पित है और महाभारत में पीछे से जोड़ा गया है^३। श्री रमेशचन्द्र दत्त ने पाएडवों का भारतीय युद्ध भी काल्पनिक बतलाया है^४। सर मोनियर विलियम्स ने तो यहाँ तक कहा है कि श्रीमद्भगवत्गीता भी—प्रक्षिप्त—पीछे से जोड़ी गई है^५। और मिं० विसेन्ट ए० स्मिथ ने केवल गीता ही नहीं महाभारत के सभी कथा-भाग को काल्पनिक बतलाने का दुस्साहस किया है^६। किन्तु मिं० वेवर आदि की इन कल्पनाओं को प्रोफेसर ई० वास्त्रोन् हापकिन्स (Hopkins) ने भी अनाधार बतलाया है^७। यही नहीं मिं० जे० डालमेन^८ (J. Dahl-

१. 'मयोक्तं' का अर्थ नीलकण्ठी टीका में—'मया उच्यमानं वैशंपायनेन उक्तं निवोधत अर्थतो बुध्यस्व' किया गया है। जिसका भाव यह है कि मेरे द्वारा कहे जाने वाला, वैशंपायन द्वारा कहा हुआ आप समझिये।
२. Winternitz : A History of Indian Literature. Vol 1. p. 459.
Mountstuart Elphinstone : The History of India p. 169.
Lionel D. Barnett : Antiquities of India p. 11.
Ramesh Chandra Majumdar : Outline of Ancient Indian History and Civilization, p. 266.
३. Weber : History of Indian Literature p. 136.
४. Ramesh Chandra Dutt : History of Civilization in Ancient India, Vol 1, p. 122.
५. Sir Monier Monier-Williams : Indian Wisdom p. 317.
६. Vincent A. Smith : The Oxford History of India pp. 29, 31.
७. Cambridge History of India, Vol. 1. p. 258.
८. J. Dahlmann : Das Mahabharata Als Epos Und Rechtsbuch.

mann), मिं० ओल्डनबर्ग^१ और मिं० सिलवियन लेवी^२ आदि, जो कि महाभारत के अत्यन्त अध्ययनशील प्रसिद्ध विद्वान् हैं, महाभारत को एक ही लेखक का निर्मित दृढ़ता के साथ स्वीकार करते हैं। किन्तु मिं० विन्टरनीज ने इनके मत को केवल यही कह कर अस्वीकार कर दिया है कि श्री वैद्य इस मत के विरुद्ध हैं जो कि एक भारतीय विद्वान् हैं^३। वैद्यजी ने यद्यपि मिं० वेवर आदि की बहुत सी अनाधार कल्पनाओं का मार्मिक खण्डन किया है, तथापि वे भी सौति द्वारा महाभारत का परिवर्द्धित किया जाना तो अवश्य कल्पना करते हैं, और इस अनाधार कल्पना को पुष्ट करने के लिये उन्होंने आदिपर्व के प्रथमाध्याय में धृतराष्ट्रोक्त—‘यदाशौषं’ पद्युक्त जो ६७ श्लोक प्राचीन वैदिक शैली के त्रिष्टुप् छन्दों में हैं, और जिनमें ऐसे बहुत से प्रसङ्ग वर्णित हैं, जिनके द्वारा यह कल्पना स्पष्ट निर्मूल सिद्ध हो जाती है, उन ६७ श्लोकों को भी सौति द्वारा जोड़ा हुआ बताते हैं^४। महाभारत के बहुत से कथा प्रसङ्गों के साथ-साथ आपने भगवान् श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर में विराट् रूप दिखाना भी सौति का कल्पित अनुमान किया है,^५ किन्तु आश्वर्य यह है कि भीष्मपर्वान्तर्गत श्री भगवद्गीता में वर्णित विराट् रूप का दिखाया जाना आप श्री व्यासजी द्वारा उज्जित स्वीकार करते हैं,^६ जब कि दोनों वर्णनों में अभूतपूर्वता एक ही समान है। अस्तु ।

अब दृष्टव्य यह है कि वैद्यजी ने जो यह कल्पनाएँ कीं, उनके लिये आपके पास प्रमाण क्या हैं। श्री वैद्य स्वयं स्पष्ट कहते हैं—

“व्यासजी के मूल ग्रन्थ और वैशंपायन के भारत में बहुत अंतर न होगा।

1. Oldenberg : Das Mahabharata.

2. Bhandarkar Com. Vol. pp. 99. Annals of Bhandarkar Institute, Vol. 1, Part 1.13 ff.

3. Winternitz : History of Indian Literature Vol. 1 p. 459 f. n. 1

४ महाभारत मीमांसा पृ० ८२, ८३, ८७, ८५, ७६, ५५, ५५९, ५६०, ५६५ ।

५ महाभारत मीमांसा पृ० १२

६ महाभारत मीमांसा पृ० ३०

परंतु भारत में २४००० श्लोक थे और महाभारत में एक लाख श्लोक हो गये हैं। तब हमें मानना पड़ता है कि यह अधिक संख्या सौति की जोड़ी हुई है। परंतु ऐसा मानते हुए भी………कोई दृढ़ प्रमाण नहीं दिया जा सकता। इस विषय का विचार साधारण अनुभव से ही किया जा सकता है”।

—महा० मीमांसा पृ० १७

बस, जिन वैद्यजी के मत के आधार पर मि० विन्टरनीज ने मि० डालमैन और मि० सिलवियन लेवी जैसे विद्वानों का मत अमान्य समझा है, उन श्री वैद्यजी द्वारा महाभारत जैसे आर्ष-ग्रन्थ का हृ भाग सौति द्वारा परिवर्द्धित बतलाने का भयंकर दुस्साहस करने का केवल उनका अनुमान मात्र आधार है। किन्तु वैद्यजी ने २४००० श्लोकों की रचना मात्र श्री व्यासजी की जिस आधार पर कल्पना की है, उसका महाभारत में इस प्रकार उल्लेख है—

‘चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ।

उपाख्यानैर्विना तावद्वारतं प्रोच्यते बुधैः ॥’

—आदि पर्व ११०२

व्यान देने योग्य बात है कि इसमें २४००० श्लोकों की संख्या उपाख्यानों के कथाविभाग के बिना स्पष्ट कही गई है। किंर एक बात यह भी है कि यदि सौति को अपने निर्मित ७६००० श्लोकों को श्री व्यासजी की कृति बतलाना ही अभीष्ट होता तो वह २४००० संख्या का उल्लेख ही क्यों करता। अतएव श्री वैद्य महाशय की यह कल्पना सर्वथा निर्मूल है।

महाभारत का निर्माण-काल

महाभारत के निर्माण-काल के विषय में भी विभिन्न लेखकों ने अनेक निर्मूल कल्पनाएँ की हैं। मि० हापकिन्स^१, विन्टरनीज^२, मेकडानल^३, विन्सेन्ट स्मिथ^४,

1. Cambridge History of India, Vol. I, p. 258.

2. Winternitz : History of Indian Literature, Vol. I, p. 465

3. Macdonell : Sanskrit Literature, p. 285-287.

4. Vincent A. Smith : Oxford History of India, p. 23

और मिं० मौनयर विलियम्स^१ आदि पाश्चात्य विद्वानों के भी भिन्न भिन्न मत हैं। उन्होंने महाभारत का निर्माण-काल ईसवी सन् के पूर्व ५०० वर्ष से ईसवी सन् के पश्चात् चौथी शताब्दी तक कल्पना किया है। किन्तु इनके मतों के विरुद्ध अनेक युक्तियाँ दिखलाए कर श्री वैद्य महाश्रय ने इनकी कल्पनाओं का पर्याप्त खण्डन कर दिया है। श्री वैद्यजी ने महाभारत के निर्माण-काल को दो भागों में विभक्त करते हुए, एक काल में—भारतीय युद्ध के बाद श्री वेदव्यासजी द्वारा भारत का निर्माण किया जाना बताया है, और वेदव्यासजी का समय श्री वैद्य भारतीय युद्ध के समय ईसवी सन् के ३१०१ वर्ष पूर्व स्वीकार करते हैं और मूल भारत का निर्माण-काल भी वे ईसवी सन् के ३००० वर्ष पूर्व स्वीकार करते हैं। किन्तु वर्तमान उपलब्ध महाभारत को श्रीवैद्य ईसवी सन् के पूर्व २०० से ४०० वर्ष तक सौति द्वारा परिवर्द्धित मानते हैं^२। इन कल्पनाओं का यदि कोई अकाल्य प्रमाण प्रदर्शित किया जाता तो हमको स्वीकार करने में कोई आपत्ति न थी, पर पश्चात्य विद्वानों के जिन भ्रान्त आधारों पर यह मत स्थिर किया गया है, उनमें प्रधानतया उल्लेखनीय ये हैं—
(१) मेगस्थिनीज नामक ग्रीक विद्वान् सम्राट चन्द्रगुप्त के समय ईसवी सन् के ३०० वर्ष पूर्व भारतवर्ष में आया था, उसने अपनी 'इंडिका' नामक पुस्तक में महाभारत विषयक उल्लेख नहीं किया, जब कि उसने भारतवर्ष विषयक अपनी ज्ञात की हुई बहुत सी बातों का उल्लेख किया है अतः मि० वेबर^३ और श्रीवैद्य की कल्पना है कि उस समय एक लक्षात्मक महाभारत न होगा^४।
(२) डायोन क्रायसोस्टम यूनानी विद्वान् ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में दक्षिण भारत के पारङ्ग्य, केरल आदि भागों में आया था, उसने हिन्दुस्तान में एक लाख श्लोकों के इलियड (महाकाव्य) का उल्लेख किया है। अतः श्री वैद्य

1. C. V. Vaidya, The Mahabharata : A Criticism.

2. C. V. Vaidya, The Mahabharata : A Criticism
महाभारत मीमांसा पृ० १४०, १५२।

3. Weber : History of Indian Literature, p. 186.

4. महाभारत मीमांसा पृ० ४४।

का मत है कि ईसवी सन् के २५० वर्ष पूर्व महाभारत तैयार होकर ईसवी सन् ५० में डायोन क्रायसोस्टम के दण्डिगत हुआ होगा^१।

(३) महाभारत में 'यवन' शब्द का उल्लेख है, इसपर मिठो वेवर कहते हैं कि महाभारत ईसवी सन् के कई शताब्दियों बाद का है^२। श्री वैद्य कहते हैं कि 'यवन' शब्द का प्रयोग संभवतः सिकन्दर के लिये है अतः महाभारत की पूर्व-सीमा ईसवी सन् के पूर्व ३००० वर्ष से अधिक पहिले की नहीं^३।

(४) महाभारत में छन्दों का प्रयोग।

अच्छा, अब विचारणीय यह है कि उपर्युक्त प्रमाणों पर इस सत की कहाँ तक पुष्टि होती है, देखिए—

(१) मेगस्थिनीज के ग्रन्थ के विषय में स्वयं श्री वैद्य स्वीकार करते हैं कि— “वह ग्रन्थ नष्ट-भ्रष्ट हो गया है—सम्पूर्ण नहीं मिलता”^४। ऐसी स्थिति में इसका मूल्य ही क्या हो सकता है? संभव हैं, जो अंश अनुपलब्ध हैं, उसमें महाभारत का उल्लेख हो। स्वयं वैद्य महाशय इस प्रमाण को निर्वल स्वीकार करते हैं^५।

(२) क्रायसोस्टम द्वारा महाभारत का सर्वप्रथम उल्लेख किया जाना तभी माना जा सकता था, जब कि मेगस्थिनीज विषयक प्रथम प्रमाण पर्यात समझा जाता। इसलिये महाभारत की पूर्व सीमा के लिये वह उपर्युक्त नहीं हो सकता।

(३) 'यवन' शब्द के प्रयोग से सिकन्दर का ही सम्बन्ध स्थापन कर लेना यह तो

१. महाभारत मीमांसा पृ० ४४; Weber : History of Indian Literature, p. 186.

२. Weber : History of Indian Literature, p. 188.

३. महाभारत मीमांसा पृ० ४५।

४. C. V. vaidya : The Mahabharata : A Criticism., p. 13.

५. महाभारत मीमांसा पृ० ४४।

बहुत ही अविश्वसनीय कल्पना है, जब कि भारतवर्ष का यूनानियों से परिचय ईसवी सन् के ८००-६०० वर्ष पूर्व से होना श्री वैद्य भी स्वीकार करते हैं^१। और वह भी यूनानियों के परिचय की उत्तर सीमा ही समझी जा सकती है, क्योंकि इसके प्रथम का इतिहास ही उपलब्ध नहीं है। जो कुछ हो, प्रथम तो यही सन्देहास्पद है कि महाभारत में प्रयुक्त 'यवन' शब्द से हम यूनानियों का अर्थ ही ग्रहण करें इसमें प्रमाण ही क्या? फिर ईसवी सन् के ६०० वर्ष पूर्व के प्रथम किसी यवन जाति से भारतवर्ष परिचित न था इसका भी क्या प्रमाण? क्या किसी भी देश के प्राचीन इतिहास से यह सिद्ध हो सकता है? प्रत्युत इस कल्पना के विरुद्ध महाभारत में ही यह अन्तःप्रमाण मिलता है कि 'जिस यवन-राज को वीर्यवान् पाण्डुराज भी परास्त नहीं सका था, उसे अर्जुन ने वश कर लिया—

'न शशाक वशेकर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान् ।
सोऽर्जुनेन वशन्नीतो राजासीद्यवनाधिपः' ॥

—आदिपर्व १३१२०, २१।

इसके द्वारा सिद्ध है कि महाभारत के रचना-काल में ही नहीं किन्तु उसके भी प्रथम यवनों से परिचय मात्र ही नहीं उसके साथ युद्ध किये जाने का भी महाभारत में उल्लेख है। भारत का युद्ध-काल वैद्य ने ईसवी सन् ३१०१ वर्ष पूर्व स्वीकार किया है। संभव है इस अवतरण के उल्लेख को सौति द्वारा कल्पित कहने का साहस न किया जायगा, क्योंकि न तो इसमें धार्मिक प्रसङ्ग ही है और न कोई ऐसी अलौकिक घटना ही है, जिसे समावेश करना सौति ने महत्वपूर्ण समझा हो। इसमें अर्जुन के पराक्रम का दिग्दर्शन मात्र है, किन्तु महाभारत युद्ध-प्रसङ्गों में अर्जुन के अभूतपूर्व पराक्रम का जो वर्णन है, उसकी अपेक्षा यह वर्णन सर्वथा अगण्य है। अतएव यह कल्पना भी निर्मूल है, देखिए स्वयं वैद्य महाशय क्या कहते हैं—

^१ महाभारत मीमांसा पृ० ४६।

“इस दृष्टि से शक यवनों के राज्य के पहले भी महाभारत की रचना हो सकती है।……‘इसका कहीं उल्लेख नहीं है कि पहिले कभी हिन्दुस्तान पर म्लेच्छ लोगों की चढ़ाई नहीं हुई’।

—महाभा० मी० ४० ७८

(४) छन्दों के प्रयोग के सिद्धान्त को भी श्री वैद्य स्वयं काल-निर्णय में अनुपयोगी स्वीकार करते हैं। ध्यान देने योग्य वात तो यह है कि श्री वैद्य—“सन्ति लोका वहवस्ते नरेन्द्र” इस पद्य का उदाहरण दिखलाकर, कहते हैं—“जिन-जिन स्थानों पर इस नमूने के ल्लोक पाए जाते हैं, वे बहुत प्राचीन भाग हैं”^१। परन्तु आश्वर्य है कि फिर भी “यदाश्रौषं” पद के प्रयोग वाले पद्य—जिनके विषय में पहले उल्लेख किया गया है, वे इसी त्रिष्टुप् छन्द में वैदिक शैली के अनुसार हस्व-दीर्घ के नियम रहित हैं, उनको आप सौति द्वारा प्रणीत बताते हैं^२।

इनके सिवा और भी कुछ युक्तियों द्वारा इन कल्पनाओं की पुष्टि की गई है, किन्तु वे सब कल्पनाएँ असंगत एवं अनाधार हैं, जबकि श्री वैद्य ने भी निर्णीत रूप से कुछ नहीं कहा है और जहाँ पर निर्णीत जैसे उनके वाक्य हैं, वे भी पूर्व-पर के विवेचन द्वारा आभास मात्र प्रतीत होते हैं। ऐसी परिस्थिति में इन कल्पनाओं के आधार पर महाभारत का न तो समय-समय पर बढ़ाया जाना ही सिद्ध हो सकता है और न उसके परिवर्द्धित होने का काल ईसवी सन् के दो चार शताब्दियों के पूर्व प्रमाणित हो सकता है। अतएव महाभारत का निर्माण-काल भारतीय युद्ध के अत्यन्त निकटवर्ती है, जैसा कि महाभारत के अन्तःप्रमाणों से सुस्पष्ट है, इसके विशद्ध कोई भी विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

—:—

१ महाभारत मीमांसा पृ० ७२।

२ महाभारत मीमांसा पृ० ७३।

अग्निपुराण

भरत मूलि के नाट्यशास्त्र के बाद अग्निपुराण ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें हमको साहित्य-विषयक सबसे प्रथम साहित्यक नियमों का निरूपण मिलता है। भारतीय साहित्य में अग्निपुराण का स्थान अत्यन्त उच्च है। अन्य पुराणों में, सर्वविसर्गादि पौराणिक विषयों का ही प्रायः वर्णन है। किन्तु अग्निपुराण में पौराणिक विषयों के साथ-साथ अन्य सभी ज्ञातव्य विषयों का समावेश है। ऐसा कोई विषय दी नहीं जिसका वर्णन इसमें न हो। अतएव साहित्य का विषय भी अग्निपुराण के ३३७ से ३४७ तक ११ अध्यायों में निरूपण किया गया है। नाट्यशास्त्र के बाल साहित्य-विषयक ग्रन्थ होने के कारण उसमें इसी विषय का विस्तृत निरूपण है और अग्निपुराण में अन्य ज्ञातव्य विषयों के साथ साहित्य का भी समावेश किया गया है, अतएव संक्षिप्त अवश्य है किन्तु संक्षिप्त होने पर भी महत्वपूर्ण है। इसमें निरूपित साहित्य विषय का विवेचन करने के प्रथम अग्निपुराण के काल-निर्णय के विषय में कुछ विचार प्रकट करना आवश्यक है। अग्निपुराण यद्यपि भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी प्रणीत सुप्रसिद्ध अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत है, किन्तु इसके विषय में भी पाश्चात्य लेखक और उनके अनुयायी एतदेशीय विभिन्न लेखक अपने अपने कल्पना जाल में फँसे हुए दृष्टिगत होते हैं—

(१) ब्राह्म सुशील कुमार दे^१ अग्निपुराण के अलङ्कार-प्रकरण का समय दंडी और भामह के पश्चात् और 'ध्वन्यालोक' के वृत्तिकार श्री आनन्दवर्जनाचार्य से प्रथम, ईसा की नवीं शताब्दी के लगभग मानते हैं।

(२) श्री काणे^२ कहते हैं, कि अग्निपुराण सन् ७०० ई० के पश्चात् का है। और उसका काव्य विषयक अङ्ग ६०० ई० के भी पीछे का है। अच्छा, अब हम श्री काणे के मत पर ही क्रमशः विचार करना युक्ति-युक्त

१ 'हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स,' जिल्ड १, पृष्ठ १०२-४।

२ 'साहित्यदर्पण' की अँग्रेजी भूमिका, पृष्ठ ३,४,५।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

समझते हैं, क्योंकि उसमें उनके पूर्ववर्ती प्रायः सभी लेखकों के मत सम्मिलित हैं। श्री काणे—

(क) अग्निपुराण के अध्याय ३५६-३६६ में वर्णित कोप विषय में, अमरकोष का कुछ साम्य उपलब्ध होने के कारण, उसे अमरकोष से लिया जातलाते हैं। अमरकोष का समय मि० मैक्समूलर साहिव ने ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व माना है, क्योंकि इसका अनुवाद चीनी भाषा में छठी शताब्दी में हो चुका था^१ और डा० होरनेल^२ इसका समय '६२५ ई० से १४० ई०' के मध्य में मानते हैं। और मि० ओक ४०० ई० मानते हैं। श्री काणे कहते हैं कि अग्निपुराण में इस लोकप्रिय कोप का समावेश कर लिया गया है।

अब प्रथम तो यही प्रश्न है कि अमरकोष ६०० ई० में लोकप्रिय हो गया था? यद्यपि इस समय यह कोप अवश्य ही अधिक प्रचलित और सुप्रसिद्ध है, किंतु इसके द्वारा यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि इसे यह गौरव प्रारम्भ में ही प्राप्त हो गया था। इसके लिये प्रमाण ही क्या जबकि उस समय में किसी ग्रन्थ के प्रचार और लोकप्रिय होने के लिये केवल हस्तलिपि मांत्रं का ही साधन होने से अत्यन्ताधिक समय की अपेक्षा थी। फिर अमरकोष से प्रथम अन्य कोई कोप न था, इसका भी क्या प्रमाण जब कि इसके विरुद्ध अमरकोष के प्रारम्भ में स्वयं अमरसिंह ने लिखा है—

समाहृत्यान्यतंत्राणि संचिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः ।

संपूर्णमुच्यते वर्गेन्नामलिंगानुशासनम् ॥

१।३

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अमरसिंह ने अपने पूर्ववर्ती कोषों से संग्रह करके अमरकोष लिखा है। संभव है अमरकोष के आवार-रूप कोषों में

१ 'इण्डिया : ह्याट् कैन इट टीच अस?', पृष्ठ २३२।

२ 'जन्मल आव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', १९०६, पृष्ठ ९४०।

अग्निपुराण का कोष भाग भी हो । क्या इस कारण से अग्निपुराण और अमर-कोष के कुछ भाग में साम्य नहीं हो सकता ? किसी भी दो ग्रन्थों के विषय-विशेष में साम्य उपलब्ध होने पर जब तक कोई दृढ़ प्रमाण प्राप्त न हो, यह नहीं कहा जा सकता कि किसने किससे सहायता ली है । फिर दूसरी बात यह भी है कि अग्निपुराण में यह विषय अत्यंत संक्षिप्त है और अमर में विस्तृत, अतएव श्री काणे की कल्पना से यह कल्पना अधिक मान्य हो सकती है कि अमरसिंह ने अनेक ग्रन्थों से—जिनमें सम्भव है अग्निपुराण भी हो—नाम संग्रह किए हों और जहाँ-जहाँ से जो जो प्रकरण लिया हो उन्हें लगभग उसी रूप में अपने ग्रन्थ में रख दिया हो । इस धारणा के विरुद्ध क्या प्रमाण है ? जब कि अमरसिंह के विषय में तो ‘अमरसिंहोहि पापीयान् सर्वे भाष्यमचूचुरत्’ यह किंवदंतो भी प्रसिद्ध है ।

(६) श्री काणे और दे वाबू कहते हैं—“रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपहृति और समाधि अलङ्कारों की परिभाषाएँ जो अग्निपुराण में (अध्याय ३४५ के २२, २५, २७, २८ और अध्याय ३४५ के १३, १८ श्लोकों में) दी गई हैं, वे दंडों के काव्यादर्श में क्रमशः (द्वितीय परिच्छेद की ६६, २२१, ३२३, १६६, ३०४ और प्रथम परिच्छेद की ६३ की कारिकाओं से) सर्वथा मिलती हैं, और कुछ वाक्य एवं पद भी दोनों में समान हैं, जैसे—

एवं चतुष्पदी तत्र वृत्ता जातिरिति द्विधा ।

—अग्नि० ३३७।२१, काव्या० १।११

साविद्या नौस्तितीर्षणां गम्भीरं काव्यसागरम्

—अग्नि० ३३७।२३, काव्या० १।१२

अतः यह प्रकरण अग्निपुराण में दरडी के काव्यादर्श से लिया गया है ।” अच्छा, अब यह देखना है कि श्री काणे आदि की इस कल्पना में कहाँ तक सार है, इसके लिये हमको अग्निपुराण और काव्यादर्श में निरूपित

संस्कृत साहित्य का इतिहास

अलङ्कार विषय को संक्षिप्त रूप से प्रदर्शित करना उपयुक्त होगा । अग्निपुराण के ३४४वें अध्याय में अर्थालङ्कार का निरूपण इस प्रकार प्रारम्भ किया गया है—

“स्वरूपमथ॑ साद॒श्यमुत्पेक्षा॒ अतिशयावपि ।

विभावना विरोधश्च हेतुश्च समर्थ्यावपि” ॥

इसमें आठ अलङ्कारों के नाम निर्दिष्ट हैं । फिर इसके आगे क्रमशः इनकी परिभाषाएँ दी गई हैं और इनके उपभेद दिखाए गए हैं, जिनको हम काव्यादर्श में दिखाए हुए उपभेदों के साथ स्पष्ट करते हैं—

अग्निपुराण

काव्यादर्श

क्रमसंख्या

क्रमसंख्या

(१) स्वरूप—

स्वभावोक्ति

१

(अ) निज

(स्वरूप के नाम से नहीं है और
न इसके उपभेद दिखाए गए हैं)

(आ) आगंतुक

(२) सादृश्य—

(‘सादृश्य’ नहीं है)

२

(अ) उपमा

उपमा

३

(आ) रूपक

रूपक

३१

(इ) सहोक्ति

सहोक्ति

६

(ई) अर्थातरन्यास

अर्थातरन्यास

८

(३) उत्पेक्षा

उत्पेक्षा

१२

(४) अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति

११

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति

२५

(५) विभावना

विभावना

८

(६) विरोध

विरोध

२७

(७) हेतु

हेतु

१३

(अ) कारक

(अ) कारक

अग्निपुराण

(आ) ज्ञापक

(आ) ज्ञापक

(इ) चित्र और इसके अनेक भेद

(द) 'सम'। इसको अग्निपुराण में शब्दार्थ उभयालंकार माना है। और आक्षेप, समासोक्ति, अपहृति एवं पर्यायोक्त ये चार अलंकार, (जो काव्यादर्श में स्वतंत्र अलंकार लिखे गए हैं,) इस 'सम' के भेदों में एक 'अभिव्यक्ति' भेद है, इसके अन्तर्गत आक्षेप ध्वनि के उपभेदों में लिखे गए हैं जैसा कि आगे के विवरण से विदित हो सकता है।

सम

१ प्रशस्ति	२ कांति	३ औचित्य	४ संक्षेप	५ यावदर्थता	६ अभिव्यक्ति
१ प्रेमोक्ति	२ प्रियोक्ति	१ ऊर्जस्वी	२ मृदुसंदर्भ		

१ श्रुति-शब्द स्वार्थसमर्पण

२ आक्षेप ध्वनि

१ नैमित्तिकी

२ परिभाषिकी

१ मुख्या

२ औपचारिका

१ गौणी

२ लाक्षणिका

अनंत

पाँच प्रकार को

समाधि

काव्यादर्श में 'सम' नामक कोई अलङ्कार ही नहीं माना गया है और न इसके भेदोपभेद ही दिखाए गए हैं, केवल इनमें आक्षेप, समासोक्ति, अपहुति और पर्यायोक्त ये चार स्वतंत्र अलङ्कार काव्यादर्श में लिखे गए हैं।

इस विवरण द्वारा विदित होगा कि अग्निपुराण में केवल १५ अलङ्कारों का निरूपण है, जबकि काव्यादर्श में इन १५ के सिवा २२ अलङ्कार और बढ़ा कर ३७ अलङ्कारों का निरूपण है। और १५ अलङ्कार जो अग्निपुराण में निरूपित हैं उनमें भी न तो काव्यादर्श के क्रम का ही अनुसरण है और न उसकी वर्णन शैली का। केवल एक स्वभावोक्ति अलङ्कार ही दोनों में ऐसा है जिससे अर्थालङ्कारों के वर्णन का प्रारम्भ होता है, किन्तु उसके भी नाम में भिन्नता है—काव्यादर्श में स्वभावोक्ति अथवा जाति लिखा है, जब कि अग्निपुराण में उसका 'स्वरूप' के नाम से उल्लेख है। काव्यादर्श में उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थातरन्यास पृथक् पृथक् स्वतंत्र रूप से क्रमशः २, ३, ३१, ६ की क्रम-संख्या में हैं किन्तु अग्निपुराण में 'साहश्य' नामक एक अलङ्कार (जिसकी क्रम-संख्या २ है) माना गया है, और उसके ये उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थातरन्यास चार भेद माने गए हैं। काव्यादर्श में आक्षेप, समासोक्ति, अपहुति और पर्यायोक्त ये चार अलङ्कार पृथक् पृथक् स्वतंत्र लिखे गए हैं—एक के साथ दूसरे का कुछ वनिष्ट सम्बन्ध नहीं बताया गया है, किन्तु अग्निपुराण में इन चारों को एक पृथक् वर्ग में—'सम' नामक एक शब्दार्थ-उभयालङ्कार की संज्ञा बताकर, उस सम के छँ भेदों में एक अभिव्यक्ति का एक आक्षेप ध्वनि भेद बता कर, उस आक्षेप ध्वनि के अन्तर्गत इन चारों अलंकारों को दिखाया है। काव्यादर्श में इस शैली की गंध भी नहीं उपलब्ध होती है। ऐसी परिस्थिति में काव्यादर्श का अग्निपुराण में समावेश किया जाना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता। फिर, काव्यादर्श में उपमा के बच्चीस उपभेद दिखाये गये हैं किन्तु अग्निपुराण में केवल बाईंस, और उन बाईंस में भी तेरह के नामों में ही^१ समानता है। पाँच ऐसे हैं

^१ १ धर्मोपमा, २ वस्तूपमा, ३ नियमोपमा, ४ अनियमोपमा, ५ बहूपमा,

जिनकी परिभाषाओं में कुछ साम्य होने पर भी नाम भिन्न हैं^१। और चार^२ ऐसे हैं जिनका काव्यादर्श में नामोल्लेख ही नहीं है। अतः स्पष्ट है कि काव्यादर्श और अग्निपुराण में महान असमानता है।

(ग) अग्निपुराण में अलङ्कारों की अल्प संख्या जो श्री भरत मुनि के नाथ-शास्त्र से कुछ ही अधिक है, और उनका साधारणतया निरूपण किया जाना हमको विकासोन्मुख प्रगतिशील अलङ्कार शास्त्र के दूसरे सोपान के रूप में दृष्टिगत होता है। यदि यह कहा जाय कि अग्निपुराण में अलङ्कार विषय का संक्षिप्त वर्णन है, तो हम इस बात को स्वीकार करते हैं। किन्तु इसके द्वारा यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि इसमें काव्यादर्श का संक्षिप्त समावेश किया गया है। यदि यह मान भी लिया जाय तो प्रश्न होता है कि अग्निपुराण का लक्ष्य काव्यादर्श का विषय संक्षिप्त में समावेश करने का ही होता, तो उपमा के इतने अधिक उपमेद, जो कि २२ दिखाये गये हैं, दिखाने की ऐसी क्या आवश्यकता थी और अग्निपुराण में काव्यादर्श के उन प्रधान अलङ्कारों को क्यों छोड़ दिया जाता—यहाँ तक कि उनका नामोल्लेख भी नहीं किया गया है, जो कि उपमेदों की अपेक्षा अत्यंत आवश्यक थे। यह कदापि सम्भव नहीं कि जिस ग्रन्थ का विषय लिया जाय उसका आवश्यक प्रधान विषय छोड़कर अनावश्यक गौण विषय ले

६ समुच्चयोपमा, ७ मालोपमा, ८ विक्रियोपमा, ९ अद्भुतोपमा, १० मोहोपमा, ११ संशयोपमा, १२ प्रशंसोपमा और १३ निदोपमा।

^१ काव्यादर्श में—१ अन्योन्योपमा, २ विपर्यासोपमा, ३ निर्णयोपमा, ४ अतिशयोपमा, ५ समानोपमा है। अग्निपुराण में इनके स्थान में, १ परस्परोपमा, २ विपरीतोपमा, ३ निश्चयोपमा, ४ साधारणी अतिशायिनि, सदृशी ये नाम हैं।

^२ १ व्यतिरेकोपमा, २ गमनोपमा, ३ कल्पितोपमा और ४ किंचित सदृशी ये अग्निपुराण में हैं, किन्तु काव्यादर्श में नहीं।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

लिया जाय। विशेष ध्यान देने योग्य तो यह है कि जिस श्लेषालङ्कार को देंडी ने—

श्लेषः सर्वासु पुष्ट्याति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।

—काव्यादर्श २।३६३

इतना महत्व दिया है, उस श्लेष का अभिपुराण में नामोल्लेख भी नहीं है। क्या यह सम्भव है कि जिस ग्रन्थ से अलङ्कार प्रकरण लिया जाय—प्रकरण ही क्यों परिभाषा तक ली जाय, उसमें जिस अलङ्कार को ऐसा महत्व दिया गया है, उसका नाम तक स्मरण न किया जाय, और उसी ग्रन्थ से उपमा के उपमेद जो अधिक महत्व के नहीं, इतने अधिक ले लिये जायें ?

(घ) अच्छा, और देखिये, अभिपुराण में किसी भी अलङ्कार का उदाहरण नहीं दिया गया है—केवल परिभाषाएँ हैं, किन्तु ज्ञापक हेतु के विषय में कहा है—ज्ञापकाख्यस्य भेदोस्ति नदीपूरादि दर्शनम् । किन्तु काव्यादर्श में हेतु अलङ्कार पचीस कारिकाओं में स्पष्ट किया गया है, उनमें ज्ञापक हेतु भी कहा गया है, पर ‘नदीपूरादिदर्शनम्’ के समान तो कहाँ, इसकी गंध भी उनमें कहीं उपलब्ध नहीं है।

(ङ) एक बात और भी है, काव्यादर्श में हेतु अलङ्कार के साथ ही जुड़े हुए ‘सूक्ष्म’ और ‘लेश’ अलङ्कार कहे गए हैं—

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तममूषणम्

—२।२३५

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि अभिपुराण में कुछ परिभाषाएँ काव्यादर्श के समान पाई जाने से वे परिभाषाएँ श्री काणे जब काव्यादर्श से ली हुई बताते हैं, तो प्रश्न होता है कि यदि वस्तुतः ऐसा होता तो हेतु के संलग्न ‘सूक्ष्म’ और ‘लेश’ अलङ्कार अभिपुराण में क्यों नहीं लिए जाते ? ‘हेतु’ ही में ऐसा क्या चमत्कार है जिससे सूक्ष्म और लेश को छोड़ कर केवल हेतु ही लिखा जाता। और यह हेतु वह अलङ्कार है जिसमें भामह और मम्मट जैसे प्रसिद्ध आलङ्कारिकों ने अलङ्कारत्व ही स्वीकार नहीं किया है।

अग्निपुराण

(च) 'समाधि' की परिभाषा में अग्निपुराण और काव्यादर्श दोनों के नामों में साइर्श्य अवश्य है, किन्तु वह भी असाइर्श्य ही है, अग्निपुराण में 'समाधि' का 'सम' के भेद अभिव्यक्ति के अन्तर्गत उल्लेख है, जबकि काव्यादर्श में इसे दश गुणों में एक गुण बताया गया है।

(छ) केवल अलङ्कारों के सम्बन्ध में ही नहीं, अन्य प्रकरणों में भी काव्यादर्श से अग्निपुराण में विभिन्नता है। 'गुण' प्रकरण देखिए, अग्निपुराण में शब्दगत सात गुण माने गए हैं:—

श्लेषो लालित्यगांभीर्यैसौकुमार्यमुदारता ।
सत्येवव्यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा ।

—३४७।५

और अर्थगत छः गुण माने गए हैं:—

माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता ।
प्रौढिः सामयिकत्वं च तद्वेदाः षडुदाहृताः ॥

—३४७।१।

और शब्दार्थ उभयगत भी छः गुण माने गए हैं:—

तस्यप्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्यता ।
पाको राग इति प्राज्ञैः पंट् प्रपञ्चविपञ्चिताः ॥

—३४६।१।८।१९

किन्तु दण्डी ने वैदर्भ मार्ग के ही दश गुण बतलाये हैं:—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कांतिमसाधयः ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः ।

काव्यादर्श १।४।१-४।३

और गुणों के विषय में शब्दार्थ-गत भेद प्रदर्शित नहीं किया है। इसी प्रकार अग्निपुराण में वक्तृ, वाचक और वाच्य तीन दोष कहे गए हैं जो कि दंडी के दोष निरूपण से सर्वथा विलक्षण हैं। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि अग्नि-

पुराण में काव्यादर्श का समावेश किया जाता तो ऐसा होना कदाचित् सम्भव न था।

(ज) अब हम श्री कारणे के मत की उस मूलाधार भित्ति की अत्यन्त अनिवार्यता दिखाते हैं जिसपर उन्होंने अपने इस कल्पना-जाल का निर्माण किया है। काव्यादर्श में—

(१) लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्छनं नभः।

—२१२२३

(२) अद्यया मम गोविंद जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः॥

—२१२७६

ये दो पद्य हैं। श्री कारणे कहते हैं कि इन दोनों के सिवा उदाहरण या परिभाषा कुछ भी दंडी ने दूसरे ग्रन्थों से नहीं ली है। और जब दंडी ने इन दो पद्यों के सिवा दूसरे ग्रन्थों से कुछ लिया ही नहीं, तो किर काव्यादर्श की कुछ कारिकाएँ जो अक्षरशः अग्निपुराण में हैं, वे काव्यादर्श के सिवा किसकी मानी जा सकती हैं? वस; श्री कारणे की, यही कल्पना अग्निपुराण में काव्यादर्श का समावेश किये जाने की जीवनधार है।

अच्छा, प्रथम तो यही प्रश्न होता है कि दंडी ने इन दो पद्यों के सिवा अन्यत्र से कुछ भी नहीं लिया, इसका प्रमाण ही क्या? दंडी ने तो इन पद्यों के सम्बन्ध में भी कहीं ऐसा सूचित नहीं किया है कि ये अन्यत्र से लिए गए हैं। पर इन दोनों पद्यों को श्री कारणे अग्रल्या इसीलिये अन्यत्र के स्वीकार करते हैं कि प्रथम पद्य वल्लभदेव की सुभाषितावली में १८६० की संख्या पर विक्रमादित्य के नाम से तथैव शारंगधरपद्धति में संख्या १०३ पर भर्तुंमेखक के नाम से एवं भास के 'चारुदत्त' (११६) और 'बालचरित्र' (११५) में भी मिलता है और शद्दक के मृच्छुकटिक के प्रथमाङ्क में भी। इसी प्रकार दूसरा पद्य भामह के 'काव्यालङ्कार' में (३५) मिलता है। यदि इन दोनों पद्यों का पता इन ग्रन्थों में न मिलता तो सम्भवतः श्री कारणे यही मान लेते कि दंडी ने कुछ भी अन्यत्र

से नहीं लिया। किन्तु दंडी ने काव्यादर्श में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं किया है कि मैंने स्वयं प्रणीत उदाहरण या परिभाषाएँ दी हैं। प्रत्युत काव्यादर्श की सम्पूर्ण रचना मौलिक होने के विरुद्ध और भी प्रमाण मिलते हैं। काव्यादर्श के 'लक्ष्यलक्ष्मी तनोतीति प्रतीति सुभगंवचः' इस वाक्य में स्पष्टतया महाकवि कालिदास के 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्य लक्ष्मीं तनोति' इस पद का—'लक्ष्यलक्ष्मी तनोति' यह वाक्य लिया गया है। इसके सिवा अन्य भी एक दो नहीं दस कारिकाएँ और कारिकाओं के अर्द्धांश ऐसे हैं, जो अक्षरशः भामह के काव्यालङ्कार के समान हैं। और जहाँ तक विचार किया जाता है, वे सम्भवतः भामह से ही दंडी द्वारा लिए गए प्रतीत होते हैं—जैसा कि हम आगे भामह के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। इसकी पुष्टि काव्यादर्श द्वारा भी होती है, दंडी ने ग्रन्थारम्भ में स्वयं स्पष्ट लिखा है कि—

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च ।

—१-२

इसके सिवा काव्यादर्श में और भी ऐसे बहुत से वाक्य हैं, जिनमें दंडी ने स्वयं अन्य ग्रन्थों से सहायता लिए जाने का स्पष्ट उल्लेख किया है। यही नहीं प्रत्युत दंडी के उपर्युक्त उद्धरण के 'पूर्व शास्त्राणि' इस वाक्य से यह भी व्वनित होता है कि उसने स्वयं, सम्भवतः अग्निपुराण से, कुछ सहायता ली है, क्योंकि दंडी ने स्वयं 'शास्त्र' को काव्य से पृथक् माना है, जैसा कि उसने स्वभावोक्ति अलङ्कार के विषय में कहा है—

जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम् ।

शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ॥

—२१३

अतएव हम 'शास्त्रेषु' के प्रयोग द्वारा अग्निपुराण का निर्देश क्यों नहीं मान सकते? दंडी की यह कारिका भी अग्निपुराण के—

शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमिति हासेषु निष्ठता ।

अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ॥

—३३७।२-३

इस श्लोक पर अवलम्बित है। यही क्यों दंडी ने अग्निपुराण से कुछ अलङ्कारों की परिभाषाओं के अतिरिक्त और भी अनेक वाक्य लिए हैं, जैसे—

‘कन्याहरण संग्राम विप्रलंभो’। अग्निपु० ३३७।१३, काव्या० १।२९

‘सर्गवन्धो महाकाव्यं’। अग्निपु० ३३७।२४, काव्या० १।१४

इत्यादि। और दंडी ने काव्य का लक्षण भी काव्यादर्श में वहाँ से लिया जान पड़ता है, देखिए :—

‘संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली’।

—अग्नि० ३३७।६

दंडी ने इसमें ‘संक्षेपाद्’ वाक्य निकाल कर—‘शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली (काव्यादर्श १।१०) इस प्रकार काव्य का लक्षण लिख दिया है। काव्य के विभाग अग्निपुराण में—‘गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्’ (३३७।८) इस प्रकार है। दंडी भी—‘गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिवैव व्यवस्थितम्’ (काव्यादर्श १।११) इसी प्रकार बताता है। निष्कर्ष यह है कि किसी अंश में भी यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काव्यादर्श से अग्निपुराण में कुछ लिया गया है। अतएव पूर्वोद्धृत (पृ० ५५) जो अग्निपुराण (३३७।२१, २३) और काव्यादर्श (१।११, १।१२) में समानता है, और जिसे श्री काणे अग्निपुराण में काव्यादर्श से ली हुई कल्पना करते हैं, वह भी अग्निपुराण से ही काव्यादर्श में ली हुई सिद्ध होती है।

(क) श्री काणे ने अग्निपुराण के समय की कल्पना की पुष्टि में एक आधार यह भी माना है कि रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त और समासोक्ति की परिभाषाएँ अग्निपुराण में भामह के काव्यालङ्कार से ली गई हैं। क्योंकि भामह ने जो परिभाषाएँ २।२१, २।६८, २।७६, ३।८ में दी हैं, वे अग्निपुराण ३४४।२२, ३४५।१५, ३४५।१६, ३४५।१८ में क्रमशः मिलती हैं। और भामह ने लिखा है कि परिभाषा और उदाहरण मैंने स्वयं निर्माण किए हैं—

स्वयंकृतैरेव निर्दशनैरियं
मयाप्रकल्पमा खलु वागलंकृतिः ।

—२१६

गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य घिया मयोदितः ।

—काव्यालं ३।५८

श्री काशे ने इस पर कल्पना की है कि जबकि भामह का समय लगभग छठी-सातवीं शताब्दी का है तो अग्निपुराण उसके पीछे का सिद्ध होता है। किन्तु सखेद आश्चर्य है कि श्री काशे अग्निपुराण को भामह से परवर्ती सिद्ध करने के लिये भामह के उपर्युक्त इन दोनों पद्मों को प्रमाण-स्वरूप मानते हुए वह बात क्यों भूल जाते हैं कि उन्होंने स्वयं भामह संवंधी विवेचना में^१ भामह द्वारा अन्य साहित्याचार्यों के नामोल्लेख और उनके उदाहरण आदि काव्यालङ्कार में प्रत्यक्ष उपलब्ध होने के कारण, इन्हीं उपर्युक्त दोनों पद्मों को संचायात्मक माना है। ऐसी परिस्थिति में हम किस आधार पर स्वीकार कर सकते हैं कि भामह ने अपने ग्रन्थ में परिभाषाएँ स्वयं निर्माण की हैं और अग्निपुराण में भामह से ली गई हैं? किर एक बात और भी व्यान देने योग्य है कि अग्निपुराण में दिए हुए सभी अलङ्कार दंडी के काव्यादर्श में भी हैं, अग्निपुराण में यदि अन्य किसी ग्रन्थ से यह प्रकरण लिया जाता तो उसके लिये काव्यादर्श ही पर्याप्त था, भामह के ग्रन्थ से लेने की आवश्यकता तो उसी अवस्था में हो सकती थी जबकि वे काव्यादर्श में न होते। किर यदि अग्निपुराण में भामह के ग्रन्थ से अलङ्कार प्रकरण लिया जाता तो जिस अतिशयोक्ति के विषय में भामह ने—

“सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यद्वोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥”

—काव्यालङ्कार २।५५

^१ ‘Therefore too much emphasis cannot be laid over the words स्वयं कृतैरेव etc.’—‘साहित्यदर्पण’ भूमिका पृ० १८-१९।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

यह कह कर इतना महत्व दिया है, उसका अग्निपुराण में नामोल्लेख भी न किया जाना क्या संभव हो सकता है ? कदापि नहीं । किर काव्यादर्शाक्ति हेतु, सूद्धम और लेश भामह ने नहीं माने, प्रत्युत उसने इनका खण्डन किया है । तब क्या कारण है कि इन तीनों में से 'हेतु' अग्निपुराण में लिखा गया । यदि भामह अथवा दंडी दोनों में से किसी का भी अनुसरण अग्निपुराण में किया जाता तो या तो दंडी के मतानुसार ये तीनों ही लिखे जाते, या भामह के मतानुसार तीनों ही छोड़ दिये जाते, अतएव दडा और भामह दोनों में किसी का भी समावेश अग्निपुराण में किया जाना किसा प्रकार संभव नहीं । किन्तु अग्निपुराण में कुछ परिभाषाओं में दंडी और भामह की समानता एवं अन्य असमानता उपलब्ध होने के कारण हम कह सकते हैं, कि या तो अग्निपुराण की परिभाषाएँ दंडी और भामह को जो अपने मनोनुकूल उपलब्ध हुईं वे संभवतः वहाँ से उन्होंने ले लीं और जो उनको परिवर्तनीय प्रतीत हुईं उनके स्थान पर नवीन परिभाषाएँ निर्माण कर दीं । या यह भी संभव है कि नाळ्यरास्त्र और अग्निपुराण के पश्चात् किसी अज्ञात लेखक द्वारा कोई अलङ्कार ग्रन्थ लिखा गया हो—ऐसे लेखक द्वारा जिसने अपने पूर्ववर्ती अग्निपुराण की कुछ परिभाषाएँ भी अपने ग्रन्थ में समावेश की हों संभवतः वही ग्रन्थ भामह और दंडी के ग्रन्थों का स्रोत हो ।

(च) श्री कारण ने एक और भी अभूतपूर्व कल्पना प्रसूत की है कि “ध्वनिकार के ध्वनि सिद्धांत से भी अग्निपुराण अभिज्ञ था । अग्निपुराण में कहा गया है कि पर्यायोक्त, अपहृति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा और आक्षेप में ध्वनि समावेशित है—

स आक्षिप्तो ध्वनिःस्याच्च ध्वनिना व्यजते यतः ।

—अग्निपुरा० ३४५।१४

पर ध्वन्यालोक का अनुयायी होना अग्निपुराण को अभीष्ट न था; अग्निपुराण का यह उल्लेख ध्वनिकार के विषय में वैसा ही है, जैसा कि रुद्धक ने 'अलङ्कार-सर्वस्व' में भामह, उद्धटादि का मत दिखाया है ।" किन्तु श्री कारण की यह कल्पना तो नितांत ही हास्यास्पद है, क्योंकि रुद्धक ने 'अलङ्कारसर्वस्व' में जो भामह

उद्धयादि के मत का उल्लेख किया है उसे अलङ्कारों में व्यंग्यार्थ को उपस्कारक मानते हुए अपने निकाले हुए—‘अलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतः ।’ इस सिद्धांत की पुष्टि में किया है । किंतु अग्निपुराण के वर्णन तो इसके सर्वथा विरुद्ध है । न तो वहाँ कोई अपने मत के सिद्धांत का प्रतिपादन ही किया गया है और न वहाँ किसी के मत की आलोचना ही की गई है और न किसी का समर्थन ही किया गया है, किन्तु वहाँ तो केवल अलङ्कारों का साधारणतया निरूपण किया गया है । और वह निरूपण एक विलक्षण प्रकार से है—जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा । अतएव अग्निपुराण के वर्णन के साथ किसी भी प्रकार ‘अलङ्कारसर्वस्वं’ के अवतरण की तुलना नहीं हो सकती । और न वही सिद्ध हो सकता कि अग्निपुराणकार, ध्वन्यालोक से परिचित थे । किन्तु इसके विवरीत पूर्ण रूप से यह सिद्ध होता है कि अग्निपुराण के मत से ध्वनिकार केवल अभिज्ञ ही न थे, किन्तु ध्वनिकार ने अग्निपुराण के मत के विरुद्ध पर्याम आलोचना भी की है क्योंकि अग्निपुराण का जो ‘स्वरूपमथ’ इत्यादि श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है, उसमें आठ अलङ्कारों की गणना है—जिनमें अन्तिम आठवाँ भेद ‘सम’ है, और सम को एक शब्दार्थ उभयालङ्कार माना है (न कि ‘सम’ नाम का एक अर्थालङ्कार जैसा कि काव्यप्रकाशादि ग्रन्थों में माना गया है) और उसके छः भेदों में अन्तिम भेद अभिव्यक्ति के दो उपभेद श्रुति और आक्षेप कहे गए हैं—

प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप । इत्यादि

—३४५।७

और आक्षेप की यह परिभाषा दी गई है—

श्रुतेरलभ्यमानोर्थो यस्माद्भाति सचेतनः ।

स आक्षेपो ध्वनिस्याच्चध्वनिना व्यञ्जयते यतः ॥

—३४५।१४

अर्थात् श्रुति से अलभ्यमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) जिसके द्वारा भान हो, वह आक्षेप धर्ति है । ऐसा कह कर, फिर इस ध्वनि के अन्तर्गत आक्षेप, समासोक्ति, अपहुति और पर्यायोक्त ये चार भेद माने गए हैं । फिर अन्त में कहा है कि—

एषामेकतमस्येव समाख्या ध्वनिरित्यतः ३४५।१८—अर्थात् यह सम संज्ञक ध्वनि है ।

इस विवरण से स्पष्ट है कि अग्निपुराण में आक्षेप, समासोक्ति, अपलुति और पर्यायोक्त ध्वनि के भेद माने गए हैं । किन्तु ध्वन्यालोक में इस मत के विरुद्ध पृ० ३५ से ४५ तक विरुद्ध आलोचना करने के बाद निष्कर्ष रूप यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है—

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।

समासोक्त्याद्यस्तत्र वाच्यालङ्घकृतयः गुटाः ॥

—११४

अर्थात् समासोक्ति आदि जो अग्निपुराण में आक्षेप ध्वनि के भेद माने गए हैं, उसके विरुद्ध ध्वनिकार ने इसमें अलंकारता प्रतिपादन की है—इन अलंकारों में व्यंग्यार्थ की (जो ध्वनि का विषय है) गौणता और वाच्यार्थ की प्रधानता की है । ध्वन्यालोक और अग्निपुराण का यह प्रकरण ध्यान देकर देखने से स्पष्ट विदित हो सकता है कि ध्वनिकार, अग्निपुराण के मत के विरुद्ध प्रत्यक्ष रूप से या अग्निपुराण के मतानुसार प्रणीत किसी अन्य आचार्य के अज्ञात ग्रन्थ के विरुद्ध अपना मत स्थापन कर रहा है । ध्वनिकार केवल अग्निपुराण से परिचित ही नहीं ये किन्तु ध्वन्यालोक के (तृतीय उद्योग पृ० २२२) वृत्ति ग्रन्थ में—

तथा चेदमुच्यते—

“अपारे कान्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।

यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।

स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्” ॥

ये दोनों श्लोक अग्निपुराण से (अव्याय-३३६।१०, ११) उद्दृत किये गये हैं । यह पद्य श्रीमदानन्दवर्द्धनाचार्य के स्वयं प्रणीत नहीं हो सकते क्योंकि इनके प्रारम्भ में—‘तथा चेदमुच्यते’ से स्पष्ट है कि वृत्तिकार ने इन पद्यों को अपने मत के समर्थन में अन्य ग्रन्थ से उद्भृत किया है । आश्र्य होता है कि किर भी

अग्निपुराण

श्री काणे अग्निपुराण को ध्वन्यालोक से परवर्ती कहने का किस आधार पर साहस कर रहे हैं। इससे भी अधिक आश्र्य यह है कि, एस० के० दे वाबू (जिनके ग्रन्थ पर श्री काणे का निवन्ध अधिकांश में अवलंबित है) ध्वन्यालोक से अग्निपुराण को प्राचीन स्वीकार करते हैं। अतएव इसे श्री काणे के द्वुराग्रह के सिवा और क्या कह सकते हैं।

अग्निपुराण के काव्य-प्रकरण का अध्ययन ध्यान देकर करने से यह निर्विवाद विद्वित हो सकता है कि, वह वर्णन भामह, दंडी, उद्घट और ध्वनिकार आदि सभी प्राचीन साहित्याचार्यों से विलक्षण है। और वह काव्य के विकाश-क्रम के आधार पर नाट्य-शास्त्र के पश्चात् और भामहादिं के पूर्व का मध्यकालीन रूप है। इस विषय के प्रारम्भ में अग्निपुराण में कहा है—

काव्यास्त नाटकादेश्च अलङ्कारान्वदास्यथ ।

—३३७।१

इसमें अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्यापक सौदर्य के अर्थ में किया गया है—जैसा कि नाट्य-शास्त्र में दृष्टिगत होता है। रस भी अग्निपुराण में शृङ्खार, रौद्र, वीर और वाभत्स यही चार मुख्य माने गए हैं—शेष चारों का इन्हीं के द्वारा उद्घव कहा गया है, जैसा कि महामुनि भरत का प्राचीन मत है। आश्र्य यह है कि फिर भी पाश्चात्य और कुछ ऐतदेशीय विद्वान्, नितांत निर्वल और संदेहात्मक आधारों पर अग्निपुराण को ईस्वी सन् ६०० के समय का कल्पना करते हैं, और यह भी कहते हैं कि अग्निपुराण का उल्लेख केवल साहित्यर्दर्शण में विश्वनाथ द्वारा (लगभग १४ वीं शताब्दी में) किया गया है—इसके प्रथम किसी भी आचार्य ने नहीं किया, किन्तु ऊपर के विवेचन से भली प्रकार सिद्ध होता है कि भामह, दंडी और ध्वनिकार आदि प्रसिद्ध प्राचीनाचार्यों द्वारा अग्निपुराण के विषय का उपयोग पर्याप्त किया गया है। ध्वन्यालोक के लोचन व्याख्याकार श्री अग्निवगुप्ताचार्य ने भी—जो संभवतः वाग्देवावतार श्री मम्मटाचार्य के उपाध्याय थे अग्निपुराण के—

अभिधेयेन सारुप्यात्सामीप्यात्समवायतः ।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥

—अग्निपुरा० ३४५।११, १२

इस श्लोक को ध्वन्यालोकलोचन पृ० ६ में उद्धृत किया है। यही क्ष्यों, महाराजा भोज जैसे विद्या-रसिक और साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ने अग्निपुराण में संक्षिप्त निरूपित साहित्य विषय को अपने सरस्वतीकंठाभरण नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में विस्तार के साथ उदाहरण सहित स्पष्ट किया है। सच तो यह है कि अग्निपुराण में वर्णित विषय एक प्रकार से सूत्र रूप में है, उसकी व्याख्या यदि सरस्वती-कंठाभरण में स्पष्ट रूप से विरतृत न की जाती तो वह विषय समझना एक बड़ी विकट समस्या हो जाती। महाराजा भोज को अग्निपुराण का विषय सरस्वतीकंठाभरण में स्पष्ट करने पर भी व्येष्ट सन्तोष नहीं हुआ अतएव उन्होंने एक तीस हजार श्लोकों का वृहत् ग्रन्थ—‘शङ्खारप्रकाश’ नामक अग्नि-पुराण के मतानुसार और भी लिखा जो अभी उपलब्ध हुआ है। इसका दस्तलिखित प्रति गर्वन्मेंट ओरियन्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास में वर्तमान है। यह ग्रन्थ छुत्तीस प्रकाशों में समाप्त है^१। अब यदि अग्निपुराण का समय नवम शताब्दी का कल्पना कर लिया जाय तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि उसके १०० या १२५ वर्ष के बाद ही इतने अल्पकाल में—भोजराज के समय में—वह ऐसा गौरवान्वित और प्रतिष्ठित पौराणिक आर्यग्रन्थ समझ लिया जाता? इस बात का हमारे विज्ञ पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।

—*—

^१ शङ्खारप्रकाश के २२, २३, २४ संख्या के प्रकाश मद्रास ला ग्रिंडिंग हाउस में मुद्रित भी हो गये हैं।

महाभारत काल के बाद

पौराणिक काल के बाद ईसवी सन् के प्रारम्भ तक यद्यपि कोई साहित्यक काव्य-रीति-निरूपक ग्रन्थ दृष्टिगत नहीं होता है पर श्रो पाणिनि के व्याकरण द्वारा विदित होता है कि उनके पूर्व, काव्य के पारिभाषिक शब्द उपमा,^१ उपमान, उपमेय पूर्णतया प्रचलित हो गये थे। और उसमें नट^२ सूत्रों का भी उल्लेख है। वर्तिकार कात्यायन के अनुसार पता चलता है कि उस समय काव्य और आख्यायिकाओं में भेद माना जाने लगा था। महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य में भी एक महाकाव्य^३ और तीन आख्यायिकाओं^४ का और दो नाटकों^५ का उल्लेख है। और ईसवी सन् के पूर्व दो या तीन शताब्दियों से ईसवी सन् २०० तक हमको भास, कालिदास, अश्वघोष और सुवन्धु आदि के काव्य और नाट्य ग्रन्थ एवं रुद्रदामन आदि के शिलालेख तथा दानपत्र उपलब्ध होते हैं जिनके द्वारा केवल यही विदित हो सकता है कि उस समय नियम-बद्ध और परिमार्जित काव्य-रचना का पर्याप्त प्रचार हो गया था। किन्तु ऐसे ग्रन्थ जिनमें रस, अलङ्कार आदि के लक्षण निरूपित हों और जो हमें तत्कालिक काव्य विषय के क्रम-विकास पर विवेचन करने में सहायक हों, अग्निपुराण के बाद और ईसवी सन् के प्रारम्भ तक अनुपलब्ध हैं। तथापि यह तो अवश्य ही स्वीकार किया जायगा कि ऐसे ग्रन्थों का अस्तित्व उस समय में अवश्य ही।

१ देखो अष्टाध्यायी २१, ५५, ५६, और २१३-७२

२ 'पार्याशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' ४।३-११०

३ 'यत्तेन कृतं न च तेन प्रोक्तं वारुचं काव्यम्' (महाभाष्य पु० ३ पृ० ३१५)

४ वासवदर्शा, सुमनोत्तरा और भैमरथा (महाभाष्य पु० २ पृ० ३१३

५ 'ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कृष्णं धातयन्ति प्रत्यक्षं च वलिं वज्ञायन्तीति' (महाभाष्य पु० २ पृ० ४६४, ४७०)

संस्कृत साहित्य का इतिहास

क्योंकि आचार्य भामह जो लगभग ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में अलङ्कार-शास्त्र के प्रथम और प्रधानाचार्य के रूप में हमको उपलब्ध होता है, उसके 'काव्य-लङ्कार' की कारिकाओं में^१ किये गये 'परे' अन्यैः 'कैश्चित्', 'केचित्' 'केपांचित्', 'अपरे' रामशर्मा, अच्युत, मेधाविन् और राजमित्र इत्यादि प्रयोगों द्वारा स्पष्ट है कि भामह के प्रथम अनेक विद्वानों द्वारा ऐसे ग्रन्थ लिखे गये थे, जिनमें काव्य-रचना के नियम निरूपण किये गये थे। उपर्युक्त कारिकाओं में जिनके स्पष्ट नामोल्लेख हैं, उनमें एक मेधाविन् का ही ऐसा नाम मिलता है, जिसके विषय में हमको कुछ लिखने के लिये अन्य साधन भी प्राप्त हैं।

मेधाविन्

मेधाविन् या मेधावी के सम्बन्ध में भामह के काव्यालङ्कार में दो वार उल्लेख किया गया है (का० लं० २१४० और २१८८) भामह के अतिरिक्त मेधावी का अलङ्कार शास्त्र के प्रणेता के रूप में नामोल्लेख रुद्रट के कव्यालङ्कार की नाम साधु कृत टीका में भी मिलता है—

‘ननुदण्डमेधाविरुद्भामहादिकृतानि सन्त्येवालङ्कारशास्त्राणि’।

—(रुद्रट का० लं० टीका ११२ पृ० २)

‘तैर्मेधाविरुद्भप्रभृतिभिः’।

—(रुद्रट का० लं० टी० २१२ पृ० ९)

‘मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं’।

—(रुद्रट का० लं० टी० १११२४ पृ० १४५)

इन वाक्यों में यद्यपि मेधाविरुद्ध का नामोल्लेख है, किन्तु सम्भवतः मेधावि-रुद्ध और मेधावी एक ही व्यक्ति है। क्योंकि 'रुद्ध' एक विशेष सम्बन्ध-सूत्रक उपाधि है। शाङ्कधर ने कपिलरुद्ध और मालवरुद्ध के भी पत्र उद्धृत किये हैं। राजशेखर की काव्यमीमांसा में भी (पृ० १२) मेधाविरुद्ध का नामोल्लेख है।

^१ ये कारिकाएँ भामह के प्रकरण में आगे लिखी जायेंगी।

ग्रन्थ में वाचिक अलङ्कारशास्त्र का एक प्राचीन लेखक ग्रन्थ था और वह भामह के पूर्ववर्ती था, इससे अधिक इसके समय और ग्रन्थ के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हो सकता है।

—: * :—

भट्टि

भट्टि का 'भट्टि-काव्य' या रावण-बध काव्य मुद्रित हो गया है। उसमें श्री रामचरित्र का वर्णन है। यद्यपि वह काव्य-लक्षण-निरूपक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता, तथापि २२ सर्गात्मक इस ग्रन्थ के तीसरे प्रसन्न नामक काण्ड के १० से १३ तक चार सर्गों में काव्य विषय का दिग्दर्शन कराया गया है। १० वें सर्ग में ३८ अलङ्कारों के उदाहरण मात्र हैं—लक्षण नहीं। इसी प्रकार ११ वें सर्ग में मात्रुर्य गुण का, १२ वें सर्ग में भाविक अलङ्कार का और १३ वें सर्ग में भाषासम का निर्दर्शन मात्र है। अतएव इस वर्णन द्वारा भट्टि को ऐसे समय में, जब कि उस समय के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, साहित्याचार्यों के इतिहास में स्थान दिया जाना आवश।

भट्टि और भामह

भट्टि ने जिन अलङ्कारों के उदाहरण दिखलाये हैं, भामह के काव्यालङ्कार में प्रायः वे ही अलङ्कार निरूपित हैं और उनका पूर्वांपर क्रम भी प्रायः दोनों में समान है। दीपक, रूपक, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, तुल्ययोगिता और विरोध एवं कुछ अन्य अलङ्कारों के पूर्वांपर क्रम में भिन्नता है। इसके सिवा भट्टि हेतु, वार्ता और निपुण के उदाहरण दिखाता है और प्रतिवस्तूपमा को नहीं दिखाता, जबकि भामह हेतु में तो अलङ्कारत्व ही नहीं मानता है और वार्ता, एवं निपुण के विषय में सर्वथा मौन है और प्रतिवस्तूपमा को उपमा के उपभेदों में लिखता है। भट्टि उदार अलङ्कार लिखता है और भामह उदात्। यद्यपि दण्डी के काव्यादर्श के बहुत से अलङ्कारों के क्रम में भी भट्टि से समानता है, पर भामह की अपेक्षा भट्टि की दण्डी के साथ अधिक भिन्नता

है। दण्डा ने उपमा रूपक, उपमयोपमा, सन्देह, अनन्य और उत्प्रेक्षावयव की उपमा के भेदों में गणना की है, जबकि भट्टि ने इन अलङ्कारों को पृथक् पृथक् दिखलाया है। भट्टि ने यमक कुछ विस्तार के साथ लिखा है, वह दण्डा के निरूपण से न्यून होने पर भी समता-सूचक है। जिस 'भाविक' अलङ्कारों को भामह और दण्डा दोनों ने—'भाविकत्वमितिप्राहुः प्रवन्ध विषयं गुणम्' ऐसा कह कर प्रवन्ध का विषय बताया है, भट्टि के काव्य में उसका १२ वें सर्ग के ८७ पदों में—प्रवन्ध रूप में निर्दर्शन कराया गया है, तथापि भट्टि के अलङ्कार-निर्दर्शन द्वारा यह स्पष्ट विदित होता है कि वह स्वतन्त्र प्रतिपादन है अर्थात् उसका विषय-क्रम, भामह और दण्डा दोनों ही से भिन्न प्रतीत होता है। अस्तु।

भट्टि और भामह इन दोनों में पूर्ववर्ती कौन है? इस विषय में विद्वानों ने बहुत कुछ विवेचन किया है, किर भी वे इस विषय में कोई वृद्ध मत स्थिर नहीं कर सके हैं। भामह के काव्यालङ्कार के—

"काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्
उत्सवसुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः ।"

—काव्यालङ्कार परिच्छेद २१३०

इस श्लोक के साथ भट्टि के गवण्यवय काव्य के—

"व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवसुधियामलम्
हता दुर्मेधसश्चास्मिन्वद्वितिप्रियचिकीर्षया ।"

—भट्टिकाव्य सर्ग १२।३४

इस श्लोक में केवल रेखांकित शब्द-साम्य ही नहीं, किन्तु ध्यान देने पर यह भी स्पष्ट विदित होता है कि इन दोनों श्लोकों में एक के द्वारा दूसरे की स्पष्ट रूप में आलोचना भी की गई है। विदित तो यह होता है कि भामह ने अपने ग्रन्थ में जिस व्याख्यागम्य (क्षिण्ठ) काव्य की रचना को अनादत माना है, भट्टि ने अपने

ग्रन्थ में उस व्याख्यागम्य काव्य के विषय में भामह के मत की अवहेलना करते हुए ग्रन्थान्त में वह श्लोक लिखा है। किन्तु इसके विरुद्ध कुछ विद्वान् लेखकों का मत है कि भट्टि द्वारा अपनी ग्रन्थ-रचना-शैली की पुष्टि में लिखे हुए इस मत से भामह सहमत न होकर भामह ने ही भट्टि की आलोचना की है। इसीलिये भामह और भट्टि के पूर्वापर का विषय संदिग्ध माना जाता है। किन्तु हमारे विचार में तो भट्टि द्वारा भामह के मत की अवहेलना किया जाना ही संभव प्रतीत होता है। क्योंकि भामह ने यह श्लोक यमक और प्रहेलिका अलङ्कार दिखाकर ऐसे क्लिष्ट काव्य को अनभीष्ट बताते हुए केवल साधारणतया अपना मत प्रदर्शित किया है। किन्तु भट्टि ने जो भामह के 'उत्सवसुधियामेव' के स्थान पर 'उत्सवसुधियामलम्' लिखा है इसमें 'एव' के स्थान पर भट्टि ने 'अलम्' का प्रयोग किया है। भामह 'एव' के प्रयोग द्वारा व्याख्यागम्य काव्य को केवल विद्वानों के लिये आनन्द-प्रद और अल्प-मतिवालों के लिये दुर्बोध बतला कर क्लिष्ट काव्य को अनादृत मानता है। इसके विरुद्ध भट्टि कहता है कि—'विद्वित्रियचिकीर्षया' मैंने अपना काव्य विद्वानों के लिये ही जानबूझ कर व्याख्यागम्य (क्लिष्ट) बनाया है क्योंकि इस काव्य का विद्वानों को आनन्द-प्रद होना ही मेरे लिये 'अलम्'—पर्याप्त है—अल्पमति अपनी अज्ञता के कारण इस आनन्द से बचित रहें तो रहें। अतएव भट्टि द्वारा प्रयुक्त 'अलम्' और—'विद्वित्रियचिकीर्षया' वाक्य बलात् हमें भट्टि को भामह का परवर्ती मानने के लिये वाध्य करते हैं। अस्तु यह बात तो भट्टि के ग्रन्थ से भी निश्चित होती है कि भट्टि के पूर्व अलङ्कारों के लक्ष्य लक्षण ग्रन्थ अवश्य थे और उन्हीं के अनुसार उसने अपने काव्य में अलङ्कारों का समावेश किया है। और यह भी प्रतीत होता है कि उस समय तक उन्हीं लगभग ४० अलङ्कारों से अधिक अलङ्कारों का आविष्कार नहीं हुआ था, जो कि भामह और दण्डी के समय तक मिलते हैं। और भरत के नाव्यशास्त्र में जब हम चार, अग्निपुराण में लगभग १५ और भट्टि से भामह, दण्डी तक लगभग ४० अलङ्कारों का निरूपण देखते हैं तो यह विकास-क्रम का आधार भी इनके सम्बन्ध में समय के पूर्वापर क्रम का बोध कराता है।

भट्टि का समय

भट्टि काव्य के—

“काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम् ।

कीर्तिरतो भवतान् नृपस्य तस्य प्रेमकरः त्रितिपो यतः प्रजानाम्” ॥

इस अन्तिम पद से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ वलभी के धरसेन राजा के समय में लिखा गया है । वलभी काठियावाड़ में है उसे अब ‘वल’ कहते हैं । वहाँ धरसेन नाम के चार राजाओं ने शासन किया है । उनमें किस धरसेन के राज्य-काल में भट्टि या वह निश्चित नहीं हो सका है । श्री बी० सी० मजूमदार भट्टि को मन्दसोर के सूर्य-मन्दिर के शिलालेख का लेखक बतलाते हैं, जो कि वत्सभट्टि के नाम से लिखित है । और कुछ विद्वान् भट्टि को वलभी के तीसरे धरसेन राजा का दानपत्र^१ कप के पुत्र भट्टिभट्टि से अभिन्न बतलाते हैं । डा० हल्ट्स (Hultsch) ने इस कल्पना की भी खण्डन किया है^२ । जो कुछ हो, वलभी के इन चारों धरसेन राजाओं का समय लगभग सन् ५०० से ६५० ई० तक है, क्योंकि दूसरे धरसेन का शासन सम्बन्धी लेख २५२ वलभी संवत्सर (५७१ ई०) का है । और इसके पिता ब्रुवःसेन का दानपत्र वलभी सं० २०७ अर्थात् ५२६ ई० का । प्रथम धरसेन का समय संभवतः ५०० ई० का कहा जाता है । और चौथे धरसेन का लेख वलभी सं० ३३० (सन् ६४८ या ६४९ ई०) का है, अतएव भट्टि का समय सन् ५०० से ६५० ई० तक ढेर सौ वर्ष के मध्य में होना संभव है ।

भामह, और उसका काव्यालङ्कार

उपलब्ध काव्य-नियम ग्रन्थों में नाव्य-शास्त्र और आग्निपुराण के पश्चात् अलङ्कार शास्त्र पर लिखने वाला आचार्य भामह और उसका काव्यालङ्कार ही प्रथम दृष्टिगत होता है ।

१ देखो जरनल आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०४ पृ० ३९५-३७ और १९०९ पृ० ४३५ ।

२ इपी० इण्डिका पृ० १२ ।

भामह का परिचय

भामह के व्यक्तिगत परिचय के लिये उसके काव्यालङ्कार के—

सुजनावगमाय भामहेन प्रथितं रक्तिलगोमिसूदनुनेदम् ।
(६१६४)

इस अन्तिम पद्य के अतिरिक्त अन्य कोई साधन प्राप्त नहीं है। और इसके द्वारा इतना ही ज्ञात हो सकता है कि वह रक्तिलगोमि का पुत्र था। रक्तिल शब्द के प्रयोग द्वारा और भामह ने ग्रन्थारम्भ के मङ्गलाचरण में ‘सार्व’ को प्रणाम किया है उसके द्वारा श्री एम० टी० नरसिंह हिंगर और श्री कै० जी० पाठक आदि ने इसे बौद्ध कल्पना किया है^१। किंतु इस कल्पना का अन्य लेखकों ने खण्डन भी किया है^२ अत्यु। भामह बौद्ध या वा ब्राह्मण, इसके लिये अविक विवेचन निष्प्रयोजनीय है। यहाँ हमको इसके काव्यग्रन्थ और समय पर ही विचार करना आवश्यक है। भामह काश्मीरी था यह तो सभी लेखक निर्विवाद स्वीकार करते हैं।

भामह का ग्रन्थ

भामह का बहुत समय तक तो केवल अन्य ग्रन्थों में नामोल्लेख ही दृष्टिगत होता था—इसका ग्रन्थ अप्राप्य था। किर इसका काव्यालङ्कार केवल ‘प्रतापघट-यशोभूषण’ के परिशिष्ट में मुद्रित हुआ था। हर्ष है कि अब वह स्वतंत्र भी मूल मात्र काशी संस्कृत सीरीज में प्रकाशित हो गया है। यह ग्रन्थ छः परिच्छेदों में विभक्त है—

प्रथम परिच्छेद में काव्य-प्ररंसा, काव्य-साधन, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद और काव्य के दोषों का निरूपण है।

२-३ परिच्छेदों में अनुप्रास से आशी तक ३८ अलङ्कार हैं, जिनमें संसृष्टि भी है। यदि लाटानुप्रास और प्रतिवस्तूपमा, जिनको भामह ने क्रमाः अनुप्रास

१ देखो जरनल आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०५ पृ० ५२५, ५४५ और इण्डियन एंटिकायरी १९१२ पृ० २३५।

२ देखो जरनल आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०८ पृ० ५४३।

और उपमा के भेदों में दिखाये हैं, पृथक् गणना किये जायें तो ४० अलङ्कारों का निरूपण है।

१-५-६ चौथे परिच्छेद में दशा दोषों का, पाँचवें में शेष न्यारहवें दोष न्याय विरोधी का, और छठे में शब्द-शुद्धि विषयक शिक्षा का निरूपण है।

वह ग्रन्थ लगभग ४०० श्लोकों का एक छोटा ग्रन्थ है, किन्तु इसका महत्व इसी से अनुमान किया जा सकता है कि भामह के परवर्ती उद्धट, आनन्दवर्धनाचार्य, अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मटाचार्य जैसे प्रायः सभी सुप्रसिद्ध महान् साहित्याचार्यों ने अपने अपने ग्रन्थ में इसके सिद्धान्तों को बड़े गौरव के साथ उद्धृत किया है। भामह को थोड़े ही समय में उसके निकट के परवर्ती विद्वत्-समाज में कितनी बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई थी, जिसका महत्वपूर्ण प्रमाण यही है कि उद्धटाचार्य, जो काश्मीर के जयपीड़ राजा के विद्वत्परिषद के सभापति थे, और राजतरिङ्गिणी में कलहण के कथनानुसार जिनकी प्रति दिन की दक्षिणा एक लक्ष दीनार (सुवर्ण-मुद्रा) नियत थी, उन्होंने भामह के काव्यालङ्कार पर ‘भामह विवरण’ नामक व्याख्या की है, जिसका उल्लेख उद्धटाचार्य के काव्यालङ्कारसार संग्रह नामक ग्रन्थ की लघुवृत्ति नामक व्याख्या में प्रतिहारेन्दुराज ने (पृ० १३ भण्डारक संस्करण) किया है। और उद्धटाचार्य ने अपने काव्यालङ्कार सार-संग्रह में भामह के काव्यालङ्कार से बहुत कुछ सामग्री भी ली है, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। खेद है कि वह—भामह विवरण अप्राप्य है, यदि वह प्राप्त होता तो भामह और उसके काव्यालङ्कार के विषय में बहुत कुछ नवीन परिचय प्राप्त ही सकता था। अस्तु।

इसवी सन् के प्रारम्भ के बाद अलंकार-शास्त्र का लेखक भामह ही उपलब्ध होता है अतएव अलंकार सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य के रूप में भामह ही हमारे सन्मुख आता है। तथापि हम भामह को अलंकार सम्प्रदाय का प्रवर्तक या प्रथम-लेखक नहीं कह सकते, क्योंकि काव्यालंकार के—

‘रूपकादिरलङ्कारस्तथा न्यैर्वैहुथोदितः ॥’

‘नाटकं द्विपदी शम्यारासकस्कन्धकादियत ।

(११३)

उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विम्तरः ॥’

(११४)

‘कवेरभिप्रायकृतैः कथानैः कैश्चिदङ्किता ।’

(११५)

‘वैदर्भमन्यदत्तीति मन्यते सुधियोऽपरे ।’

(११६)

‘अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे ।

इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवाम्यैरुदाहृताः ॥’

(२४)

‘प्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।’

(२५)

‘लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा ।’

(२६)

‘प्रहेलिका सा हा दिता रामशर्माच्युतोत्तरे ।’

(२७)

‘यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः ।’

(२८)

‘त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः ।’

(२९)

‘हष्टं वा सर्वसारूप्यं राजमित्रे यथोदितम् ।’

(३०)

‘आज्ञेपोऽर्थान्तर्गत्यासो व्यतिरेको विभावना ।

समासातिशयोक्ती च पडलङ्गुतयोऽपराः ।'

(२१६६)

'संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ।'

(२१८८)

'स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रवक्षते ।'

(२१९३)

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि भामह ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती अनेक साहित्य के लेखकों का उत्तेज किया है। इसके द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि जिन आचार्यों ने विभिन्न काल में जितने जितने अलंकार अपने अपने ग्रन्थ में प्रदर्शित किये थे, उसी के अनुसार भामह ने पृथक् पृथक् वर्ग में नियत अलंकारों का समावेश करके उनको दिखाये हैं। जैसे उसने 'अनुप्रासः सव्यमको' इत्यादि (२१४) कह कर प्रथम वर्ग में अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा यही पाँच अलंकार दिखलाये हैं—'पञ्चैवान्यैरुदाहृताः' (२१४) इस वाक्य के 'पञ्चैव' पद से स्पष्ट है कि जिसके मत से ये पाँच अलंकार दिखलाये हैं, उस आचार्य ने केवल यही पाँच अलंकार निरूपण किये थे। इसके द्वारा यह भी प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक काल में भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र में जो चार अलंकार—उपमा, दीपक, रूपक और यम ० दिये हैं, उसी मत के अनुसार किसी अक्षय आचार्य के ग्रन्थ के आधार पर संभवतः भामह ने प्रथम वर्ग में इन पाँचों का समावेश किया है। नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित चारों में यमक के साथ अनुप्रास और लगा दिया गया है जो कि यमक का सजातीय है, भामह ने भी 'अनुप्रासः समयकां' ऐसा कह कर इनका सजातीय होना सूचन किया है। फिर २१६६ में आक्षेपादि छः अलंकार किसी दूसरे आचार्य द्वारा निरूपित एक वर्ग में रखे गये हैं। इसी प्रकार २१८८, ८७ में भामह अन्य किसी आचार्य के निरूपित सूक्ष्म, लेश और वार्ता अलंकारों का खण्डन करता है। केवल अलंकारों के विषय में ही नहीं, 'रीति' प्रकरण में भी अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य की मानी हुई वैदर्भी रीति की भी वह (१३५ में)

आलोचना करता है। अलंकारों के दोषों के विषय में भी मेधावी (२१४०), राजमित्र (२१४५), शाखवद्धन (२१४७) और रामशर्मा का (२१५८); तथैव गुण प्रकरण में 'सुमेधसः' (२१) केचित् (२२) का उल्लेख है। इसके बाद—

'अत्रापि बहुवक्तव्यं जायते तत्तु नोचितम् ।
गुरुभिः किं विवादेन यथा प्रकृतमुच्यते ॥'

—४१७

इस पद्य में 'गुरुभिः' एक महत्व-सूचक प्रयोग है। इसके द्वारा विदित होता है कि भामह एक ऐसे आचार्य की आलोचना भी करता है, जिसे वह अपना पूज्य मानता था। निष्कर्ष यह है कि काव्यालंकार द्वारा स्पष्ट ज्ञात होना है कि भामह के प्रथम काव्य के अलंकार, रीति, गुण और दोष आदि साहित्य के सभी अङ्गों पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये थे। इसकी पुष्टि भामह के—

'इति निगदितास्तास्ता वाचामलङ्कृतयो मया ।
बहुविधकृतीर्ष्टवाऽन्येषां स्वयं परितर्क्यं च' ॥

—५१६९

इस पद्य से भी होती है। वे ग्रन्थ यद्यपि इस समय अनुपलब्ध हैं, किन्तु उनका महत्व इसी से प्रकट है कि भामह जैसे उद्भट विद्वान् ने उनमें किसी के मत को मान्य किया है और किसी की आलोचना की है। इस पद्य द्वारा यह भी प्रतीत होता है कि भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का केवल अनुसरण मात्र ही नहीं किया है, किन्तु संभवतः कुछ अलङ्कारों का नवाविष्कार भी किया है।

भामह ने काव्यालंकार के सिवा कोई अन्य ग्रन्थ लिखे या नहीं यह भी संदिग्ध है। यद्यपि अभिज्ञानशाकुन्तल को अर्थशोतनिका नामक टीका में राघव भट्ट ने दो स्थलों पर भामह के नाम से दो पद्य उद्धृत किये हैं, किन्तु वे काव्यालङ्कार में नहीं मिलते। बृत्तरत्नाकर की टीका में नारायण भट्ट ने भी 'तदुक्तं भामहेन' कहकर उद्धरण दिये हैं। और वरसुचि की सूत्र-वद्ध व्याकरण की टीका

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्राकृतप्रकाश में भी भामह के नाम से उद्धरण है। डा० पिटरसन^१ और मि० पिशल^२ भामह नाम के दो लेखक बतलाते हैं। संभव है राघव भट्ठ आदि द्वारा उल्लिखित भामह, काव्यालङ्कार के प्रणेता भामह से मिल्न हो। अस्तु।

भामह का समय

भामह के काल-निर्णय पर साहित्यिक लेखकों में बड़ा प्रवल आन्दोलन हो रहा है। पर खेद है कि अद्यापि निश्चयात्मक कोई भी मत स्थिर नहीं हो सका है। प्रथम हम भामह की अन्तिम सीमा पर कुछ विचार प्रकट करते हैं—

भामह और उद्भट

उद्भट आचार्य ने भामह के काव्यालङ्कार पर भामह विवरण नामक व्याख्या ही नहीं किए हैं किन्तु अपने काव्यालङ्कारसारसंग्रह में आन्तेष, विभावना अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, रसवत्, पर्यायोक्त, अपहृति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति, सन्देह, और भाविक इन अलङ्कारों की जो परिभाषा दी है, वे प्रायः अक्षराः भामह के काव्यालङ्कार से ली हैं—कहीं कहीं ही दो-चार अक्षरों का परिवर्तन किया है। अतएव उद्भट से, जो काश्मीर के राजा जयापीड़ की विद्वत्सभा का सभापति था और जिसका समय संभवतः सन् ८०० ई० के पूर्व है, भामह का पूर्ववर्ती होना निर्विवाद है।

भामह और वामन

काव्यालंकार सूत्र ग्रन्थ का प्रणेता वामन भी संभवतः भामह से परिचित था। क्योंकि भामह ने उपमा की परिभाषा—

‘विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशन सोपमा’॥

—का० लं० २।३०

^१ देखो सुभाषितावलो पृ० ७५।

^२ देखो पिशल का रुद्धट पृ० ६ F।

यह दी है। वामन का—

‘उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा’।

—का० लं० सू० ४।२।१

यह सूत्र भामह के उपर्युक्त पत्र के उत्तरार्द्ध के सर्वथा समान है। फिर भामह के—‘मदो जनयति प्रीति सानङ्गं मानभंगुरम्’ (२।२७) इस पत्रार्द्ध के एक भाग ‘मानभंगुरम्’ के विषय में वामन ने ४।२।३८ के सूत्र की वृत्ति में लिखा है—“मातङ्गं मानभंगुरम्। इत्यादयो प्रयोगा दृश्यन्ते”। किन्तु इसके द्वारा भामह के समय-निर्णय पर उद्घट की अपेक्षा अधिक प्रकाश नहीं पड़ सकता, क्योंकि वामन का समय भी लगभग उद्घट के समकालीन है।

भामह और दण्डी

भामह और दण्डी इन दोनों में कौन पूर्ववर्ती है? इस विषय में बड़ा मतभेद है। श्री वृसिंहाचार्य आवंगर—जो भामह के काव्यालंकार की हस्तलिखित प्रति को प्रथम उपलब्ध करने के यशोभागी हैं, दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती बताते हैं^१। किन्तु प्रो० पाठक^२, एस० के० दे३, मि० जेकोवी तथा श्री त्रिवेदी आदि भामह को दण्डी का पूर्ववर्ती बताते हैं। यद्यपि श्री पाठक भी पहिले श्री वृसिंहाचार्य से सहमत थे, पर उन्होंने पीछे अपना मत परिवर्तन कर दिया है। और श्री पी० वी० कार्णे^४ संदिग्ध रूप में दण्डी को पूर्ववर्ती मानते हैं। यद्यपि दण्डी का समय भी निर्णीत नहीं है, किन्तु यह प्रश्न यहाँ इसलिये उपस्थित

१ देखो जरनल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०५ पृ० ५३५।

२ देखो जनरल बांबे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी पुस्तक २३ पृ० १९ और इंडियन एंटिकायरी सन् १९१२ पृ० २३६।

३ देखो दे बाबू लिखित संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ६९।

४ देखो श्री कार्णे के साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका, द्वितीय संस्करण पृ० २६-४०।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

होता है कि भामह और दण्डी की बहुत सी कारिकाओं में अन्नरथः साम्य है। जैसे—

	भामह	दण्डी
१ 'सर्गवन्धो महाकाव्यं' ।	११९	११४
२ 'मंग्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्' ।	१२०	११७ 'भ्युदयैरपि'
३ 'कन्याहररणसंग्रामविप्रलंभोदयान्विताः' ।	१२७	१२९ 'दयादयः' ।
४ 'अद्य या मम गोविन्दं जाता त्वयि गृहागते । कालैनैषा भवेत् प्रीति- स्तवैवागमनात्पुनः' ॥	३१३	२१२७६

(यह पच दोनों ने ही 'प्रेय' अलंकार के उदाहरण में रखा है)

५ 'भाविकत्वमिति प्रादुः प्रवन्धविषयं गुणम्' ।	३।१५३	२।३।६४ 'तद्वाविक'
६ अपार्थं व्यर्थमेकार्थं सम्शयमपक्रमम् शब्दहीनं यतिश्रष्टं भिन्नवृत्तं विसंवित्ति च' ॥	४।१	३।१२५ 'विसंवित्ति'
७ 'समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थकमिष्यते'	४।८	३।१२८ 'मितीष्यते'
८ 'गतोऽस्तमकों भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः' ।	२।८७	२।२४४
९ 'आत्मेषोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना	२।६६	२।४

इन अवतरणों में समानता होने के कारण यह धारणा होना स्वाभाविक है कि इन दोनों में एक ने दूसरे के ये वाक्य लिये हैं। इनमें तीसरी संख्या के अवतरण को भामह ने (१।२३ से १।२७ तक) कथा और आख्यायिका को भिन्न भिन्न बतलाते हुए कहा है। पर दण्डी कथा और आख्यायिका को एक ही बताता है—

‘तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयान्विता ।

अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः’ ॥

—काब्यादर्श १२८-२९

इस पर कुछ विद्वानों का मत है कि यह दण्डी द्वारा भामह की आलोचना है । यद्यपि इसमें मतभेद है, किन्तु हमारे विचार में यही एक क्यों अन्य आधारों से भी इस विषय में सहायता मिलती है, जिनपर संभवतः अन्य विद्वानों ने अधिक विवेचन नहीं किया है । जैसे भामह के ग्रन्थ में जितने अलंकार निरूपित हैं, वे पृथक् पृथक् वर्गों में विभक्त हैं । और वह विभाग किसी दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर अथवा अलङ्कारों के सजातीय चमत्कार पर नहीं किया गया है— जैसा कि भामह के परवर्ती रुद्रट ने औपम्य, वास्तव, विरोध और स्वभाव इन चार वर्गों में किया है । किन्तु भामह ने संभवतः अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में जिनका कि उसने प्रायः स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया है, जिस जिस आचार्य ने विभिन्न समय में जितनी संख्या के अलंकारों का निरूपण किया था उन्हें एक एक वर्ग में पृथक् पृथक् रखा है । किन्तु दण्डी ने जितने अलंकारों का निरूपण किया है, उनका नामोल्लेख द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में एक ही साथ करते हुए कह दिया है कि—

‘किन्तु वीजविकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम् ।

तदेव प्रतिसंस्कर्तुस्यमस्मत् परिश्रमः’ ॥

—का० द० २१२

इसमें यद्यपि दण्डी ने भी ‘पूर्वाचार्यैः’ के प्रयोग द्वारा अनेक आचार्यों द्वारा अलंकारों का निरूपण किया जाना बताया है, किन्तु इन दोनों की लेखन-शैली के क्रम द्वारा हम कम से कम यह अनुमान कर सकते हैं कि भामह ने जो जो अलंकार दिखाये हैं, वे उसके समय में अनेक ग्रन्थों में पृथक् पृथक् विखरे हुए थे, उनको उसने एकत्र लिखकर प्रत्येक आचार्य के निरूपित अलंकारों का पृथक्-पृथक् वर्ग में समावेश किया है जैसा कि पहिले दिखाया गया है । और उसने उनको

संस्कृत साहित्य का इतिहास

अधिक परिष्कृत न करके या विस्तृत रूप में न दिखाकर उसी रूप में बताया है। अतएव यह बात भामह की प्राचीनता की परिचायक है। किन्तु दण्डी के ग्रन्थ में अलंकारों का परिष्कार एवं भेद और उपभेदों द्वारा उनका विस्तार किया जाना प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है, जैसा कि उसने स्वयं उपर्युक्त कारिका में कहा है। इसके अतिरिक्त भामह अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य के निरूपित हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों की आलोचना करता हुआ, वह कहता है कि—

‘गतोस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।

इत्वेवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते’ ॥

—भा० का० लं० २१८७

और दण्डी का—

‘गतोस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।

इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने’ ॥

—का० द० २१२४४

इस पद्य के त्तराद्वं में यह कहना कि—‘इस प्रकार काल, अवस्था के सूचन में ऐसा वर्णन भी उचित ही है। संभवतः यह सूचन करता है कि भामह ने जिस ‘हेतु’ को न मानकर इस उदाहरण पर आक्षेप किया है, दण्डी ने उसी हेतु अलंकार का वही उदाहरण दिखाकर भामह के आक्षेप का समाधान किया है। यदि ऐसा न माना जाय तो प्रश्न होता है कि दण्डी ने अन्य किसी भी अलङ्कार के उदाहरण के विषय में ऐसा समाधान नहीं किया, फिर इसी के विषय में वही उदाहरण दिखलाकर समाधान करने की उसे क्या आवश्यकता थी? और देखिये, भामह ‘वैदर्भी’ और ‘गौडी’ रीति (या मार्ग) में कुछ भिन्नता स्वीकार नहीं करता, यही नहीं, उसने इन दोनों में भिन्नता मानने वालों पर बड़ा तीव्र आक्षेप भी किया है—

‘गौडीयमिदमेत्तातु वैदर्भमिति किं पृथक् ।

गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयमेधसाम्’ ॥

—भामह का० लं० १३२

किन्तु दण्डी इसके विरुद्ध कहता है कि परस्पर में अल्प भेद रखनेवाले तो काव्य-मार्ग अनेक हैं पर वैदर्भी और गौड़ी ये दो मार्ग ऐसे हैं जिनमें स्पष्ट भिन्नता है—

‘अस्यनेको गिरां मार्गः सूहमभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्णयेते प्रस्फुटान्तरौ’ ॥

—का० द० ११४०

किर दण्डी ने अपने इस मत को उदाहरण दिखलाकर भी स्पष्ट किया है। वह संभवतः भामह की आलोचना है। यदि ऐसा न माना जाय तो दण्डी को इस विषय पर इतना अधिक लिखने की आवश्यकता ही क्या थी? यद्यपि यह कल्पना मात्र है, पर महत्वपूर्ण अवश्य है।

अन्य विद्वानों ने भामह और दण्डी के विषय में और भी बहुत सी बातों पर अपने अपने मत का पुष्टि के लिये युक्तियाँ देकर विस्तृत विवेचन किया है। वह विद्वत्तापूर्ण होने पर भी असंदिग्ध नहीं—उनके द्वारा कोई विश्वसनीय निष्कर्ष नहीं निकल सकता, अतएव उनपर अधिक लिखकर विस्तार करना अनावश्यक है। संज्ञेष में यही कह सकते हैं कि संभवतः भामह के ग्रन्थ से दण्डी परिचित था और उसकी वह अवहेलना न कर सका। इस मत से दण्डी के प्रायः सभी टीकाकार—तरुण वाचस्पति^१, हरिनाथ^२, वादि जंघाल^३ आदि सहमत हैं। अतएव दण्डी से भामह को पूर्ववर्ती मानना ही अधिकांश में उचित प्रतीत होता है।

भामह और वाणा

वन्यालोक के चतुर्थ परिच्छेद में एक कारिका है—

१ देखो काव्यादर्श पर तस्णवाचस्पति की टीका ६१, २३, २४, २९, और २१२३५, २३७, ३५८ एवं ४१४ ।

२ देखो काव्यादर्श पर हरिनाथ की टीका ११७५

३ देखो काव्यादर्श पर वादि जंघाल की टीका ११२१, ५२ ।

‘दृष्टपूर्वा ह्यपिद्यर्थाः काव्ये रसपरिप्रहात् ।
सर्वे नवा इवा भान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥

—ध्वन्या० ४१४, पृ० २३६

इसकी वृत्ति में स्पष्टता करते करते हुए बहुत उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें एक यह भी है—

‘यथा—धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः’ इत्यादौ
शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः ।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं विभ्रते भुवम् ॥
इत्यादिषु मत्स्वपि तस्यैवार्थशब्दशक्त्युद्भवानु—
रणनरूपव्यञ्जयसमाश्रयेण नवत्वम् ।

—ध्वन्यालोक पृ० २३६

इस अवतरण में—‘शेषो हिमगिरि’ इत्यादि पद्य भामह के काव्यालङ्कार (३।२८) में तुल्ययोगिता अलंकार के उदाहरण में दिया गया है। और इसके ऊपर वाला—‘धरणीधारणा’ इत्यादि, वाण के श्री हर्षचरित में है। ध्वन्यालोक के मतानुसार भामह के अर्थ को वाण ने प्रकारान्तर से कहा है। अतएव श्री आनन्दवर्धनाचार्य के इन वाक्यों द्वारा भामह का वाण से पूर्व होना निस्सन्देह सिद्ध होता है। महाकवि वाण का समय श्री हर्षवर्धन के राज्यकाल में सप्तम शताब्दी है, इसके द्वारा भामह का समय ईसवी की सप्तम शताब्दी के पूर्व सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त भट्ठि के प्रकरण में पूर्वोल्लिखित भामह के “काव्यान्यापि यदीमानि”—(काव्यालंकार २।२०) इस पद्य के आधार पर की गई विवेचना से भी, जो कि हमारे विचार में सारगम्भित है, भामह का समय लगभग छठी शताब्दी के बाद का कदापि संज्ञ नहीं प्रतीत होता।

न्यासकार और भामह

भामह की पूर्व सीमा के विषय में ‘शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा’ (६।३६) इस पद्य में न्यासकार का उल्लेख होने से श्री केऽबी० पाठक ‘न्यासकार’ का प्रयोग जिनेन्द्र बुद्धि के लिये किया गया बतलाते हैं, जिनका समय सन्

७०० ई० कहा जाता है। किन्तु श्री त्रिवेदी इस मत से सहमत नहीं^१ क्योंकि न्यासकार केवल जिनेन्द्र बुद्धि ही नहीं कहा जा सकता, जब कि माधवाचार्य ने धातुवृत्ति में ज्ञेनेन्द्र न्यास, न्यासोद्योत, वोधिन्यास और शाकटायन न्यास आदि अनेक न्यासकारों का उल्लेख किया है। महाकवि वाण ने भी—जो निर्विवाद न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि से पूर्ववर्ती था, हर्षचरित में—‘कृतगुरुपदन्यास’ इस वाक्य में न्यास का उल्लेख किया है। अतएव श्री पाठक की यह कल्पना नितान्त अनाधार है। इस विषय में अन्य विद्वानों द्वारा अधिक विवेचना की गई है, पर उसके द्वारा यहाँ कुछ सन्तोषप्रद सहायता नहीं मिल सकती।

भामह और धर्मकीर्ति

भामह के काव्यालंकार में न्याय विषयक विवेचना में किसी अंश में धर्मकीर्ति के साथ समानता प्रतीत होती है। भामह ने अनुमान की परिभाषा—

‘त्रिरूपालिङ्गतो ज्ञानमनुमानं च केचन ।
तद्विदो नान्तरीयार्थदर्शनं चापरं विदुः’॥

—भा० का० ल० ५११

यही दी है। डा० जेकोबी का मत है कि “धर्मकीर्ति ने ‘न्यायविन्दु’ में अनुमान की जो—‘अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं त्रिरूपलिङ्गात् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्’। यह स्पष्टता की है, इसीपर भामह की उपर्युक्त परिभाषा अवलम्बित है।” किन्तु इसके द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि भामह ने यह धर्मकीर्ति से ली है, क्योंकि भामह की कारिका का उत्तरार्द्ध न्यायवार्तिक की टीका में वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग के नाम से उद्धृत किया है। यही नहीं, भामह तथा दिङ्नाग के पूर्ववर्ती न्यायाचार्यों ने भी अनुमान के विषय में इसी प्रकार लिखा है। दूसरी समानता भामह के ‘दूषणं न्यूनताद्युक्ति’ (का० ल० ५१२) इस वाक्य के धर्मकीर्ति के ‘दूषणानि न्यूनताद्युक्ति’ (न्यायविन्दु पृ० १३२) इस

^१ देखो इंडियन एंटिक्वायरी सन् १९१३ पृ० २६१

वाक्य में हैं। और तीसरी समानता भामह के—‘जातयो दूषणाभासाः’ (का० लं० ५४२६) इस वाक्य से धर्मकीर्ति के—‘दूषणाभासास्तु जातयः’ (न्याय विं० पृ० १३३) इस वाक्य के साथ है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या धर्मकीर्ति के दिये हुए ये लक्षण उसके मौलिक (नवीन) हैं, जब कि दूषण और जाति दोनों ही विषयों से उसके पूर्वचार्य भी परिचित थे। न्याय-प्रवेश में भी ऐसे ही लक्षण हैं^१। अतएव इन समानताओं से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि भामह ने धर्मकीर्ति से ही न्याय विषयक ये लक्षण लिये हैं। श्री काणे का मत है कि संभवतः भामह ने यह विषय दिङ्नाग से लिया है। दिङ्नाग का समय डा० सतीशचन्द्र के मत से सन् ५०० ई० के लगभग है^२। यदि यह कल्पना ठीक हो तो भामह का समय सन् ५०० ई० के बाद का हो सकता है।

भामह और महाकवि भास, कालिदास तथा मेधावि आदि भामह ने अपने पूर्ववर्ती काव्य-शास्त्र के आचार्यों में कुछ का स्पष्ट नामोल्लेख और कुछ का अस्पष्टतया उल्लेख किया है। उनमें व्याकरणाचार्य श्री पाणिनि का नामोल्लेख भी स्पष्ट किया है—‘अद्वेयं जगति मतं हि पाणिनीयम्’ (६।६३) और संभवतः भरतमुनि के विषय में (१।२४) और महर्षि पतञ्जलि के विषय में (६।२१) भी उल्लेख है। गुणाद्य, भास और कालिदास का यद्यपि भामह ने स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया है, पर उनकी कृति पर तो भामह ने प्रत्यक्ष आलोचना की है। भास की स्वप्रवासवडता की भूमिका में प० गणपति शास्त्री ने भामह को भास का परवर्ती और कालिदास तथा वृहत्कथाकार गुणाद्य का पूर्ववर्ती कल्पना किया है। किन्तु यह कल्पना भ्रमात्मक है। भामह ने न्याय-विरोधी दोष प्रकरण में (४।३६--४७) वत्सराज की कथा पर आलोचना की है। यह कथा भास के ‘प्रतिज्ञायौगन्धरायण’ नाटक और गुणाद्य की

^१ देखो विद्याभूषण की हिस्ट्री आफ इंडियन लाजिक पृ० २९८।

^२ देखो भंडारकर com. जिल्द १ पृ० १६३

वृहत्कथा दोनों में है। किन्तु भास ने यह प्रकरण जिस ढङ्ग से लिखा है, उसके साथ भामह के आक्षेप का सम्बन्ध प्रतीत नहीं हो सकता। क्योंकि भामह ने जो आक्षेप किये हैं उनका परिहार भास के वर्णन में स्पष्ट दृष्टिगत होता है अतः वह आक्षेप गुणाद्य के सम्बन्ध में ही लागू हो सकता है। फिर भामह ने—

‘अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मास्तनादयः ।’

तथा भ्रमरहारीतचकवाकशुकादयः ॥

अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः ।

कथं दौत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते ॥

यदि चोत्करण्ठया तत्तदुन्मत्त इव भाषते ।

तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ॥

—भा० का०ल० ११४२-४३-४४

इसमें प्रथम के दो पदों में मेघ, पवन, भ्रमरादि पक्षियों की दूतकल्पना पर आक्षेप किया गया है। पं० गणपति शास्त्री कहते हैं कि इसमें केवल युक्त्युक्ता पर विचार किया गया है—कालिदास के मैघदूत से भामह परिचित न था। किन्तु यह किस प्रकार संभव है—जबकि कालिदास द्वारा मैघ की कल्पना में—‘इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे’ और ‘कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाचेतना चेतनेषु’ इत्यादि जो कारण मैघ की दूत-कल्पना में बताये गये हैं, भामह ने उन्हीं ‘यदि चोत्करण्ठया’ और ‘तदुन्मत्त’ इत्यादि शब्दों से ऊपर के अवतरण के तीसरे पद्य में इस दोष की उपेक्षा की है। इससे स्पष्ट है कि मैघ की दूत-कल्पना में जो कालिदास ने ‘उत्करण्ठा’ आदि कारण बताये हैं, वे भामह को उचित प्रतीत हुए, इसीसे उसने केवल ‘सुमेधोभिः प्रयुज्यते’ यही कह कर समाधान कर दिया है। काव्यालंकार की भूमिका में श्री बटुकनाथ एम० ए० और श्री बलदेव उपा- है। काव्यालंकार की भूमिका में इसी प्रसंग के विषय में ध्याय एम० ए० ने कालिदास और भामह के सम्बन्ध में इसी प्रसंग के विषय में

१ पाठान्तर—जलभृन्मास्तनेन्दवः ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

यह तर्क किया है कि 'भामह ने कालिदास का अनुसरण किया तो इस एक ही प्रसंग में क्यों, अन्य किसी विषय में क्यों नहीं?' । किन्तु इस तर्क का प्रथम तो इस प्रसंग में कुछ प्रभाव ही नहीं हो सकता, जबकि भामह न्यायविरोधी दोषों के विषय पर अपर्णे पूर्ववर्ती आचार्यों की काव्य-कृति पर आलोचना कर रहा है, संभव है भामह की दृष्टि में कालिदास के वर्णित अन्य प्रसंगों में उसे कुछ आलोचनीय प्रतीत न हुआ हो, इस तर्क का यही उत्तर पर्याप्त है । इसके अतिरिक्त भामह के ग्रन्थ में कालिदास के ग्रन्थों की छाया और भी अनेक स्थलों पर प्रत्यक्ष देखी जाती है—

भामह

'मार्जन्त्यधररागं ते पतन्तो वाष्प-
विन्दवः' । (६।३१)

'जानुदध्नी सरिश्चारो नितम्बद्वय-
संसरः' (६।५५)

'अयं मन्दद्युतिभास्वा-
नस्तं प्रतियासति ।

उदयं पतनायेति

श्रीमतोबोधयन्नरान्' ॥

—३।३४

कालिदास

'हतोष्टरागैर्नयनोदविन्दवः'
विक्रमो० अ० ४

'नारो नितम्बद्वयसवभूव' ।

'यात्येकतोऽस्तशिखरं पति-
रांपर्यीनामाविष्कृतोऽलण्पुर-
स्तर-एकतोऽर्कः'

तेजोद्वयस्य युगपद् व्यस-
नोदयाभ्यां लोको नियम्यत
इवात्मदशान्तरेषु ॥

—शाकु० अङ्क ४।२

इस विषय का अधिक स्पष्टता हमने अपने हिन्दी मेघदूत-विमर्श की भूमिका (पृ० ७५-८०) में की है । अतएव स्पष्ट है कि भामह, कालिदास का परवर्ती है । और संभवतः भामह की पूर्व सामा कालिदास के समय पर ही निर्भर हो सकती है । किन्तु कालिदास का समय भी अत्यन्त जटिल और संदिग्ध है । इस विषय में विद्वान् लेखक दो श्रेणी में विभक्त हैं । एक श्रेणी के विद्वान् इनको

ईसवी सन् के पश्चात् गुप्त राज्य-काल में ब्रतलाते हैं, और दूसरी श्रेणी के ईसवी सन् के पूर्व ब्रतलाते हैं। हमने भी इसपर यथासाध्य विचार अपने हिन्दी मेघ-द्रूत-विमर्श की भूमिका में प्रदर्शित किये हैं। हमारे विचार में संभवतः महाकवि कालिदास, पुष्पमित्र के पुत्र अग्निमित्र के समकालीन हैं। कालिदास ने माल-विकाग्निमित्र नाटक अग्निमित्र और उसकी प्रियतमा मालविका के नाम से लिखा है। अग्निमित्र का समय ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दी कहा जाता है। यदि यह कल्पना ठीक मानी जाय तो भामह की पूर्व सीमा भी एकांश में संभवतः उसके बाद हो सकती है। और भामह की उत्तर सीमा छठी शताब्दी के लगभग है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। वहस इससे अधिक भामह के समय के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

दण्डी और उसका काव्यादर्श

“जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत् ।

कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डनि ॥”

साहित्य के उपलब्ध प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में भामह के बाद दण्डी का काव्यादर्श ही मिलता है। काव्यादर्श में तीन परिच्छेद हैं।

(१) प्रथम परिच्छेद में काव्य-परिभाषा, काव्य-भेद, महाकाव्यलक्षण, गद्य के प्रभेद, कथा, आख्यायिका, मिश्र-काव्य, भाषाप्रभेद, वैदर्भ आदि मार्ग, अनुप्रास, गुण और काव्य-हेतु का विवेचन है।

(२) द्वितीय परिच्छेद में ३५ अर्थालङ्कार (संस्कृति सहित) निरूपण किये गये हैं।

(३) तृतीय परिच्छेद में यमक, गोमूत्रादि चित्रबंध काव्य, प्रहेलिका और दश दोषों का निरूपण है।

जिस प्रकार उद्धट, आनन्दवर्धनाचार्य और मम्मट जैसे लब्धप्रतिष्ठ सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने भामह का नाम और उसका मत गौरव के साथ उल्लेख किया है,

ताहश उल्लेख यद्यपि दण्डी के विषय में दृष्टिगत नहीं होता है, पर उसका यह कारण नहीं कि दण्डी के ग्रन्थ का महत्व भामह के सम-कक्ष नहीं। यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो भामह का न्यायदोषप्रकरण यदि दण्डी से अधिक महत्वपूर्ण है, तो दण्डी की अलङ्कार, रीति, और गुणों के विवेचन की मौलिकता भामह की अपेक्षा कहीं अधिक परिष्कृत और उपयोगी है। सुप्रसिद्ध प्राचीन साहित्याचार्यों द्वारा भामह के समान दण्डी का उल्लेख न किये जाने का एकमात्र कारण संभवतः यही है कि दण्डी दाक्षिणात्य था और भामह काश्मीरी। साहित्य के प्राचीन प्रसिद्ध लेखक प्रायः काश्मीरी ही अधिक हुए हैं, इसी से उनके द्वारा भामह को इतना गौरव प्राप्त हो सका है और उस गौरव का मम्मट एवं रुद्धक के समय तक उसी प्रकार प्रभाव रहा है। किन्तु आचार्य मम्मट के काव्य-प्रकाश को व्यापक और अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवेचना के प्रकाश ने केवल भामह के ग्रन्थ को ही नहीं, किन्तु प्रायः सभी पूर्वापर ग्रन्थों को निर्वित कर दिया, किरणेसी अवस्था में दण्डी के ग्रन्थ का, जो स्वयं ही निर्विकास था, अपनी पूर्वावस्था में रहना स्वाभाविक ही था।

दण्डी ही ऐसा प्रवान साहित्याचार्य है जिसने अपने समस्त पूर्ववर्तियों से अधिक अलङ्कारों के उपभेदों का एवं गुण और रीति का विस्तृत निरूपण किया है। किन्तु उसके निरूपित अलङ्कारों के उपभेदों का अधिकांश में उसके परवर्ती आचार्यों में अनुसरण नहीं किया है।

काव्यादर्श पर छः प्राचीन टीकाएँ हैं जिनमें एक तरुण वाचस्पति की व्याख्या और दूसरी अज्ञातनामा विद्वान् की 'हृदयङ्गमा' मुद्रित हो चुकी है। और एक नवीन 'कुसुमप्रतिमा' नामक टीका पाण्डित वृसिंहदेव शास्त्री दर्शनाचार्य प्रणीत लाहौर से प्रकाशित हुई है। इस टीका की विवेचन शैली महत्वपूर्ण होने के साथ सुवोधगम्य भी होने के कारण उल्लेखनीय है।

दण्डी का व्यक्तिगत परिचय

दण्डी ने अपने काव्यादर्श में दक्षिण प्रान्त के मलयानिल (२१७४ और ३१६५), काञ्ची (अस्पष्ट ३११४), कावेरी (३१६६) और चोल

दण्डी और उसका काव्यादर्श

(अस्पष्ट ३।१६५) स्थानों का वर्णन किया है। ऐसे ही आधारों पर दण्डी के दाक्षिणात्य होने की कल्पना की जाती है। संभव है यह कल्पना ठीक हो, जब कि दण्डी की वर्णन शैली भी वैदर्भी रीति प्रधान है जो काश्मीर प्रान्त के साहित्यिकों से प्रायः भिन्न प्रतीत होती है।^१

दण्डी द्वारा प्रणीत ग्रन्थ

मि० पीटरसन् ने^२—

‘त्रयोऽग्रयस्ययो वेदास्ययो देवास्ययो गुणाः ।

त्रयो दण्डप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥’

यह पद्य राजशेखर के नाम से उद्धृत किया है। इसमें दण्डी को तीन प्रबन्धों का प्रणेता बताया गया है। इनमें काव्यादर्श और दशकुमारचरित्र दण्डी के नाम से प्रसिद्ध और उपलब्ध हैं। यथापि दशकुमारचरित्र को भी श्री त्रिवेदी^३ और श्री अगाशेश^४ दण्डी-प्रणीत नहीं मानते हैं। उनका तर्क यह है कि दण्डी ने काव्यादर्श में जो दोष निरूपण किये हैं वे अधिकांश में दशकुमारचरित्र की रचना में वर्तमान हैं। किन्तु इस तर्क के आधार पर दण्डी को दशकुमारचरित्र के प्रणेता के अधिकार से वञ्चित नहीं रखा जा सकता क्योंकि काव्य-नियम-निरूपक अपने ग्रन्थ में दोषों का विवेचन किया जाना एक अन्य बात है, और अपनी कृति अपने नामोन्त्वेत सहित उद्धृत किये हैं। किर यह भी संभव है कि दण्डी ने भी अपने नामोन्त्वेत सहित उद्धृत किये हैं।

महाकवि त्रेमेन्द्र ने श्रौचित्यविचार-चर्चा में अपने निर्दिष्ट दोषों के अनेक उदाहरणों में स्वयं प्रणीत ग्रन्थों के पद्य भी अपने नामोन्त्वेत सहित उद्धृत किये हैं।

काव्यादर्श के पूर्व अपनी साहित्य-क्षेत्र की प्रवेशावस्था में दशकुमार-

१ ‘दशकुमारचरित’ नामक दण्डी का पद्यात्मक काव्य वैदर्भी प्रधान है।

२ देखो सुभाषितावली की भूमिका पृ० १०१ पद्य संख्या १७४

३ देखो प्रतापरुदीययशोभूषण की भूमिका।

४ देखो इण्डयन एण्टक्वरी सन् १९०५ पृ० ६७।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

चरित्र लिखा हो। दण्डी के तीसरे ग्रन्थ के विषय में अब तक कुछ पता नहीं मिलता था। किन्तु हर्ष का विषय है कि दण्डी का तीसरा ग्रन्थ 'अवन्तिसुन्दरी-कथा' नामक अब दक्षिण भारत ग्रन्थावली में मुद्रित हो गया है जिसके विषय में आगे लिखा जायगा।

काव्यादर्श में दण्डी ने लिखा है—‘तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति’ (३।१७।) इसके द्वारा जात होता है कि वह कलापरिच्छेद लिखना चाहता था, उसे वह काव्यादर्श का ही चतुर्थ परिच्छेद बतलाता है अथवा अन्य स्वतंत्र ग्रन्थ? वह अनिश्चित है और यह भी पता नहीं चल सकता कि उसे वह लिख पाया या नहीं?

दण्डी का समय

दण्डी का समय भी अत्यन्त संदिग्ध है। दण्डी की अन्तिम सीमा के लिये अन्य ग्रन्थों में निम्नलिखित आधार प्राप्त होते हैं—

(१) श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने, जिनका समय लगभग दशम शताब्दी है, ध्वन्यालोक की व्याख्या लोचन में लिखा है—
‘यथाह दण्डी—

गद्यपद्यमयीचम्पूः’ (उद्योत ३।७ की वृत्ति पृ० १४१)

(२) प्रतिहारेन्दुराज ने, जिसका समय लगभग ईसवी सन् ६२५ है, उद्दटाचार्य के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की लघुवृत्ति (पृ० २८) में लिखा है—‘अतएव दण्डिना लिम्पतीव’ इत्यादि।

(३) कनारी भाषा में ‘कविराजमार्ग’ नामक एक ग्रन्थ राष्ट्रकूट के राजकुमार अमोववर्ष प्रणीत है। उसके सम्पादक श्री पाठक के कथनानुसार उस ग्रन्थ में साधारणोपमा, असंभवोपमा, संभवोपमा, विशेषोक्ति की परिभाषाएँ दण्डी के काव्यादर्श से सर्वथा अनुवादित हैं। और अन्य भागों पर भी काव्यादर्श का पर्याप्त प्रमाण है। उस ग्रन्थ का निर्माणकाल शक ७३७-७६७ (८१५-८७५ ई०) है।

- (४) सिंहली भाषा में एक 'सियाकसलकार' (स्वभाषालङ्कार) नामक ग्रन्थ है। वह दण्डी के काव्यादर्श पर ही अबलम्बित है; उसमें काव्यादर्श का स्पष्ट नामोल्लेख भी है। महावंश के अनुसार इसका लेखक प्रथम राजसेन के राज्यकाल सन् ८४६-८६६ ई० का है।
- (५) वामन के काव्यालङ्कार सूत्र से दण्डी के काव्यादर्श की तुलनात्मक विवेचना द्वारा विदित होता है कि वामन से दंडी प्राचीन है। दण्डी ने रीति-सिद्धान्त का जो महत्वपूर्ण विवेचन किया था, उसे वामन ने अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया है। दण्डो वैदर्भ और गौड़ी दो ही मार्ग बतलाता है—‘तत्र वैदर्भगौडियौ’ (१४०), किन्तु वामन उनमें एक ‘पाञ्चाली’ और बढ़ाकर तीन बतलाता है। वामन इनको ‘मार्ग’ न कह कहकर ‘रीति’ कहता हुआ (यद्यपि उसने “मार्ग” का प्रयोग भी किया है ३। १। १२) इतना महत्व देता है कि—‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ (१। २। ६) इससे ज्ञात होता है कि वामन की पाञ्चाली रीति से और उसके पारिभाषिक शब्द ‘रीति’ से दण्डी सर्वथा अपरिचित था। और भी ऐसे कारण हैं, जिनके द्वारा दंडी का वामन से प्रथम होना प्रतीत होता है। वामन का समय आठवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्द्ध है जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा।

इन आधारों पर दण्डी की अन्तिम सीमा सन् ८०० ईसवी के लगभग हो सकती है। किन्तु एक और भी प्रमाण मिलता है, जिसके द्वारा वह सीमा आर भी पूर्व काल तक चली जाती है। शार्ङ्गवर-पद्धति में (संख्या १८०) विजिका नामी एक स्त्री लेखिका का—

‘नीलोत्पलदलश्यामां विजिकां मामजानता ।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥’

यह पद्य है। काव्यादर्श में दण्डी ने मंगलाचरण के प्रथम पद्य में

१ देखो जरनल आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०५
पृ० ८४१।

‘सर्वशुक्रासरस्यती’ लिखा है। इसपर विजिका का यह व्यङ्ग्यात्मक उपहास है। विजिका के अनेक पद आचार्य ममट आदि के ग्रन्थों में उदाहरण रूप में मिलते हैं। इसके पद्य विजया, विजा के नाम से भी उद्धृत किये गये हैं। इसके विषय में जलहण की सूक्षि मुक्तावली (संख्या १८४) में राजशेखर के नाम से—

‘सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ ।
या विद्मगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥’

यह पद्य है। इसके द्वारा यह दक्षिण प्रान्त की विदित होती है। संभवतः यह विजयात कार्णाटी वही भट्टारिका विजियाङ्का है, जो चन्द्रादित्य की महारानी थी। चन्द्रादित्य द्वितीय पुलकेशिन का पुत्र था^१। इसका समय सन् ६६० ई० है। यदि विजियाङ्का का विजिका से एकीकरण भ्रमात्मक न हो, जैसा कि संभव भी नहीं है, क्योंकि जिसने स्वयं अपनी विद्रोह के गर्व पर दंडी पर व्यङ्ग्योक्ति की है और जिसके विषय में राजशेखर जैसे विद्वान् द्वारा ऐसा महत्वपूर्ण उल्लेख हो सकता है, तो दंडी की अंतिम सीमा विजिका के पूर्व लगभग सन् ६०० ई० तक चली जाती है। इसके सिवा ईसवी सन् की छठी शताब्दी के सुबन्धु प्रणीत वासवदत्ता में—“यश्च छन्दोविचितिरिव कुमुमविचित्रामिः” छन्दो विचितिरिव मालिनीसनाथा^२। ‘छन्दोविचितिमिव ध्राजमानतनुमध्याम्’ इस प्रकार तीन स्थलों पर ‘छन्दोविचिति शब्द का प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि दंडी के—छन्दोविचितियां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः।’ इस वाक्य में दंडी ने अपने जिस ‘छन्दोविचिति’ नामक अपने छन्द-ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है, उसी के विषय में उपर्युक्त वाक्य सुबन्धु के हैं। यदि वह कल्पना ठीक हो तो इसके द्वारा भी दंडी का सुबन्धु के पूर्ववर्ती अर्थात् ईसवी की छठी शताब्दी में होना सिद्ध होता है। दंडी का समय बहुत से ऐतिहासिक विद्वान्

१ देखो इंडियन एण्टिक्वरी पुस्तक ७ पृ० १६७ और पु० ८ पृ० ४८

छठी शताब्दी में ही बतलाते हैं। जैसे मि० मेक्समूलर^१, मि० वेवरन^२, प्रोफेसर मेकडोनल^३ और कर्नल जेकव^४ आदि।

किन्तु दण्डी की पूर्व सीमा के लिये जो अन्य आधार उपलब्ध होते हैं, वे अधिक प्रचल हैं, और उनके द्वारा ऊपर की मान्यता पर आधात पहुँचता है। श्री महेश्चन्द्र न्यायरत्न, मि० पीटरसन और जेकोची का मत है कि दण्डी के २१६७ में वाण की कादम्बरी (ओम्बे संस्कृत सौरीज संस्करण के पृ० १०२ पंक्ति ३६) का प्रतिचिन्ह है। वाण का समय तो महाराज श्रीहर्षवद्धन के समकालीन ६०६-६४७ ई० है।

मि० जेकोची का मत है कि दण्डी के—

‘रत्नभित्तिषु संक्रान्तैः प्रतिविम्बशर्तैवृत्तः ।
ज्ञातो लंकेश्वरः कृच्छ्रादाङ्गनेयेन तत्वतः ॥’

—का० द० २१३०२

इस पत्र का माध्र के—

‘रदस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे ।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृत्ता इव ॥’

शिशुपा० २१४

इस पत्र में समानता है। इनमें समानता किसी अंश में अवश्य है। किन्तु इस अत्यन्त शिथिल आधार पर माध्र और दण्डी के पूर्वापर की कल्पना करना नितान्त अविश्वसनीय है। अच्छा, एक और आधार उपलब्ध होता है, उसके द्वारा दण्डी के पूर्वोक्त समय पर कुछ और ही प्रकाश पड़ सकता है। दण्डी-

१ देखो इंडिया : ह्याट केन इट टीच अस, संस्करण १ पृ० ३३२ ।

२ देखो हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर पृ० २३२ ।

३ देखो हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर पृ० ४३४

४ देखो जरनल आव द रायल एशियाटिक सोसां सन् १८४७ पृ० २८७ ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्रणीत पूर्वोक्त 'अवन्तिसुन्दरीकथा' नामक ग्रन्थ से, जो अभी मद्रास में मुद्रित हुआ है, विदित होता है कि दण्डी महाकवि भारवि के प्रपौत्र थे। उस ग्रन्थ में स्वयं दंडी ने लिखा है कि भारवि के पूर्वज गुजरात प्रान्तस्थ आनन्दपुर के निवासी थे, वहाँ से वे नासिक आये, फिर दक्षिण के अचलपुर में—समवतः अब जिसे एलिचपुर कहते हैं, रहने लगे। इसी वंश में कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण नारायण स्वामी के पुत्र महाकवि भारवि थे। भारवि का असली नाम दामोदर था। महाकवि भारवि का उल्लेख सर्वप्रथम दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा पुल-केशी (द्वितीय) के शिलालेख में इस प्रकार मिलता है—

'येनायोजिनवेशमस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेशम् ।
स विजयतां रघिकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥'

यह शिलालेख शक ४५६ (६३४ ई०) का लिखा हुआ है। इसके द्वारा स्पष्ट है कि भारवि सप्तम शताब्दी में सुप्रसिद्ध हो चुके थे। अवन्तिसुन्दरीकथा में यह भी उल्लेख है कि भारवि, युवराज विष्णुवर्द्धन की, जो पुलकेशी द्वितीय का कनिष्ठ भ्राता था, सभा में रहा। तदनन्तर भारवि पश्चिम के गङ्गावंशीय राजा दुर्विनीत के आश्रय में रहा। दुर्विनीत का समय भी सप्तम शताब्दी ही माना जाता है। दुर्विनीत ने भारवि के सुप्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय के पंद्रहवें सर्ग की टीका की है, जैसा कि राजा पृथ्वीकोकण के दानपत्र के—

'किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गादिकोकारो दुर्विनीतनामधेयः ।'

इस वाक्य द्वारा विदित होता है। अतएव भारवि का समय लगभग छठी शताब्दी के अन्तिम चरण से सप्तम शताब्दी के प्रथम चरण तक माना जा सकता है। और अवन्तिसुन्दरीकथा के—

मनोरथाद्यस्तेयां मध्यमो वंशवर्द्धनः ।
ततस्तनूजाश्वत्वारः स्तष्टुवेदा इवाभवन् ॥

१ देखिये—इण्डियन एण्टिक्वरी ५। ६७-७।

श्रीवीरदत्त इत्येषां मध्यमो वंशवर्द्धनः ।
 यवीयानस्य च श्लाघ्या गौरी नामाभवतिया ॥
 ततः कथंचित्सा गौरी द्विजाधिपशिरोमणे: ।
 कुमारं दण्डिनामानं व्यक्तशक्तिमजीजनत् ॥

इन पद्यों से विदित होता है कि भारवि के मध्यम पुत्र मनोरथ के चार पुत्रों में सबसे छोटा वीरदत्त था। वीरदत्त की पत्नी का नाम गौरी था। इन्हीं वीरदत्त और गौरीदेवी से दंडी का जन्म हुआ है। इनकी जन्मभूमि काञ्ची (आधुनिक कांजीवर) थी। इसके द्वारा दंडी का दाक्षिणात्य होना भी सिद्ध है, जैसाकि अवतक विदानों की कल्पना है। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिये २० वर्ष भी मान लिये जायें तो भी दंडी का समय इस आधार पर सप्तम शताब्दी का अंतिम चरण हो सकता है। इसके द्वारा भामह और दंडी के पूर्वापर के सम्बन्ध में जो पहिले विवेचन किया गया है, उसकी पुष्टि भी होती है कि भामह का समय महाकवि वाण के पूर्ववर्ती संभवतः छठी शताब्दी है और दंडी का सप्तम शताब्दी का अंतिम चरण ही माना जा सकता है।

—०—

उद्धरण और उसका काव्यालङ्कारसारसंग्रह

“विद्वान्दीनारलक्षणं प्रत्यहं कृतवेतनः ।

भट्टोभूदुद्धरस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥”

—रजत० ४१४९५

भामह और दंडी के बाद अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि उद्धराजार्य हैं। इन्होंने काव्यालङ्कारसारसंग्रह ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ भी लुप्तप्राय था, इसकी खोज के यशोभागी मिठौ बूल्हर हैं, जिन्होंने लघुवृत्ति युक्त इस ग्रन्थ की एक प्रति प्रथम जेसलमेर में प्राप्त की थी। यह ग्रन्थ छँ; वर्गों में विभक्त है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

हसकी ७५^१ कारिकाओं में ४१ अलङ्कारों का निरूपण है। ६५ पदों में उदाहरण है, जो उद्घट ने स्वयं प्रणीत 'कुमारसंभव' काव्य से दिये हैं, जैसा कि लघुवृत्तिकार प्रतिहारेन्दुराज ने अंतदीपक की वृत्ति में कहा है—'अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचित्कुमारसम्बवैकदेशोत्त उदाहरणत्वेनोपन्यस्तः'।

उद्घट ने अलङ्कारों का क्रम और उनके वर्ग भामह के काव्यालङ्कार के अनुसार रखे हैं, और प्रायः संख्या भी। भामह के निरूपित ३६ अलङ्कारों में से इसने आशी, उत्प्रेक्षावयव, उपमारूपक, और यमक इन चार को छोड़ दिया, और पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, काव्यालिङ्ग, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और संकर ये छः अलङ्कार अधिक निरूपण किये हैं। उद्घट ने १२ अलङ्कार के लक्षण अक्षरशः भामह से लिये हैं, जैसा कि पहिले (पृ० ११४ में) कहा गया है। इनके सिवा अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रंसवत् और भाविक के लक्षणों में भी भामह से अधिकांश सम्म्य है। इसका मुख्य कारण सम्भवतः यह है कि जिस अलङ्कार के विषय में उद्घट के विचार भामह के समान थे, उन्हीं अलङ्कारों के लक्षण उसने भामह से लिये हैं; जैसे कि आचार्य मम्मट ने भी किसी-किसी लक्षण के विषय में ऐसा किया है। और जिन लक्षणों के विषय में भामह से उसका मतैक्य नहीं था, उनमें उद्घट ने परिवर्तन कर दिया है। और भामह के जिन लक्षणों से उद्घट सर्वथा सहमत न था उनका उसने नवीन निर्माण किया है। अतएव उद्घट की भामह का दासवत् अनुयायी नहीं कहा जा सकता है। भामह के निरूपित ४ अलङ्कारों का उसने बहिष्कार कर दिया है और छः अलङ्कार नवीन लिखे हैं—जैसा कि अभी कह चुके हैं। उद्घट के निरूपित इन ६ अलङ्कारों को उसके परवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। यही नहीं, इन छः अलङ्कारों में पुनरुक्तवदाभास, काव्यहेतु और दृष्टान्त ये तीन तो सबसे प्रथम उद्घट द्वारा ही आविष्कृत हैं—इसके पूर्ववर्ती भामह, दण्डी आदि ने नहीं

^१ यह संख्या बाम्बे संस्कृत सीरीज के संस्करण के अनुसार है। निर्णय-सागर प्रेस के संस्करण में ७९ कारिकाओं में लक्षण और १०० में उदाहरण हैं।

लिखे हैं। अनुप्रास, श्लेष और प्रेय अलङ्कार के विषय में तथा और भी अनेक स्थलों पर उद्धट का भामह से मतभेद है।

उद्धट ने काव्यालङ्कारसारसंग्रह के सिवा 'भामह विवरण' भी लिखा है—जिसका काव्यालङ्कारसारसंग्रह की लघुवृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज द्वारा विशेषोक्ति की व्याख्या में और ध्वन्यालोक के लोचन में भी उल्लेख है^१।

उद्धट का परिचय

उद्धटाचार्य वडे प्रतिष्ठित विद्वान् थे। अलङ्कारशास्त्र में इनका उच्च स्थान है। इनके पर्वती सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने इनका मत और नामोल्लेख सम्मान के साथ किया है। श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक की वृत्ति में भी उल्लेख किया है—‘तत्र भवद्धिः भट्टोद्धटादिभिः’ (पृ० १०८)। लोचन में श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने भी उल्लेख किया है—‘भट्टोद्धटवामनादिना’ पृ० १०। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने ‘इति औद्धयः’ (पृ० ४०) और कहीं—‘उद्धटमतानुयायिनः’ भी लिखा है। इसके द्वारा विदित होता है कि उद्धट के मतानुयायी अनेक विद्वान् थे। काव्यप्रकाश में शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष की भिन्नता के प्रतिपादन में उद्धट की आलोचना भी की गई है^२। सूयक ने भी इनका मत (त्रिवेन्द्रम स० पृ० ६) अन्य आचार्यों के साथ उद्धृत किया है।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह यद्यपि संक्षिप्त ग्रन्थ है, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, किन्तु सम्भव है उद्धट के विचारों का यह अत्यन्त अल्प भाग हो क्योंकि उद्धट जैसे विद्वान् द्वारा अलङ्कार शास्त्र पर अधिक विवेचन न किया जाना आश्र्य का विषय है। सम्भव है इस विषय पर भामह विवरण में अथवा अन्य किसी स्वतंत्र ग्रन्थ में उसने अधिक विवेचन किया हो जो अब अनुपलब्ध है। कर्नल जेक्ट्र ने—‘रसाधिष्ठित काव्य’ इस पद्य को उद्धट का समझकर यह लिखा है

^१ देखो ध्वन्यालोक लोचन पृ० ४०—‘यत्तु विवरणकृत्’ इत्यादि।

^२ देखो काव्यप्रकाश नवम उल्लास श्लेष-प्रकरण।

कि उद्धट रस को काव्य की आत्मा बताता है^१। किन्तु यह कल्पना भ्रमात्मक है, क्योंकि प्रतिहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में—काव्यालङ्घ के लक्षण की ५४ वीं कारिका की वृत्ति में 'तदाह' के आगे यह पद्य लिखा है, (त्रिवेन्द्रम् संस्करण) जिससे स्पष्ट है कि यह पद्य उद्धट का नहीं, किन्तु प्रतिहारेन्दुराज ने अपने किसी पूर्ववर्ती का उद्धृत किया है। उद्धट ने तो रसवत् अलङ्घार की परिभाषा में रसों का केवल नामोल्लेख मात्र ही किया है—रस पर अधिक विवेचन नहीं किया। और यही बात लघुवृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज ने इन कारिकाओं की व्याख्या में स्पष्ट की है—‘रसानां भावानां च किं काव्यालङ्घारत्वमुतकाव्यजीवितमिति न तावद्विचार्यते……अप्रकृतत्वाच्च’ (पृ० ५४ वांचे सं० सीरीज) इसके सिवा रुद्यक ने अलङ्घार सर्वस्व (पृ० ७ त्रिवेन्द्र० संस्क०) में—‘अलङ्घारा एव काव्ये प्रथानम्’ इस सिद्धान्त की पुष्टि में अलङ्घारों को काव्य में प्रथान माननेवाले प्राचीन आचार्यों के साथ ही उद्धट का नामोल्लेख किया है। अतः कर्नल जेकब की यह कल्पना भ्रमात्मक और निर्मल है। जहाँ तक देखा जाता है, उद्धट और उनके अनुयायियों का मत तो यह है कि गुण और अलङ्घार वस्तुतः एक ही स्वभाव के हैं—दोनों ही काव्यसौन्दर्य-वर्दक हैं और दोनों ही का सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनों के साथ है, इनमें भेद केवल यही है कि ये काव्य के भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं, इसी कारण से इनका पृथक् पृथक् निर्देश किया जाता है।

उद्धट का समय

श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने उद्धट का उल्लेख किया है—जिनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। अतः उद्धट उनके पूर्ववर्ती हैं। इसके सिवा राजत-रिजिणी में भी उल्लेख है कि यह काश्मीर के शासक जयापीड़ की विद्रूत-परिषद् के समाप्ति थे और इनका वेतन प्रतिदिन का एक लक्ष दीनार (एक प्रकार की मुवरण-मुद्रा) था—

^१ देखो जरनल आव० द० रा० ए० स०० सन् १८९७ ए० ८४५।

‘विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः । प्री भद्रुर्जित
भद्रोभूद्गद्धरस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥’ — राजत० ४४५

जयापीड़ का शासन-काल सन् ७७६ से ८१३ ई० तक माना जाता है। किन्तु उद्घटाचार्य जयापीड़ के शासन-काल के प्रथम भाग में रक्खे जा सकते हैं, क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि जयापीड़ ने अपने शासन के अन्तिम भाग में प्रजा पर अत्यचार किया था, जिससे वह त्राहाणों द्वारा बहिष्कृत कर दिया गया था। अतएव उद्घट का समय ईसवी-सन् की दर्वी शताब्दी में ही सम्भव हो सकता है।

उद्घट के काव्यालङ्कार पर प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति दीका ही सबसे प्राचीन है। प्रतिहारेन्दुराज ने अपने विषय में स्वयं लघुवृत्ति के प्रारम्भ में— ‘विददग्यान्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते’ और अन्त में ‘कौंकणः श्रीन्दुराजः’ यह लिखा है। अतः यह मुकुल का शिष्य और कौंकण-निवासी था। इसने भास्म ह और दण्डी के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर वामन का नामोल्लेख भी किया है। (पृ० १८, ८२, ८८, ६०)। मुकुल ने अभिधार्तिमात्रका ग्रन्थ लिखा है, उसमें उद्घट का नामोल्लेख भी है। उसके अन्तिम पश्च में मुकुल ने अपने षिता का नाम भट्ट कल्पट लिखा है, जो कि राजतरङ्गिणी के—‘अनुग्रहाय लोकानां भट्ट श्री कल्पटदयः। अवनितवर्मणः काले’ (पृ० ६६) इस उल्लेख के अनुसार काश्मीर के राजा अवनितवर्मा के समकालीन था। अवनितवर्मा का समय सन् ८५५-८८४ ई० है। अतः मुकुल का समय लगभग ईसा की नवीं शताब्दी और उसके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज का समय भी इसी समय में माना जा सकता है। मिठी पीटरसन इस प्रतिहारेन्दुराज का और भट्टेन्दुराज का एकीकरण करता है, उस भट्टेन्दुराज का जिसका उल्लेख श्री अभिनवगुप्तचार्य ने अपने उपाध्याय के रूप में लोचन में (पृ० ४३, ११६, २०७, २१४) और नाथ्यशास्त्र की अभिनवभारती व्याख्या में, ‘उपाध्यायाः’ (पृ० १०६, २७५) और भट्टेन्दुराज (पृ० २०६) किया गया है। किन्तु यह एकीकरण भ्रमात्मक है,

प्रतिहारेन्दुराज और भट्टेन्दुराज भिन्न भिन्न हैं, इस विषय पर आगे ध्वन्यालोक विषयक निबन्ध में श्रमिनवगुप्ताचार्य के प्रसङ्ग में उल्लेख किया जायगा।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति और राजानक तिलक के उद्घटविवेक^१ के अतिरिक्त एक उद्घटालङ्कार विवृति भी है, जिसकी मालावार से उपलब्ध एक हस्तलिखित प्रति मद्रास गवर्नर्मेंट लायब्रेरी में है। उसके लेखक का नाम अज्ञात है। उस विवृति के बहुत से उद्धरण भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा मुद्रित काव्यालङ्कारसारसंग्रह में दिये गये हैं।

—:-:—

वामन और उसका काव्यालङ्कारसूत्र

“पावनी वामनस्येयं पदोन्नतिपरिष्कृतिः ।

गम्भीरा राजते वृत्तिर्गगेव कविहणिणी” ॥

—कामधेनु व्याख्या ।

उद्घट के पश्चात् उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर काव्य-लक्षण ग्रन्थों का लेखक वामन दृष्टिगत होता है। वामन ने काव्यालङ्कारसूत्र नामक ग्रन्थ प्रणीत किया है। यह सूत्रों में है और सूत्रों पर स्वयं वामन ने वृत्ति भी लिखी है।

इस ग्रन्थ में पाँच अधिकरणों में वारह अव्याय और ३१६ सूत्र हैं। प्रथम अधिकरण में काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, अविकारी, रीति और काव्य के अङ्ग; दूसरे में दोष; तीसरे में गुण; चौथे में अलङ्कार और पाँचवें में काव्य-समय और शब्द-शुद्धि प्रकरण है। शब्द-शुद्धि प्रकरण में भामह के छठे परिच्छेद के साथ अधिकांश में साम्य है।

वामन ने केवल ३३ अलङ्कारों का निरूपण किया है, जिनमें ३१ इसके पूर्ववर्ती भामह और दरडी द्वारा निरूपित हो गये थे। वक्रोक्ति एवं व्याजोक्ति ये दो अलङ्कार संभवतः इसी के द्वारा नवीन आविष्कृत हैं। इसने स्वभावोक्ति,

* देखो अलङ्कारसर्वस्व (निर्णयसागर संस्करण) पृ० ११५ और २०५।

प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, उदात्त, भाविक और आशी ये आठ अलङ्कार जो भामह और दण्डी दोनों के निरूपित ये और आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, और लेश ये चार जो केवल दंडी के निरूपित थे, नहीं लिखे हैं। इसके सिवा वामन ने 'विशेषोक्ति' की परिभाषा भी विचित्र दी है जिसको पंडित-राज ने रसगङ्गावर में टटोरोपूर्णपक बतलाया है। आक्षेप के इसने जो भेद बतलाये हैं, वे सभी विचित्र हैं; वे काव्यप्रकाश में निरूपित प्रतीप और समासोक्ति में मिलते हैं। 'वक्रोक्ति' अलङ्कार इसने नवीन निरूपण किया है; इसकी परिभाषा—'सादश्यालक्षणा वक्रोक्तिः' (४।३।८) भी विलक्षण है।

वामन ही एसा लेखक है, जिसने 'वैदर्भी' रीति में सब गुणों के व्यञ्जक वर्णोंवाली रचना, 'गौडी' में ओज और कान्ति गुण-व्यञ्जक वर्णों-वाली रचना और पाञ्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुण-व्यञ्जक वर्णोंवाली रचना का होना बताया है। फिर इसने गुणों और अलङ्कारों का भेद—

'काव्यशोभायाः कर्त्तरो धर्मा गुणाः ।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्घाराः' ।

—काव्यालं० सू० ३।१ । १,२

इन सूत्रों में दिखाया है। यद्यपि काव्य में गुणों की स्थिति की—जिन पर 'रीति' अवलम्बित हैं, आवश्यकता प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार की है, परं उनको काव्य की आत्मा मानकर ऐसी प्रधानता देनेवाला एक वामन ही है। रीति सिद्धान्त के प्रवर्तकों पर ध्वनिकारों ने (३।५।२ कारिकायें) आक्षेप किया है। एवं आचार्य मम्मट ने वामन के ये दोनों सूत्र उद्भृत करके काव्यप्रकाश में इनकी बड़ी ही तीव्र किंतु सारगमित और मार्मिक आचोलना की है, जिसका उल्लेख इस ग्रंथ के द्वितीय भाग में 'रीति सम्प्रदाय' के अन्तर्गत किया जायगा। मम्मट की उस आलोचना का महत्त्व इसी से सिद्ध हो जाता है कि, उसके द्वारा वामन का रीति-सिद्धान्त सर्वथा विच्छिन्नप्राय हो गया।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

वामन का समय

वामन की अंतिम सीमा के लिये स्पष्ट उल्लेख राजशेखर की काव्यमीमांसा में मिलता है—

‘कवयोऽपि भवन्ति’ इति वामनीया।

(काव्यमी० पृ० १४)

‘तत्र विवेकिनः पूर्वे तद्विपरीतास्तु ततोनन्तरा।’

इति वामनीया (पृ० १४)

यह अवतरण राजशेखर ने संभवतः वामन के काव्यालङ्कारसूत्र की वृत्ति से उद्धृत किया है। किंतु मुद्रित काव्यालङ्कारसूत्र में पाठ-भेद है^३। संभव है, काव्यमीमांसा की हस्तलिखित प्रति के प्रमाद से ऐसा हुआ हो। अस्तु इसके द्वारा यह तो स्पष्ट है कि राजशेखर के समय में (सन् ६२५ ई०) वामन प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था।

श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने भी वामन का नामोल्लेख किया है—“‘वामनस्य तु उपमानाक्षेपः’ इति आक्षेपलक्षणात्” (ध्वन्या० लोचन पृ० ३७)। इसके सिवा ध्वन्यालोक की (३।५२ की कारिका की) वृत्ति में जो रीति-सिद्धांत प्रवर्तकों पर आक्षेप है, उसके द्वारा प्रतीत होता है कि श्री आनन्दवद्धनाचार्य भी वामन से परिचित थे, इसकी पुष्टि ध्वन्यालोक की वृत्ति में उद्धृत—

‘अनुरागवती संध्या दिवसस्त्पुरस्सरः।

अहो दैवगतिः कीटकं तथापि न समागमः॥

(पृ० ३७)

^३ देखो निर्णयसागर संस्कृत एवं विद्याविलास प्रेस बनारस संस्कृत काव्यालङ्कारसूत्र प्रथम अधिकरण अध्याय २ का प्रथम, द्वितीय और तृतीय सूत्र तथा वृत्ति।

इस पद्य की अभिनवगुपताचार्य द्वारा की गई—

‘वामनाभिप्रायेणायमात्रेषः भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्याशयं
मनसि गृहीत्वा समासोक्त्यात्रेष्योरिदमेकोदाहरणम् व्यतरत् ग्रन्थकृत्’।
(पृ० ३७)

इस व्याख्या द्वारा भी होती है और श्री आनन्दवर्धनचार्य (जिनका समय सन् ८५० ई० के लगभग है) वामन के परवर्ती सिद्ध होते हैं ।

उद्घट के क्राव्यालं० सा० पर लघुवृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज ने भी लिखा है—
‘भट्टामनेन चात्र वक्रोक्ति-व्यवहारः प्रवर्तितः’ (पृ० ८८ बाँधे सीरीज) । इससे भी उक्त समय की पुष्टि होती है ।

वामन की पूर्व सीमा के लिए भी साधन मिलते हैं । उसने अपने काव्यालङ्कारसूत्र (४।३६ सूत्र की वृत्ति) में ‘इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिन्यनयोः’ । यह पद्य भवभूति के उत्तररामचरित (अङ्क १।३८) का रूपक के उदाहरण में उद्धृत किया है । भवभूति का समय लगभग सन् ७।८५ ई० है, क्योंकि उसके आश्रयदाता कन्नौज के राजा यशोवर्मन का यही समय माना जाता है ।

वामन ने अतिशयोक्ति के उदाहरण में^१ माघ के शिशुपालवध का—

‘उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्’ ।

(सर्ग ३।८)

यह पद्य और दाव्यशुद्धि प्रकरण में^२—‘सितं सितिम्ना सुतरां सुर्नेवपु’ इत्यादि शिशुपालवध (१।८५) का पद्य उद्धृत किया है । माघ का समय मि० जेकोबी इसा की छठी शताब्दी बताते हैं । यह तो निश्चित है कि माघ श्री आनन्दवर्धनचार्य के पूर्ववर्ती हैं क्योंकि ध्वन्यालोक की वृत्ति में^३ माघ के अनेक पद्य^४ उद्धृत हैं । अतः भवभूति और माघ दोनों से वामन के परवर्ती हैं । कलहण के—

^१ देखो काव्यालङ्कार सूत्र अधिकरण ४ अध्याय ३।१० ।

^२ देखो काव्यालं० सूत्र अ० ५।२।१।

^३ देखो ध्वन्यालोक पृ० १।४ और १।५ ।

^४ देखो शिशुपालवध सर्ग ५।२६, ३।५३ इत्यादि ।

‘मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा ।

बभुवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः’ ।

—राजत० ४।४९७

इस उल्लेख में वामन को काश्मीर के राजा जयपीड का मन्त्री बताया गय है । जयपीड का समय सन् ७७६-८१३ ई० है । मि० बुल्हर के मतानुसार जयपीड का मंत्री यही वामन था जिसने काव्यालङ्कार सूत्र प्रणीत किया है^१ । ऊपर के अवतरणों से भी इसका समर्थन होता है । अतएव वामन का समय आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निश्चित हो जाता है और साथ ही उद्घट के समकालीन भी । तथापि यह अवश्य ध्यान देने योग्य है कि उद्घट और वामन दोनों समकालीन ही नहीं, एक राजा के आश्रित होने पर भी इन्होंने अपने अन्यों में एक दूसरे का कहाँ भी नामोल्लेख नहीं किया है । काशिकावृत्ति के प्रणेता वामन से यह वामन भिन्न है ।

वामन के काव्यालङ्कार सूत्र पर ‘कामधेनु’ नामक टीका गोपेन्द्रविपुरहर भूपाल की है, जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं । एक दूसरी टीका महेश्वर-प्रणीत साहित्यसर्वस्व का पता भी चलता है^२ ।

—:०:—

यहाँ तक भट्ठि, भामह, दखड़ी, उद्घट तथा वामन और इन पाँचों के ग्रन्थों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है । नाभ्यशास्त्र और अभियुराण का समय उपलब्ध ग्रन्थों में अलङ्कार सिद्धान्त का सबसे प्राचीन प्रारम्भ काल है और इनके पश्चात् भट्ठि से वामन तक पाँचों के समय तक अलङ्कार सिद्धान्त के क्रम-विकास का द्वितीय काल है, क्योंकि इन पाँचों में अन्तिम वामन के समय तक अलङ्कारों की संख्या ५२ तक पहुँच गई है । इन पाँचों में किस-किस ने कितनी संख्या के कौन-कौन अलङ्कार निरूपण किये हैं, इसकी स्पष्टता के लिये अलङ्कार-विवरण-

^१ देखो श्री बुल्हर की काश्मीर रिपोर्ट पृ० ६५ ।

^२ देखो इंडिया ओफिस केटलाग पृ० ३२९ ।

तालिका संख्या १ इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अंतर्गत दी गई है।

रुद्रट और उसका काव्यालङ्कार

रुद्रट का भी अलङ्कार शास्त्र में एक प्रतिष्ठित और उच्च स्थान है। रुद्रट साधारण विद्वान् नहीं था—इसने अलङ्कार विषय पर बड़ा चमत्कारक प्रकाश डाला है। इसके द्वारा अलङ्कारों के क्रमविकास में उल्लेखनीय अभिवृद्धि हासिगत होती है। इसके द्वारा केवल अलङ्कारों की संख्या में वृद्धि ही नहीं हुई किंतु अलङ्कारों का अपूर्व शैली से प्रतिपादन भी हुआ है जिससे रुद्रट का इस विषय पर महत्वपूर्ण अधिकार भी व्यक्त होता है।

रुद्रट ने काव्यालङ्कार नामक ग्रन्थ लिखा है। जिसमें प्रायः काव्य के सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ में १६ अध्याय हैं जिनमें विषय-क्रम इस प्रकार है—प्रथमाध्याय में काव्य-ग्रन्थोजन, काव्य-हेतु; दूसरे में काव्य-लक्षण, रीति, भाषा-भेद वक्रोक्ति आदि तीन शब्दालङ्कार; तीसरे में व्यक्तालङ्कार; चौथे में श्लेषालङ्कार; पांचवें में चित्र-काव्य; छठे में शब्द-दोष; ७, ८, ९ और १० चार अध्यायों में अर्थालङ्कार; ११वें में अर्थालङ्कार-दोष; १२, १३, १४ और १५ चार अध्यायों में रस और नायिकाभेदादि का निरूपण है और १६वें में महाकाव्य, प्रबन्धादि का लक्षण है।

रुद्रट के पूर्ववर्ती भामहादि आचार्यों ने अलङ्कारों का जो पृथक् पृथक् समूहों में वर्गीकरण किया है, वह किसी विशेष सिद्धांत पर नहीं, संभवतः उनके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा विभिन्न ग्रन्थों में स्वीकृत अलङ्कारों की संख्या पर किया गया है। किंतु रुद्रट ने उनका अनुसरण न करके वैज्ञानिक सिद्धांत पर अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है। इसने ५ शब्दालंकार और ५८ अर्थालङ्कारों का निरूपण किया है जिनमें अर्थालङ्कारों को इसने चार वर्गों में विभक्त किया है—(१) वास्तव वर्ग में २३, (२) अपैमय वर्ग में २१, (३) अतिशय वर्ग में १२ और (४) श्लेष वर्ग में १ श्लेष। इस प्रकार ५७ और १ संकर सब

संस्कृत साहित्य का इतिहास

मिलाकर धूट अलङ्कारों में ७ अलङ्कार ऐसे हैं जो दो-दो वर्ग में एक ही नाम से दिखाये गए हैं—जैसे सहोक्ति, समुच्चय और उत्तर ये तीनों वास्तव और अतिशय दोनों वर्गों में हैं, इसी प्रकार उत्प्रेक्षा एवं पूर्व, औपम्य और अतिशय दोनों वर्गों में हैं। श्लेष को भी अर्थालङ्कार और शब्दालङ्कार दोनों में पृथक् पृथक् गिना गया है। एक ही नाम के जिन-जिन अलङ्कारों को दो-दो वर्ग में रुद्रट ने रखा है, उनका वर्गानुकूल लक्षण लिखकर भेद दिखा दिया है। यदि इन आठों की संख्या कम कर दी जाय तो रुद्रट द्वारा ५० अर्थालङ्कार और ५ शब्दालङ्कार, कुल ५५ अलङ्कारों का नामोल्लेख है।

रुद्रट के पूर्ववर्ती भट्टि से वामन तक ५२ अलङ्कार निरूपित हो चुके थे, जैसा कि पहिले दिखाया गया है। किंतु इस संख्या द्वारा यह न समझना चाहिये कि रुद्रट निरूपित अलङ्कारों की संख्या उसके पूर्ववर्तीयों से केवल ३ ही अधिक है। रुद्रट के निरूपित ५५ अलङ्कारों में केवल २६ अलङ्कार ही ऐसे हैं जो इसके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित हो चुके थे। शेष २९ रुद्रट द्वारा अधिक (या नवाविष्कृत) निरूपित हैं और उनमें बहुत से महत्वपूर्ण अलङ्कार रुद्रट के उत्तर-कालीन आचार्य मम्मट जैसे सुप्रसिद्ध आलङ्कारिकों ने स्वीकार किये हैं। इसी से सिद्ध होता है कि रुद्रट ने अलङ्कारों के विकास-क्रम में एक बार ही नवीन युग उपस्थित कर दिया है।

रुद्रट का परिचय और समय

रुद्रट का व्यक्तिगत कुछ परिचय इसके काव्यालङ्कार पर नमि साधु की लिखी हुई टीका द्वारा मिलता है। काव्यालङ्कार के पञ्चम अध्याय के चित्रकाव्य-प्रकरण में १२, १३, १४ की संख्या के श्लोकों की टीका में नमि साधु ने वह दिखाया है कि इन पद्यों के चित्रकाव्य के अंतर्गत—

१२ इन २३ अलङ्कारों के नामों के लिये द्वितीय भाग में अलङ्कार विवरण तालिका देखिये।

३४० (३५०) शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसुनुना,
साधितं रुद्रेनेदं सोमाजा धीमतां हितम्
यह श्लोक निकलता है और इस श्लोक द्वारा रुद्रट ने अपना परिचय दिया है। इसके द्वारा केवल यह विदित हो सकता है कि रुद्रट का दूसरा नाम शतानन्द था और वह सामवेदी था तथा इसके पिता का नाम भट्ट वामुक था।

रुद्रट की अंतिम सोमा के लिये इसका नामोल्लेख और इसके ग्रन्थ के उद्घारण उत्तर कालीन अनेक आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। आचार्य मम्मट ने श्लेष-प्रकरण में कहा है—‘तथा ह्युक्तं रुद्रेन स्फुटमर्थालङ्कारौ’, इत्यादि (काव्यप्रकाश उद्धर पृ० ५३०) और रुद्रट के स्वीकृत उपमानाधिक्य-व्यतिरेक अलङ्कार की मम्मट ने आलोचना भी की है^१। तथैव काव्यप्रकाश में यमकादि अलङ्कारों के बहुत से उदाहरण भी रुद्रट के लिये गये हैं।

श्री अभिनवगुमाचार्य ने रुद्रट की—‘यस्य विकारः प्रभवन्’ इत्यादि (काव्यालङ्कार ७।३८) यह परिभाषा और ‘एकाकिनी यदवता?’ इत्यादि (काव्यालङ्कार ७।४१) यह उदाहरण उद्भूत किया है^२। श्री भोजराज ने रुद्रट के—‘कि गौरि मां प्रति रुषा ननुगौरहं किं’ इत्यादि पद्य^३ और इसके सिवा २० अन्य भी पद्य उदाहरणों में उद्भूत किये हैं। राजशेखर ने भी लिखा है—‘काकुवकोक्तिर्नामं शब्दालङ्कारोयम् इति रुद्रटः’ और ‘चक्रंदहतारं—चक्रंदहतारं’ इत्यादि पद्य भी (काव्यालङ्कार ३।४), काव्यमीमांसा में (पृ० ५७) उद्भूत है। प्रतिहारेंदुराज ने उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की लघुवृत्ति में रुद्रट के बहुत से पद्य उद्धृत किये हैं, यद्यपि उसने रुद्रट का नामोल्लेख नहीं किया है, पर वे काव्यालङ्कार से लिये गये हैं^४।

१ देखो काव्यप्रकाश उ० १० पृ० ७८४।

२ देखो ध्वन्यालोक की लोचनव्याख्या पृ० ४५।

३ देखो काव्यालङ्कार २।१५ और सरस्वतीकण्ठाभरण वकोक्ति का उदाहरण।

४ ‘उपसर्जनोपमेयं’ इत्यादि (लघुवृत्ति पृ० ११ ‘वस्तुप्रसिद्धमिति’ इत्यादि

इन आधारों पर प्रतिहारेन्दुराज तक (लगभग सन् ६०० ई० तक) रुद्रट की अन्तिम सीमा का पता चलता है। किंतु रुद्रट की पूर्व सीमा के लिये न तो उसने काव्यालङ्कार में अपने किसी पूर्ववर्ती का नामोल्लेख ही किया है और न किसी ग्रन्थ के उदाहरण ही लिये हैं—सम्भवतः इसने स्वयं प्रणीत उदाहरण दिखलाये हैं। ऐसी अवस्था में रुद्रद्वारा निरूपित अलङ्कारों का क्रम-विकास ही ऐसा अधार है जिसके द्वारा उसकी पूर्व सीमा की कल्पना की जा सकती है। यह कह चुके हैं कि इसने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारों से २६ अलङ्कार नवीन निरूपण किये हैं और उनका अपूर्व वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। और इसके सिवा 'वक्रोक्ति' जिसको भास्मह ने एक विशेष अलङ्कार नहीं किन्तु—

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना' ॥

—काव्यालङ्कार २।८५

यह कहकर वक्रोक्ति की सभी अलङ्कारों में व्यापकता बताइ है, और दण्डी ने स्वभावोक्ति को छोड़कर सभी अलङ्कारों का सामूहिक नाम वक्रोक्ति बताया है— (का० ८० २।३६३) और वामन ने अर्थालङ्कारों में वक्रोक्ति को एक विशेष अलङ्कार प्रदर्शित करके भी परिभाषा में जिसे स्पष्ट साहश्य-लक्षण के आश्रित लिखा है; किंतु अभिपुराण के पश्चात् रुद्रष्ट ही प्रथम है, जिसने वक्रोक्ति के नामार्थ के अनुसार इसका यथार्थ प्रतिपादन करके इस वक्रोक्ति को शब्दालङ्कारों के प्रारम्भ में ही प्रधान स्थान दिया है। और इसका अनुसरण रुद्रट के उत्तरकालीनप्रायः सभी साहित्याचार्यों ने किया है। ये नवीनताएँ हमें बलात् रुद्रष्ट को भष्टि, भास्म-

(ल० पृ० ३३। 'त्वयिदृष्ट एव तस्या' इत्यादि (ल० पृ० ३६।) 'तद्द्विगुणं त्रिगुणं वा' इत्यादि (ल० पृ० ४५)। लघुवृत्ति में उद्धृत हैं, वे काव्यालङ्कार में क्रमशः दा४०, दा८९, दा९५, दा३५, संख्या के हैं। इनके सिवा और भी लिये गये हैं।

हादि पूर्वोल्लिखित पाँचों आचारों के पश्चात् किन्तु अन्य मम्मट, अभिनवगुप्त और सुकुल आदि सुप्रसिद्ध साहित्याचारों के प्रथम स्वीकार करने के लिये बाध्य करती है। क्योंकि इसके ग्रन्थ—काव्यालङ्कार द्वारा यह स्पष्ट विदित होता है कि ध्वनि सम्प्रदाय से—जिसके प्रवर्तक ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य हैं, रुद्रट सर्वथा अपरिच्छित था। अतएव रुद्रट का समय श्री आनन्दवर्धनाचार्य से, जिनका समय सन् ८५० ई० के लगभग है, कुछ ही उत्तरवर्ती या समकालीन एवं प्रतिहारेन्दुराज (सन् ९०० ई०) आदि से पूर्व, सम्भवतः नवम शताब्दी के उत्तरार्ध में, प्रतीत होता है। रुद्रट का समय डा० वूल्हर ने ईसा की न्यारहवीं शताब्दी का उत्तराद्व० माना है^१ पर यह सर्वथा भ्रमात्मक है।

रुद्रट और रुद्रभट्ठ

अच्छा अब रुद्रट के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि यह रुद्रट और वह रुद्र (अथवा रुद्र भट्ठ) जो शृङ्गारतिलक ग्रन्थ का प्रणेता है क्या एक ही है? मिठ० पिशल, वेवर औफे स्ट और वूल्हर ने इनको एक ही बतलाया है। किन्तु यह उनका भ्रम है—जैसा कि स्थूलदृष्टि से आपाततः होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि रुद्रट के काव्यालङ्कार में रस-प्रकरण की जो परिभाषाएँ आदि दी हैं, उनकी रुद्र के शृङ्गारतिलक में अधिकतया समानता दृष्टिगत होती है। किन्तु इस समानता पर विचार करने के प्रथम हम इन दोनों को भिन्न-भिन्न मानने के कारण दिखाते हैं—इनके ग्रन्थों में अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनके द्वारा इनमें भिन्नता स्पष्ट विदित हो जाती है, देखिये—

(१) रुद्र ने प्रचलित परम्परानुसार नौ ही रसों का उल्लेख किया है (शृं० ति० ११६), पर रुद्रट दसवाँ एक प्रेयस् रस भी (काव्यालं० १२१३)

लिखता है। और दोनों ग्रन्थों में रसों का वर्णन-क्रम भी सर्वथा भिन्न है।

(२) रुद्र ने भावों की गणना (११०—१६) विस्तृत रूप में की है किन्तु रुद्रट ने इनको एक ही पद्य में (१२४) कह दिया है।

^१ काश्मीर रिपोर्ट पृ० ६५।

(३) रुद्र ने भरत के मतानुसार साधारणतः कौशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती चार ही वृत्तियाँ लिखी हैं, पर रुद्रट कुछ-कुछ उद्देश्य का अनुसरण करता हुआ मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा ये पाँच वृत्तियाँ निरूपित करता है, जिनका उपर्युक्त चारों से कुछ सम्बन्ध नहीं है, और इनको श्रवण - सुवद बताता हुआ अनुप्राप्ति के अन्तर्गत दिखाता है।

(४) रुद्र ने प्रचलित परम्परानुसार नायिकाओं की आठ अवस्था निरूपित की है, किन्तु रुद्रट केवल चार अवस्थाओं का ही (१२।४१) उल्लेख करता है। यथापि काव्यालङ्कार में १२।४० और १२।४१ के मध्य में १४ आर्यावृत्तों में नायिकाओं की आठ अवस्थाओं का वर्णन है, पर वह प्रक्षिप्त है, जो कि ग्रन्थ-क्रम से निस्सन्देह स्पष्ट निश्चित होता है और मुद्रित पुस्तक में भी प्रक्षिप्त लिखा हुआ है।

(५) शृङ्गारतिलक के अन्तिम आर्यावृत्त में स्वयं ग्रंथकेर्ता अपना नाम रुद्र बताता है—
 'त्रिपुरवधादेव गतामुल्लासमुमां समस्तदेवनताम् ।'
 'शृङ्गारतिलकविविना पुनरपि रुद्रः प्रसादयति' ।
 इत्यादि अन्य भी ऐसे स्थल हैं, जिनके द्वारा स्पष्ट ही रुद्रट और रुद्र एक व्यक्ति नहीं माने जा सकते। और इनमें जो ऐस्य दृश्यगत होता है, वह उन्हीं कुछ पद्मों में है, जिनमें परिभाषा या नियमों का उल्लेख है। वह सन्भवतः रुद्र द्वारा, जो रुद्रट का परवर्ती है, रुद्रट से लिये गये हैं। रुद्रट ने रस की परिभाषाएँ मात्र दी हैं—पर अन्य वर्णित विषयों की स्पष्टता उदाहरण सहित क. है, अतएव कोई आश्रय नहीं कि इसी त्रुटि को पूर्ण करने के लिये रुद्र ने रुद्रट की रस-विषयक परिभाषाएँ लेकर और स्वतः प्रणीत नवीन उदाहरण देकर संभवतः शृङ्गारतिलक की रचना की हो। परिभाषाएँ अन्य के ग्रन्थों से लेने की परिपाटी तो दरेड़ी के समय से ही। आचार्य मम्मट के बाद तक प्रचलित दृष्टि-गत होती है। इस विषय में इस सम्नावना के लिये स्थान नहीं है कि इस त्रुटि को पूर्ण करनेवाला रुद्रट ही क्यों न मान लिया जाय? क्योंकि ऊपर जो इन दोनों के विचारों में

महत्वपूर्ण विभिन्नता दिखाई गई है, वह इनके एकीकरण के विरुद्ध है।

शङ्कारतिलक के प्रणेता रुद्र के समय की अन्तिम सीमा के लिये आधार यह है कि शङ्कारतिलक (१४१ पृ० १२०) का—सार्व मनोरथशतैस्तव धूर्तकान्ता इत्यादि पद्म विष्णु शर्मा ने पञ्चतन्त्र के लब्धप्रणाश तंत्र में उद्धृत किया है। विष्णु शर्मा कुड्नीमत के लेखक दामोदर गुप्त के बाद का है क्योंकि कुड्नीमत का 'पर्यङ्कः स्वास्तरणः' इत्यादि (संख्या ७६६) पद्म पञ्चतन्त्र के प्रथम तंत्र में उद्धृत है। दामोदर गुप्त काश्मीर के राजा जयापीड़ का मन्त्री था। जयापीड़ का समय सन् ७५५-७८६ ई० है। और शृंगारकिलक के प्रारंभ के 'शङ्कारीगिरिजानने...' इस पद्म को हेमचन्द्रने (६० ११० में) उद्धृत करके उसकी आलोचना की है। अतः इसका समय दामोदर गुप्त और नवीं शताब्दी के रुद्रट के बाद और १२ वीं शताब्दी के हेमचन्द्र से पूर्व है।

रुद्रट के ग्रन्थ पर नमि साधु को केवल एक ही टीका सुद्धित है। नमि साधु श्वेतभ्रंश जैन भिन्नक था और शालिभद्र का शिष्य था। उसने टीका का समय ग्रन्थान्त में विक्रमाब्द ११२५ (१०६६ ई०) लिखा है—

'पञ्चविंशति संयुक्तैरेकादशसमावृत्तैः।'

विक्रमाहसमतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम् ।

इस पर एक टीका वल्लभदेव की भी है जो नमि साधु से प्राचीन है। किन्तु वह अनुपलब्ध है। वल्लभदेव ने माघ की टीका में (४१२१ और ६१२८ में) स्पष्ट किया है कि वह राजानक आनन्ददेव का पुत्र काश्मीरी था। इसने कालिदास और रत्नाकर आदि के ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखी हैं। इसका समय संवतः दशमी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इसके पौत्र कैथ्यट ने आनन्दवर्धनाचार्य के देवीशतक पर सन् ६७७ ई० में टीका लिखी है। यह वल्लभदेव सुभाषितावली के लेखक १६वीं शताब्दी के वल्लभदेव से भिन्न है।

—*—

१ देखो राजतरङ्गिणी ४।४९५।

ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य

और

उनका ध्वन्यालोक

‘ध्वनिनातिगभीरेण
आनन्दवर्धनः कस्य

काव्यतत्वनिवेशिना ।

नासीदानन्दवर्धनः’ ।

—राजशेखर ।

ध्वन्यालोक के कारिकाकार अज्ञातनामा ध्वनिकार और वृत्तिकार श्री आनन्दवर्धनाचार्य का स्थान भामह आदि साहित्याचार्यों में सर्वोच्च और महत्वपूर्ण है। इन्होंने साहित्य-संसार में वस्तुतः युगान्तर उपस्थित कर दिया है। इनके प्रथम भामह आदि द्वारा सभी ग्रन्थों में अलङ्कार सिद्धान्त का ही सर्वत्र प्राधान्य था। रीति को प्रधानता देनेवाला वामन भी अलङ्कारों को गुणों का—जिनपर रीति सिद्धान्त अवलम्बित है—अतिशय-कारक स्वीकार करता है। किन्तु ध्वनिकारों ने ध्वनि-सिद्धांत का अपूर्व प्रतिपादन करके केवल अलंकार-सिद्धांत को ही नहीं, काव्य के अन्य सभी सिद्धांतों की प्रधानता को दबाकर काव्य में ध्वनि का ही सर्वत्र साम्राज्य स्थापित कर दिया है। यहाँ तक कि रससिद्धांत की—जिसको महामुनि भरत ने सर्वप्रधान बताया है, इन्होंने—प्रधानता स्वीकार करते हुए भी अपनी अपूर्व प्रतिभा के महत्वपूर्ण विवेचन द्वारा बड़ी मार्मिकता से इसे ध्वनि के ही अन्तर्गत ध्वनि का एक प्रधान भेद स्थृत रूप से प्रदर्शित कर दिया है। इसीलिये ध्वन्यालोक का साहित्य-शास्त्र में सर्वोच्च स्थान है। यह ग्रन्थ कठिपय उन ग्रन्थों में है जिनमें यथार्थ मौलिकता का सार्वत्रिक साम्राज्य है। इस ग्रन्थ के सिद्धांतों को प्रायः सभी साहित्याचार्यों ने बड़े संमान के साथ मान्य किया है। परिडतराज जगन्नाथ ने भी, जिन्होंने प्रायः सभी साहित्याचार्यों की लगे हाथ बड़ी तीव्र आलोचना की है, ध्वन्यालोक के सिद्धांत सादर मान्य किये हैं। यहीं नहीं किंतु—‘ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्’ (रसगङ्गाधर पृ० ४२५) यह कह-कर ध्वनिकारों के सिद्धांतों को आदर्श-रूप भी स्वीकार किया है।

ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं, उनमें १२६ कारिकाएँ हैं। और वृत्ति में अत्यन्त महत्वपूर्ण और मार्मिक आलोचनात्मक विवेचन द्वारा ध्वनि सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यमाला में निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित हुआ है। मुद्रित ग्रन्थ में तीन उद्योतों पर श्री अभिनवगुप्ताचार्य कृत 'लोचन' व्याख्या है और चतुर्थ उद्योत मूल मात्र है। इसका प्रधान विषय-निरूपण इस प्रकार है—

- (१) प्रथम उद्योत की २२ कारिकाओं में ध्वनि की स्थापना की गई है।
- (२) द्वितीय उद्योत की ३६ कारिकाओं में ध्वनि के भेद—अविवक्ति वाच्य, विवक्ति वाच्य आदि, रसबदादि अलङ्कार, माधुर्यादि तीन गुण, श्रुतिकदु आदि कुछ दोष, ध्वन्यात्मभूत अलङ्कार, अनुकरणात्मक ध्वनि, अलङ्कारध्वनि और ध्वन्याभास आदि निरूपण है।
- (३) तृतीय उद्योत में ५४ कारिकाओं में पद-वाच्य-व्यञ्जकता, संघटना रसौचित्य, गुणीभूतव्यञ्जय, वाच्यालंकार और ध्वनि-संसृष्टि का निरूपण है।
- (४) चतुर्थ उद्योत में १७ कारिकाओं में ध्वनि का उल्कर्ष और काव्य-मार्ग का आनंद्य प्रदर्शित किया गया है।

ध्वन्यालोक के लेखक

ध्वन्यालोक की रचना में तीन अंश हैं—मूल कारिकाएँ, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण तो तत्कालिक प्रचलित प्रथानुसार प्रायः ग्रन्थान्तरों के उद्धृत हैं। किन्तु कारिका और वृत्ति के प्रणेता के विषय में यह एक जटिल प्रश्न है कि कारिका और वृत्ति दोनों का प्रणेता एक ही है, या दो भिन्न भिन्न ? इस विषय में ध्वन्यालोक के उत्तरकालीन ग्रन्थकार—जिन्होंने इस ग्रन्थ की कारिकाएँ और वृत्तियों के उद्धरण अर्थवा इसके सिद्धांत उद्भृत किये हैं, वे दो समूहों में विभक्त हैं। एक समूह के द्वारा कारिकाकार और वृत्तिकार की भिन्नता प्रतीत होती है और दूसरे समूह द्वारा इनका एकीकरण ज्ञात होता है।

इस विषय में अन्य ग्रन्थों के उल्लेखों के प्रथम इस ग्रन्थ के अन्तरङ्ग उपलब्ध आधारों पर विचार किया जाता है, तो मुद्रित ग्रन्थ के सम्पादकीय

संस्कृत साहित्यका इतिहास

वक्तव्य द्वारा विदित होता है, कि इसके प्रकाशक महाशयों ने तीन हस्तलिपित प्रति संग्रह की थीं, उनमें काश्मीर और पूना के भण्डारकर लाइब्रेरी की दोनों प्रतियों में वृत्तिकार के अन्तिम दो श्लोकों के प्रथम—

‘इत्यानन्दवर्धनाचार्यविरचिते सहदयालोके काव्यालङ्कारे ध्वनि प्रतिपादने चतुर्थ उद्योतः समाप्तः’ यह लेख अधिक है। और तीसरी प्रति, जो माझशेर की ताडपत्र पुस्तक की प्रतिलिपि है, उसके अन्त में—

‘इति श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्यविरचिते सहदयालोक नाम्नि काव्यालङ्कारे चतुर्थः उद्योतः’ यह लेख है। और मुद्रित पुस्तक में भी ग्रन्थ समाप्ति पर अन्तिम श्लोक के प्रथम श्लोक में—

‘काव्याल्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोदाने ध्वनिर्दर्शितः’। यह कहा गया है। तथा ‘लोचन’ व्याख्या के प्रारंभ में अभिनवगुप्ताचार्य ने भी प्रथम पद्य में—

‘सरस्वत्यास्तत्वं कविसहदयतारुणं विजयतःम्।’ और दूसरे पद्य में—

‘यत्किञ्चिदप्यनुरणन्स्फुटयामिकाव्या-
लोकं सुलोचननियोजनया जनस्य’। ऐसा लिखा है इसके सिवा तृतीय उद्योग की ५३वीं मूल कारिका में भी कहा है—

‘शब्दतत्वाश्रयाः काञ्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन्कांव्यलक्षणे’ इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्यदास की ‘अभिनवभारती’ दीका में भी—

‘तच्च मदीयादेव तद्विवरणात्सहदयालोचनादवधारणीयम्’ (अ० भा० पृ० ३४४)

इन वाक्यों द्वारा अनुमान होता है कि कारिकात्मक मूल-ग्रन्थ का नाम संभवतः ‘सहृदय या काव्यध्वनि’ अथवा केवल ‘काव्य’ या ‘ध्वनि’ रहा हो। और उनपर वृत्ति लिख कर श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने वृत्ति की संज्ञा ‘आलोक’ रखकर इसको ‘सहृदयालोक’ या ‘काव्यालोक’ अथवा ‘ध्वन्यालोक’ संज्ञा प्रदान की हो। अभिनव-भारती में ‘सहृदयालोक’ नाम के सिवा ‘ध्वन्यालोक’ का नामोल्लेख भी है—“यदाह—‘या व्यापारवती रसात्रसयितुं’ इत्यादि ध्वन्या ३” (अ० भा पृ० ३०१)

जो कुछ हो, यह तो निस्सन्देह है कि ‘सहृदय’ के साथ ध्वन्यालोक ग्रन्थ का सम्बन्ध प्रणेता के रूप में या ग्रन्थ-संज्ञा के रूप में अवश्य है। क्योंकि ‘अभिधावृत्तिमातृका’ के लेखक मुकुल ने भी—जो अभिनवगुप्ताचार्य का पूर्ववर्ती है, और जिसका समय लगभग सन् ६२५-६४० ई० है, लिखा है—

(१) ‘तथाहि तत्र विवक्षितात्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता’
(अ० मा० पृ० १९)

(२) ‘लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य
विद्यत इति’।
(अ० मा० पृ० २१)

और मुकुल के शिष्य, उद्घट पर लघुवृत्ति के लेखक प्रतिहारेंदुराज ने भी कहा है—

‘ननु यत्र वाऽये………काव्यजीवितभूतः कैश्चित्सहृदयै
र्ध्वनिनाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः’।
(काव्याल० सारसंग्रह पृ० ८५ बांबे सीरीज)

इन वाक्यों द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है कि ‘सहृदय’ से ध्वनि विषयक नवीन सिद्धांत का संबंध अवश्य था। संभव है लेखक के नाम से ही इस ग्रन्थ को ‘सहृदय’ संज्ञा दी गई हों।

लोचन व्याख्या के लेखक अभिनवगुप्ताचार्य, कारिका और वृत्ति के लेखक भिन्न भिन्न मानते हैं—

‘उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिका-
वारोनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृष्टुपस्कारं ददाति’
(ध्व० दीका पृ० १२२)

संस्कृत साहित्य का इतिहास

केवल यही नहीं और भी अनेक स्थलों पर (ध्व० टीका पृष्ठ १, ८, ५६, ६०, ७१, १०४ आदि में) लोचन में कारिकाकार और वृत्तिकार की प्रथकृता दिखाई है। यही क्यों, और देखिये—

‘एतत्तावत्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतं वृत्तिकारेण तु दर्शितं’।

(ध्व० टी० पृ० १२३)

‘कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेकउक्तः……। वृत्तिकारेण तु अन्वयपूर्वकोव्यतिरेकइतिशैलीमनुकर्तुमन्वयः पूर्वमुपातः’।

(ध्व० टी० पृ० १३०-३१)

इत्यादि अनेक स्थलों पर लोचन में कारिकाकार और वृत्तिकार की लेखन शैली में स्पष्टतया भेद प्रदर्शित किया गया है। इनके अतिरिक्त इस विषय में ध्वन्यालोक मूल ग्रन्थ में भी एक स्थान पर एक संकेत दर्शिगत होता है। तृतीय उच्चोत की छठी कारिका की वृत्ति में कहा गया है कि अव्युत्पत्ति कृत दोष कवि की प्रतिभा द्वारा कहीं कहीं छिप जाता है, इसके उशाहरण में महाकवि कालिदास द्वारा कुमारसंभव में वर्णित संभोगशृङ्खाल का उल्लेख है। और इस विषय का निरूपण आगे कारिका ग्रन्थ में भी है, इसलिये वृत्तिकार ने लिखा है—‘दर्शितमेवाग्रे’ (ध्वन्या० पृ० १३८) यहाँ यह ध्वन देने योग्य है कि यदि वृत्तिकार ही कारिकाओं का प्रणेता होता तो वह ‘दर्शितं’ इस प्रकार भूतकालिक प्रयोग आगे दिखाये जानेवाले प्रकरण के लिये न करके, भविष्य-कालिक प्रयोग करता अर्थात् यह कहता कि ‘आगे दिखाया जायगा’। किन्तु प्रतीत होता है कि कारिकाएँ उनके पूर्ववर्ती लेखक की थीं इसीलिये उस भूतकाल के लेखक के लिये ‘दर्शितं’ का प्रयोग किया है। और लोचन में भी ‘दर्शितमग्रे’ की व्याख्या में स्पष्ट यही लिखा हुआ है कि—‘दर्शितमग्रे कारिकाकारेण’। निष्कर्ष यह है कि ध्वन्यालोक के उपलब्ध अन्तरङ्ग संदिग्ध संकेतों द्वारा तथा प्रतिहारेंदुराज के और अभिनवगुप्ताचार्य के वाक्यों द्वारा वृत्तिकार श्री आनन्दवर्धनाचार्य से ध्वनिकारिकाकार भिन्न प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त राजरोखर भी—

‘प्रतिभा श्रेयसी’ इति आनन्दं तदाहुः—
अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तया संत्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स भट्टित्यवभासते^१ ॥

(काव्य मी० पृ० १६)

इस उल्लेख द्वारा आनंदवर्धनाचार्य को वृत्तिकार बताता है। अच्छा, जब कि उपर्युक्त आधार कारिका के प्रणेता ध्वनिकार और वृत्ति के लेखक श्री आनंदवर्धनाचार्य को—दो भिन्न-भिन्न, स्वीकार करने के लिये मिलते हैं, तब दूसरी ओर इन दोनों का एकीकरण जिनके द्वारा प्रतीत होता है ऐसे उल्लेख भी बहुत से दृष्टिगत होते हैं। जैसे—

- (१) रुद्धक के ‘अलङ्कारसर्वस्व’ के टीकाकार समुद्रवंध ने (१२६५ ई०)
रुद्धक के पूर्ववर्ती, काव्यशास्त्र के पांच सिद्धांतों के प्रवर्तकों का उल्लेख
करते हुए आनंदवर्धनाचार्य को ध्वनि-सिद्धांत का प्रवर्तक बताया है^२ ।
(२) जल्दण ने सूक्तिमुक्तावली में कुछ पद्य संदिग्धतया राजशेखर के नाम से
उद्धृत किये हैं उनमें—

‘ध्वनिनातिगभीरेण काव्यत्वनिवेशिना ।
आनंदवर्धनः कस्य नासीदानंदवर्धनः’^३ ॥

इस पद्य में आनंदवर्धनाचार्य को ध्वनि-प्रवर्तक बताया है ।

- (३) महिमभट्ट ने (१०७५ ई०) ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति दोनों
ध्वनिकार के नाम से उद्धृत की है, जैसे—

^१ यह पद्य ध्वन्यालोक की वृत्ति में (पृ० १३७) परिकर श्लोक के नाम से लिखा गया है ।

^२ देखो अलङ्कारसूत्र त्रिवेन्द्रम संस्क० पृ० ९

^३ देखो जर्नल आफ वांवे वांच रायल एशियाटिक सोसाइटी पुस्तक १७
पृ० १३७ ।

'यथाथः शब्दो वा' इत्यादि कारिका १। १३ धन्या० पृष्ठ ३३ और
व्यक्तिविवेक पृ० १ ।

'सारभूतोद्यर्थः स्वशब्देनाभिवेयत्वेन' वृत्ति धन्या० पृ० २३९,
व्यक्तिविवेक पृ० १२ ।

(४) राजानक कुन्तक ने भी (लगभग ६५० ई०) 'ताला जाअंति गुणा
जालादे सहि अरहि धेष्यंति' । इस पद्य को—जिसे धन्यालोक (पृ० ६२)
में श्री आनंदवर्धनाचार्य ने वृत्ति में स्वप्रणीत विषमताणु लोला का बताया
है, धनिकार के नाम से उद्धृत किया है—'धनिकारेण……समर्थितः'
(वक्रकिंजीवित २। २६ पृ० ७०) अर्थात् वृत्ति ग्रन्थ के लेखक का ही
धनिकार के नाम से उल्लेख करता है ।

(५) प्रतिहारेंदुराज (लगभग ६५० ई०) द्वारा दिये गये एक उद्धरण का
ऊपर उल्लेख किया गया है, उसने उसी प्रकरण में धनि सिद्धांत की
विस्तृत आलोचना भी की है^१ । जिसमें धन्यालोक के वृत्तिकार को भी
'सहृदय' ही संज्ञा दी है । यहाँ तक कि धन्यालोक वृत्ति में—'सर्वेक्षणरण-
मक्षयमधीशं धियां हरिं कृष्णम्' इत्यादि पद्य—जिनको आनंदवर्धनाचार्य
ने 'यथामैव' अर्थात् स्वयं प्रणीत स्पष्ट बताये हैं, उनका भी उल्लेख
उसने 'सहृदय'^२ कह कर ही किया है ।

(६) क्षेमेन्द्र ने भी (१०७५ ई०) धन्यालोक की 'अविरोधी विरोधी वा' इत्यादि
मूल कारिका (३। २४ पृ० ११२) को, 'तदुक्तं आनंदवर्धनेन'^३ कहकर उद्धृत
की है । अर्थात् क्षेमेंद्र भी आनंदवर्धनाचार्य का ही कारिकाकार के निर्माता
के रूप में उल्लेख करता है ।

(७) हेमचंद्र ने भी (लगभग ११२५ ई०), 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यादि

१ देखो काव्यालङ्कारसारसंग्रह बांबे सीरीज संस्करण पृ० ८५ से ९२ तक ।

२ देखो काव्यालंकारसारसंग्रह बांबे सीरीज पृ० ९० ।

३ देखो औचित्यविचार चर्चा पृ० १३४ ।

मूल कारिका (ध्वन्या० १।४ पृ० १४) को विवेक में (पृ० २६) श्री आनन्दवर्धनाचार्य के नाम से, और काव्यानुशासन (पृ० १३, २३५) में 'विनयोन्मुखीकर्तुं' (ध्वन्या० ३।३० पृ० १७६) और 'अर्थान्तर गतिः काका' (ध्वन्या० ३।३६ पृ० २१२) इन दोनों कारिकाओं को ध्वनिकार के नाम से उद्धृत किया है। अर्थात् इसने श्री आनन्दवर्धनाचार्य और ध्वनिकार को एक ही माना है।

उपर्युक्त आचार्यों के उत्तरकालीन ग्रन्थों के उल्लेख इस विषय में उद्धृत करना अनावश्यक है, जब कि ध्वन्यालोक के निकटवर्ती उक्त ग्रन्थकारों का ही एक मत नहीं है, जैसा कि ऊपर के अवतरणों से स्पष्ट है। तथापि पूर्वोक्त एक से चार तक के लेखकों की लेखनशैली में कुछ भिन्नता प्रतीत होने पर भी वस्तुतया मतभैर्य ही है क्योंकि प्रथम के दोनों—समुद्रबन्ध और जलहण—ने श्री आनन्दवर्धनाचार्य को ध्वनि का प्रवर्तक और तीसरे—महिमभट्ठ—ने वृत्ति के लेखक को ध्वनिकार और चौथे—कुन्तक—ने वृत्ति और कारिकादोनों के लेखक को ध्वनिकार संज्ञा प्रदान की है अर्थात् इन चारों ने श्री आनन्दवर्धनाचार्य को केवल ध्वनि प्रवर्तक या ध्वनिकार बताया है न कि कारिकाकार। अतएव इसके द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे आनन्दवर्धनाचार्य को कारिकाकार बताते हैं, अथवा कारिकाकार और वृत्तिकार को एक मानते हैं।

अच्छा, अब प्रश्न यह हो सकता है कि क्या वृत्तिकार श्री आनन्दवर्धनाचार्य ध्वनि प्रवर्तक या ध्वनिकार नहीं हैं? क्या केवल कारिकाकार ही इस उपाधि का एकमात्र अधिकारी है? यदि वस्तुतः देखा जाय तो ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक तो कारिकाकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य दोनों ही नहीं कहे जा सकते हैं, जब कि ध्वनिसिद्धान्त इन दोनों ही के प्रथम भी प्रचलित था, जैसा कि ध्वन्यालोक के प्रारम्भ ही में—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिवृथैर्यः समाप्नोत पूर्वः' (पृ० २)
इस कारिका में और इसकी वृत्ति में—

‘बुधै काव्यतत्वविद्धिः काव्यास्यात्माध्वनि-
रिति संज्ञितः परम्परया यः समाप्नातः

(पृ० ३)

यह कहा गया है और इससे स्पष्ट है कि ध्वन्यालोक के पूर्व भी ध्वनि विषय पर अनेक विद्वानों द्वारा विवेचन किया गया है। किन्तु संभवतः इस सिद्धांत को स्वतंत्र ग्रन्थ रूप में इसके पूर्व किसी के द्वारा सम्बद्ध नहीं किया गया था। जैसा कि इस कारिका और वृत्ति की व्याख्या लोचन में कहा गया है—‘विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः’ (ध्वन्या० टीका पृ० ३) इसके द्वारा स्पष्ट विदित होता है कि पूर्व विद्वानों के ध्वनि-सिद्धांत-विषयक वाक्य यत्र तत्र विखरे हुए थे, सबसे प्रथम कारिकाकार ने ही स्वतंत्र-ग्रन्थ रूप में ध्वनि सिद्धांत का प्रतिपादन किया है इसीलिये कारिकाकार को ध्वनि-प्रवर्तक कहा जाता है, यद्यपि उसने वस्तुतः पूर्व के ध्वनि-सिद्धांतवादियों का प्रतिनिधित्व ही किया है। सत्य तो यह है कि यदि इन अल्पसंख्यक कारिकाओं पर श्री आनन्दवर्धयाचार्य द्वारा विवेचनात्मक गंभीर एवं ओजपूर्ण विस्तृत वृत्ति न लिखी जाती तो क्या यह संभव था कि इस ग्रन्थ की केवल मूल कारिकाओं द्वारा इस सिद्धांत को इतना महत्व प्राप्त हो सकता ? ऐसी परिस्थिति में जिस श्री आनन्दवर्धनाचार्य की वृत्ति द्वारा साहित्य क्षेत्र में ध्वनि-सिद्धांत अपना एकाधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हो सका है, वह वृत्तिकार क्या कारिकाकार के समान ध्वनि-प्रवर्तक अथवा ध्वनिकार की उपाधि का अधिकारी नहीं ? यदि ऐसा माना जाता तो वस्तुतः श्री आनन्दवर्धनाचार्य के साथ कृतग्रन्थ होती, किन्तु कृतश्च विद्वानों द्वारा ऐसा क्यों हो सकता था, इसीलिये उन्होंने ध्वनिकार की उपाधि से श्री आनन्दवर्धनाचार्य को भी विमूषित करके अपना कर्तव्य पालन किया है। इसी को लक्ष्य में रख-कर आचार्य मग्मट ने भी दोनों के लिये ही ‘ध्वनिकार’ का प्रयोग किया है, जब कि उसने—‘व्यञ्जनते वस्तुमात्रेण……’ इति ‘ध्वनिकारोक्तदिशा’ (का० प्र० पृ० २५५) और ‘तदुक्तं ध्वनिकृता—सगुणीभूतव्यञ्जयै……’ (का० प्र० पृ० २५७) इन कारिकाओं के साथ ध्वनिकार का नामोल्लेख किया है, तब उसी

प्रकार ध्वन्यालोक के 'अनौचित्यादते नान्यद्……' (काव्यप्रकाश पृ० ५४०)
 इस (ध्वन्यालोक पृ० १४५) वृत्तिगत पद्य का भी ध्वनिकार के नाम से उल्लेख
 किया है । आचार्य ममट के विषय में यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि वह
 कारिका और वृत्ति का लेखक एक ही समझता था क्योंकि जिस अभिनवगुप्ताचार्य
 ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में कारिकाकार और वृत्तिकार
 को स्पष्टतया भिन्न बताया है, (जैसा कि ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है) उस
 (अभिनव०) से आचार्य ममट केवल परिचित ही नहीं था, किंतु वह (ममट)
 अभिनवगुप्ताचार्य को संभवतः अपना आचार्य भी व्यक्त करता है । अतएव
 इसके द्वारा निर्विवाद सिद्ध होता है कि आचार्य ममट ने यह जानते हुए भी
 कि—कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न भिन्न हैं, दोनों के लिये 'ध्वनिकार' उपाधि
 का प्रयोग किया है । अतएव अन्य लेखकों द्वारा भी ऊपर के अवतरणों में ऐसा
 उल्लेख किया जाना कोई आश्वार्य-कारक नहीं हो सकता । इसी प्रकार ऊपर की
 पाँचवीं संख्या के प्रतिहारेन्दुराज द्वारा 'सहृदय' का प्रयोग भी 'सहृदयैः' वहुवचन
 में किया गया है, न कि 'सहृदयेन' इस प्रकार एक वचन से अर्थात् ध्वनिकार और
 वृत्तिकार आनन्दवर्धनाचार्य दोनों के लिये ही है । अतएव इन पाँचों के द्वारा
 किये गये उल्लेख का तो इस प्रकार समाधान हो जाता है । अब रहे कुछ और
 सातवें—क्षेमेन्द्र और हेमचन्द्र । इनके द्वारा यद्यपि कारिकाओं के साथ श्री
 आनन्दवर्धनाचार्य का नामोल्लेख किया गया है, किन्तु प्रतीत होता है कि इस-
 प्रकार के उल्लेख करनेवाले ग्रन्थकर्ताओं द्वारा कारिका और वृत्ति के लेखक के विषय
 में सूक्ष्म विचार नहीं किया गया है और न उन्हें इसपर विचार करने की आवश्य-
 कता ही थी । ऐसे लेखकों को तो ध्वन्यालोक के सिद्धांत अपने ग्रन्थ में उद्धृत
 करना मात्र ही अभीष्ट था—न कि उसके लेखक के विषय में निर्णय करना ।
 एतावता इनके उल्लेखों द्वारा ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति के लेखक के
 निर्णय के लिये कुछ सहायता नहीं प्राप्त हो सकती । ऐसी अवस्था में ध्वन्यालोक
 के टीकाकार अभिनवगुप्ताचार्य के मतानुसार कारिका और वृत्ति के भिन्न भिन्न

संस्कृत साहित्य का इतिहास

अच्छा, अब एक प्रश्न यह होता है कि ध्वन्यालोक का कारिकाकार, श्री आनन्दवर्धनाचार्य से भिन्न है, तो वह कौन है? इसके लिये कोई विश्वसनीय साधन नहीं है। यदि ग्रन्थ के अन्तरङ्ग उल्लेख द्वारा—जैसा कि ऊपर अनुमान किया गया है—‘सहृदय’ को कारिकाकार माना जाय तो इसमें भी एक प्रवल विरोध है—अभिनवगुप्ताचार्य ने ‘सहृदय’ पद की व्याख्या में कहीं भी कारिकाकार से सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं किया है, किंतु ‘सहृदय’ की स्पष्टता यही की है—

‘ये तादृशपूर्वकाव्यरूपतया जानन्ति त एव सहृदयाः’

(ध्वन्या० लोचन पृ० ७)

और कारिका के प्रणेता के लिये आज्ञातनामा ‘कारिकाकार’ का ही प्रयोग किया है, अतएव यह प्रश्न निरुत्तर ही रहता है।

ध्वन्यालोक का समय

ध्वन्यालोक को कारिका के लेखक ध्वनिकार के समय पर तो अधिक क्षय कहा जा सकता है, जब उसका नाम ही निश्चित नहीं है, केवल यही अनुमान हो सकता है कि कारिकाकार संभवतः श्री आनन्दवर्धनाचार्य से २ या ३ शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं। यदि इस बात पर व्यान दिया जाय, और व्यान देना उचित भी है, कि ध्वनि-सिद्धांत को पूर्ण महत्व श्री आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा वृत्ति लिखे जाने पर उपलब्ध हुआ है, तो यह भी संभव है कि कारिका ग्रन्थ भामह और दरडी आदि के समकालीन या उनके निकटवर्ती कुछ आगे पीछे लिखा गया है, क्योंकि ध्वनि के विषय में भामहादि द्वारा कुछ भी संकेत नहीं किया गया है।

श्री आनन्दवर्धनाचार्य

का

परिचय और समय

वृत्तिकार श्री आनन्दवर्धनाचार्य का व्यक्तिगत परिचय, ध्वन्यालोक की एक हस्तलिखित प्रति के—जो इण्डिया औफिस में है, तृतीय उद्घोत के अन्त में

आनन्दवर्धनाचार्य

यह मिलता है कि वह अपने पिता का नाम लोडोपाध्याय या चौथे उद्योत के अन्तिम पद्य में जोलोपाध्याय बतलाते हैं^१। किन्तु श्री आनन्दवर्धनाचार्य के देवी-शतक के १०१ वें श्लोक द्वारा यह 'नोण' के पुत्र प्रतीत होते हैं^२। और लोडोपाध्याय एवं जोलोपाध्याय के उल्लेख का कारण लिपिभ्रम प्रतीत होता है।

श्री आनन्दवर्धनाचार्य का समय तो सरलता से निश्चित हो जाता है। कल्हण ने लिखा है—

‘मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः,
प्रथां रक्षाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणि’।

—राजतरङ्गिणी ५।३४

इसके अनुसार श्री आनन्दवर्धनाचार्य काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के राज्य-काल में (सन् ८५७-८८४ ई०) विद्यमान थे। और लगभग सन् ६२५ ई० के राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इनका नामोल्लेख किया है। और श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने लगभग सन् ८०० ई० के लेखक आचार्य उद्घट का ध्वन्यालोक वृत्ति में उल्लेख किया है। जैसा कि उद्घटाचार्य के निबन्ध में पैहिले दिखा चुके हैं। अतः श्री आनन्दवर्धनाचार्य का समय संभवतः सन् ८०० से ८८४ ई० के मध्य में सन् ८५० ई० के लगभग है।

श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक की वृत्ति के अतिरिक्त और भी कितने ही ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें अर्जुनचरित्र तथा विषमवाणीलीला का नामोल्लेख इन्होंने स्वयं ध्वन्यालोक की वृत्ति में किया है^३। इनका देवीशतक तो काव्यमाला

१ देखो मुद्रित ध्वन्यालोक का संपादकीय लेख—एतस्पितुश्च 'नोण' इति नामासीदिल्लेत्प्रणीतदेवीशतकतो दुध्यते।

२ देखो श्री काणे की साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका पृ० ६९।

३ अर्जुनचरित्र का उल्लेख ध्वन्यालोक पृ० १४८ और विषमवाणीलीला का ध्वन्यालोक पृ० १५२, २४१ में है।

में मुद्रित भी हो गया है। और धर्मकीर्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' की टीका भी इन्होंने लिखी है। यह काश्मीरी थे यह तो इनकी राजानक उपाधि द्वारा ही सप्त है।

धन्यालोक पर श्री अभिनवगुप्ताचार्य कृत 'लोचन' व्याख्या मुद्रित हो चुकी है। और लोचन व्याख्या द्वारा विदित होता है कि धन्यालोक पर एक चन्द्रिका नाम की टीका भी अभिनवगुप्ताचार्य के किसी पूर्वज द्वारा लिखी गई है^१। उसपर अभिनवगुप्ताचार्य ने लोचन में—'इत्यलं निजपूर्वजसगोत्रैः साकं विवादेन' इत्यादि वाक्यों द्वारा आक्षेप भी किया है^२। अभिनवगुप्ताचार्य और उनकी लोचन व्याख्या के विषय में अधिक उल्लेख आगे कालक्रम के अनुसार अभिनवगुप्ताचार्य के प्रकरण में किया जायगा।

मुकुलभट्ट और अभिधावृत्तिमात्रिका

मुकुल की अभिधावृत्तिमात्रिका में केवल १५ कारिकाएँ हैं। उनपर स्वयं मुकुल ने ही विस्तृत वृत्ति लिखी है। इसमें वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) और लक्ष्यार्थ एवं अभिधा और लक्षण मात्र का निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ छोटा होने पर भी महत्वपूर्ण है। मुकुल भट्ट का यद्यपि अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, फिर भी मुकुल का स्थान साहित्यक्रेत्र में उल्लेखनीय अवश्य है। उद्धटाचार्य के काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर लघुवृत्ति व्याख्या के लेखक श्री प्रतिहारेन्दुराज जैसे विद्वान् ने लघुवृत्ति के अंतिम पद्य में मुकुल का अपने आचार्य रूप में गौरव के साथ उल्लेख किया है।

अभिधावृत्तिमात्रका के अंतिम पद्य में मुकुल ने अपने पिता का नाम कल्पट भट्ट बताया है। भट्ट कल्पट काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा का समा-परिडत था जैसा कि राजतरंगिणी के—

^१ देखिये धन्यालोक के प्रथम और तृतीय उद्घोत की लोचन व्याख्या के अन्तिम श्लोक।

^२ देखिये, लोचन व्याख्या पृ० १२३, १७४, १७८, १८५।

‘अनुग्रहाय लोकानां भद्राः श्री कल्पटादयः ।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन् ।’

—राजतरङ्गिणी ५।६६

इस पद्म में कहा गया है। अवन्तिवर्मा का समय सन् द४७-द४४ ई० है^१। इसके द्वारा मुकुल का समय ई० सन् की नवम शताब्दी का अन्तिम चरण या दशावीं शताब्दी के प्रारम्भ में माना जा सकता है।

—:०:—

राजशेखर और उसकी काव्यमीमांसा

‘बभूव बल्मीकिभवः पुराकविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तुमेष्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः’ ।

—बालभारत १।१३

काव्यमीमांसा रस, रीति अथवा अलङ्कार आदि किसी विशेष विषय का ग्रन्थ नहीं। किन्तु इसमें काव्य के सारे प्रयोजनीय विषयों का एक नवीन किन्तु अत्यन्त सारागर्भित आलोचनात्मक शैली द्वारा विवेचन किया गया है। अतएव यह ग्रन्थ काव्य-शिक्षा-विषयक अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी है। खेद है कि १८ अधिकरणों में पूर्ण होनेवाले इस महाग्रन्थ का केवल एक ‘कविरहस्य’ नामक प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध हो सका है जो गायकवाङ् सीरीज में मुद्रित हुआ है। इस अधिकरण में १८ अध्याय हैं। इसका विषय-विवरण संक्षिप्ततया भी विस्तार-भय से हम यहाँ नहीं दे सकते। इसका विषय-विवेचन अपूर्व और पाइडल्ट्य-पूर्ण है। संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि यह अपूर्व ग्रन्थ अनेक विषयों का भारणागार है। इसका जो कुछ अंश उपलब्ध है, उसी में काव्य-मर्मज्ञों के लिये ऐसी विलक्षण सामग्रियों का समावेश है, जो अन्यत्र किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हो सकतीं। इसके भौगोलिक वर्णन से स्पष्ट है कि राजशेखर इस

^१ देखो उन्नर्द के काव्यालङ्कारसारसंग्रह (बांबे सोरीज) की अंग्रेजी भूमिका, पृ० १४।

विषय का भी अच्छा जाता था। यह ग्रन्थ अधिकांश में कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं वात्स्यायन के कामसूत्र की शैली पर है। यह किंशु होने पर भी श्रुति-मधुर और हृदय-ग्राही है। राजशेखर इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण लिखने में कृतकार्य हो सका या नहीं, यह भी अनिश्चित है। सम्पूर्ण ग्रन्थ, जैसा कि इसके प्रथम अध्याय में संकेत है, न भी लिखा गया हो, तो भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि केवल इसका उपलब्ध एक अधिकरण ही लिखा गया है। क्योंकि अलङ्कार-शेखर में केशव मिश्र ने—‘तदाह राजशेखरः—समानमधिकं न्यूनं’ इत्यादि दो श्लोक उपमा प्रकरण में (अलङ्कार शे० मरीचि ११ पृ० ३२) और—‘राज-शेखरस्तु—उत्पादितैर्नभोनीतैः……’ यह पद्य (अलङ्कार शे० मरीचि १६ पृ० ६७) समस्या-पूर्ति प्रकरण में उद्धृत किये हैं पर ये काव्यमीमांसा के उपलब्ध प्रथमाधिकरण में नहीं हैं। संभवतः केशव मिश्र द्वारा प्रथम दोनों पद्य काव्य-मीमांसा के उपमालङ्कार अधिकरण से और तीसरा पद्य वैनोदिक अधिकरण से लिया गया हो, क्योंकि मुद्रित प्रथम अधिकरण में इन अधिकरणों के लिखे जाने का उल्लेख राजशेखर ने किया है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में अपने पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारों के सिद्धांत और उनके ग्रन्थों के उदाहरण उद्धृत किये हैं, जिनमें श्री भरतमुनि, श्री आनन्द-वर्षनाचार्य, उद्घट, मंगल, रुद्रट, वाक्पतिराज, वामन आदि साहित्याचार्य और कालिदास, अमर, भारवि, वाग्म, भवभूति, भट्ट नारायण, माघ, मशूर, आदि महाकवि उल्लेखनीय हैं।

राजशेखर अपने को कविराज बताता है, न कि महाकवि। उसने कवियों को दस श्रेणियों में विभक्त किया है, जिनमें उसने छठी श्रेणी में महाकवि का और इससे उच्च सातवीं श्रेणी में कविराज का स्थान निर्दिष्ट किया है। कविराज की स्पष्टता में उसने कहा है—

‘यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषेषु प्रबन्धेषु तस्मिंतस्मिन्नरसे
स्वतंत्रः स कविराजः । ते यदि जगत्यपि कतिपये’ ।
(काव्यमीमांसा पृ० १९)

वस्तुतः काव्यमीमांसा के लेखक का अपने को इस वाक्य के अनुसार कविराज की श्रेणी का अधिकारी बताना आत्युक्ति या गर्वोक्ति नहीं कही जा सकती। यद्यपि राजशेखर ने स्वयं अपने को कविराज बताकर गर्वोक्ति अवश्य की है, पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवियों के लिये यह नयी बात नहीं, जबकि कविशेखर कालिदास जैसे कविपय विनीत कवियों की अपेक्षा अपने विषय में गर्वोक्ति करनेवाले प्रसिद्ध कवियों की संख्या कहीं अधिक है।

‘कर्पूरमञ्जरी’ सट्टिका द्वारा विदित होता है कि राजशेखर ने बाल रामायण और बाल भारत की संज्ञा में बाल शब्द का प्रयोग संभवतः इसलिये किया है कि राजशेखर की ये दोनों कृतियाँ बाल्यावस्था की हैं। और कर्पूरमञ्जरी तथा काव्यमीमांसा में उसने अपने को कविराज की उपाधि से उल्लेख किया है^१।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के अतिरिक्त बालभारत (या प्रचण्ड पाण्डव), बाल रामायण नाटक और कर्पूरमञ्जरी सट्टक लिखा है, जो मुद्रित हो गये हैं। इनके सिवा विद्वशालभज्जिका नाटक भी लिखा है। हेमचंद्र ने (काव्यानु० पृ० ३३५) इसके हरिविलास ग्रंथ का नामोळ्हेख भी किया है। और काव्यमीमांसा में (पृ० ६८) इसने स्वयं अपने एक भुवनकोष ग्रंथ का भी नामोळ्हेख किया है।

केमेन्द्र के कविकण्ठाभरण एवं औचित्यविचारचर्चा में, महाराज भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में, हेमचंद्र के काव्यानुशासन विवेक में; वामभट्ट के काव्यानुशासन में और केशव मिश्र के अलङ्कारशेखर आदि में जो काव्ययोनयः, अर्थव्याप्ति, परकीय-काव्यहरण, कवि-समय, और देश काल आदि का जो कुछ न्यूनाधिक वर्णन दृष्टिगत होता है, वह सब काव्यमीमांसा पर ही निर्भर है, अतएव उक्त सभी ग्रंथकर्त्ता राजशेखर के अत्यन्त ऋणी हैं। हेमचंद्र ने तो काव्यमीमांसा का लगभग चतुर्थांश अपने ग्रंथ में समावेश कर लिया है, यद्याँ तक कि ७, ६, १३,

^१ ‘बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः। इत्येत्स्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः’॥ कर्पूरमञ्जरी १९।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

१७ और १८ अध्यायों में इसके बड़े बड़े अवतरणों का सब का सब अंश प्रायः
अविकल—कुछ शब्दों का परिवर्तन करके ले लिया है।

राजशेखर का परिचय

राजशेखर महामंत्री दुर्दुक अथवा दुहिक और शिलावती का पुत्र था और
यायावरीय वंश के अकालजलद कवि का प्रपौत्र। यायावरीय वंश में ही सुरानंद,
तरल और कविराज जैसे प्रसिद्ध विदान और कवि उत्पन्न हुए थे^१। इसने काव्य
मीमांसा में अनेक स्थलों पर यायावरीय मत का उल्लेख किया है। और स्वयं
अपना भी इसने निजबंश-सूचक ‘यायावरीय’ की व्यापक उपाधि द्वारा उल्लेख किया
है। यद्यपि स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० दुर्गप्रिसाद जी ने कर्पूरमञ्जरी (काव्यमाला
संस्करण) की भूमिका में और श्री सी० डी० दलाल ने काव्यमीमांसा की भूमिका
में लिखा है कि यह ब्राह्मण था या क्षत्रिय इसका पता नहीं चल सकता। जबकि
राजा महेन्द्रपाल का उपाध्याय होने के कारण इसे ब्राह्मण माना जा सकता है,
तब इसकी पक्षी अवंतिसुन्दरी चौहाण वंश की क्षत्रिया थी,^२ इसलिये इसका क्षत्रिय
होना भी कल्पना किया जा सकता है। किंतु ‘यायावरीय’ की उपाधि द्वारा ज्ञात

^१ राजशेखर ने स्वयं लिखा है—

‘स मूर्तों यत्रासीद्गुणगणहवाकालजलदः,

सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेन वघसा ।

न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयो’

महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले’ ॥

—बालरामायण १११३

^२ राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी में लिखा है—

‘चौहाणकुलमौलिमालिअ । राजशेहरकहन्दगेहिणी ।

भन्तुणो किदिमवन्तिसुन्दरी सा पउज्जइदुमेदमिच्छदि ॥

(१११)

होता है कि यह ब्राह्मण ही था। राजशेखर की विद्वशालभज्जिका की टीका में नारायण दीक्षित ने १५४ की व्याख्या में 'यायावर' का अर्थ देवल स्मृति के अनुसार एक प्रकार का गृहस्थ लिखा है—

'द्विविधोहि गृहस्थो यायावरः शालीनश्च'

और आश्रमोपनिषद् में लिखा है—

'गृहस्थापि चतुर्विधा भवन्ति । वाताकवृत्तयः
शालीनवृत्तयो यायावरा घोरसंन्यासिकाश्च' ।

— और 'यायावर' की व्याख्या में लिखा है—

'यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना
अध्यापयन्तो ददतः प्रतिगृह्णन्तः' ।

इस वाक्य में जो यायावरों के छः कर्म वतलाये गये हैं; वे मनु आदि स्मृतियों में ब्राह्मणों के लिये ही नियत हैं^१। श्रीमद्भागवत में भी यायावर वृत्ति ब्राह्मणों की ही वतलाई गई है^२। अतएव यायावरीय राजशेखर का ब्राह्मण होना ही सिद्ध होता है। अब रहा यह कि उसकी पढ़ी अवन्तिसुन्दरी क्षत्रिया थीं। क्षत्रिया स्त्री के साथ ब्राह्मणों का वैवाहिक सम्बन्ध पुराणेतिहासों में मिलता ही है। संभव है किसी विशेष कारण के उपस्थित होने पर राजशेखर ने ऐसा किया हो, किन्तु इस आधार पर राजशेखर ब्राह्मणातिरेक जाति का सिद्ध नहीं हो सकता। इसकी पढ़ी अवन्तिसुन्दरी भी बड़ी विदुषी और कवयित्री थी। इसीके मनोरूपनार्थ ही राज-

१ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयेत् ।

—मनु० ११८

२ वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोच्छनम् ।

विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा ।

—श्रीमद्भा० ७।१।१।६

संस्कृत साहित्य का इतिहास

शेखर ने कपूरमझरी लिखी है। काव्यमीमांसा में इसके मत का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख है^१।

राजशेखर महाराष्ट्रीय प्रतीत होता है। बाल रामायण में इसने अपने प्रवितामह अकालजलद के लिये 'महाराष्ट्रचूडामणि' का प्रयोग किया है। यद्यपि इसके—'ताडङ्गवर्लगनतरङ्गितगण्डलेख'..... (काव्यमी० पृ० ८), और 'यो मार्गः परिधान'..... (बा० ८० अंक १०।६०), इत्यादि वर्णन कान्यकुञ्ज की रमणियों के विषय में तथा 'शश्वत् सुवामवसुवा' इत्यादि (बालरा० अंक १०।८८, द९) कान्यकुञ्ज देश के वर्णन में, तथैव—'यत्रायेन' इत्यादि (बालरा० अंक १०।८६) पाञ्चाल देश के वर्णन में हैं। इनके द्वारा कान्यकुञ्ज और पाञ्चाल पर राजशेखर का पक्षपात विद्वित होता है और कुछ लाट देश पर भी (काव्यमी० पृ० ३४)। किंतु संभव है कि महाराष्ट्रीय होने पर भी अपने अपूर्व पाण्डित्य के प्रभाव से इन देशों के राजाओं से भी सम्मानित होने के कारण राजशेखर ने इन देशों का वर्णन भी चित्ताकरण किया हो।

राजशेखर नाम के संस्कृत के कई लेखक हुए हैं। एक राजशेखर ने ज्ञतुर्विशति-प्रवन्ध प्रणीत किया है। इस ग्रन्थ के अन्त में इसका रचनाकाल संवत् १४०५ वि० (१३४८ ई०) लिखा है। एक राजशेखर केरल का राजा हुआ है, जिसने स्वप्रणीत तीन नाटक भगवान् शङ्कराचार्य के अर्पण किये थे^२ और जिसका उल्लेख श्री माधवाचार्य ने शङ्करदिग्विजय में किया है^३। एक राजशेखर राजा का उल्लेख चंगजाशेरि के समीप तलमन्दिल्लं गांव के एक ताम्रपत्र में मिला है, उसका समय उसके सम्पादक श्री गोपीनाथ राव ने सन् ७५०-८५० ई० बतलाया है। इत्यादि आधारों पर कुछ विद्वान् लेखकों ने कविराज राजशेखर की उपर्युक्त राजशेखर नाम

^१ देखो काव्यमीमांसा पृ० २०, ४६-५७।

^२ भगवान् शङ्कराचार्य के विषय में कुछ विद्वान् माधवाचार्य का उल्लेख अमात्मक मानते हैं।

^३ देखिये द्वावनकोर संस्करण जिल्द २ पृ० ९, १०।

राजशेखर

के व्यक्तियों से एकता की है। किंतु पुरातत्ववेत्ता महामहोपाध्याय रायबहादुर श्री गौरीशङ्कर हीराचंद और भा. जी ने उन लेखकों की कल्पनाओं को भ्रमात्मक सिद्ध कर दिया है^१। वस्तुतः कविराज राजशेखर उन सभी से भिन्न है।

राजशेखर का समय

इसके नाटकों की प्रस्तावना द्वारा ज्ञात होता है कि यह कनौज के शासक महेन्द्रपाल का उपाध्याय था^२ और उसके पुत्र महीपाल का भी कृपापात्र था। महेन्द्रपाल का शिलालेख ६०७ ई० का है^३। और महीपाल का समय ६१७ ई० का है^४। राजशेखर ने वाक्पतिराज का नामोल्लेख किया है—‘न इति वाक्पतिराजः।’ (काव्यमीमांसा पृ० ६२) और ‘तस्य च त्रिधाऽभिधाव्यापारः इति औद्धयाः।’ (काव्यमीमांसा पृ० २२) इत्यादि से उद्घट का एवं (काव्यमीमांसा पृ० १६) श्री आनन्दवर्धनाचार्य का भी नामोल्लेख किया है। अतः राजशेखर श्री आनन्दवर्धनाचार्य का (जिनका समय काश्मीराधिपति अवन्तिवर्मा के समकालीन लगभग ८५० ई० है) परवर्ती है।

सोमदेव ने यशस्तिलक (पृ० ११३) में राजशेखर का नामोल्लेख किया है—‘तथा उर्वभारः……राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु।’ सोमदेव के यशस्तिलक की रचना ८५६ ई० की है^५। अतः राजशेखर का काव्य-समय लगभग सन् ८८४ से ८२५ ई० तक प्रतीत होता है।

—:०:—

१ देखिये नागरीप्रचारिणी पत्रिका सं० १९८२ विं पृ० ३६५-३७०।

२ ‘रघुकुलचूडामण्डमहेन्द्रपालस्य कश्चगुरुः।’ कर्पूरमञ्जरी १।५

‘देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः।’

बालभारत १।१।

३ देखिये मि० कीलहार्न द्वारा प्रकाशित स्यादोनी का शिलालेख।

४ देखो एपीआफिया इंडिका, जिल्द १ पृष्ठ १७१।

५ देखो काव्यशाला संस्करण कर्पूरमञ्जरी का सम्पादकीय लेख पृ० २।

धनञ्जय तथा धनिक और दशरूपक

धनञ्जय ने दशरूपक ग्रंथ प्रधानतया नाट्य विषय पर लिखा है, जो श्री भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के मतानुसार है। दशरूपक चार प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम और तृतीय प्रकाश में दस रूपकों के भेदों के लक्षण और नृत्यादि नाटक के अनेक विषयों का निरूपण है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका भेद एवं चतुर्थ प्रकाश में नवरसों का विवेचन है। यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस में धनिक की टीका के साथ मुद्रित हुआ है। इस ग्रन्थ के लोकप्रिय और अधिक प्रचलित होने का कारण इसमें की गई विषय-विवेचन की सरलता एवं मुन्दरता है। धनञ्जय के उत्तरकालीन विश्वनाथ आदि ने जो नाट्य विषय पर विवेचन किया है वह दशरूपक पर ही निर्भर है अतएव वे अधिकतया धनञ्जय के ऋणी हैं।

धनञ्जय ने अपना परिचय देते हुए कहा है—

विष्णोःसुतेनाऽपि धनञ्जयेन
विद्वन्मनोरागनिवन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मञ्जुसहीशगोष्ठी
वैदग्धभाजा दशरूपमेतत् ॥

—दशरूपक चतुर्थ प्रकाश ८६

इससे विदित होता है कि धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था और धनञ्जय मुञ्ज राजा का सभा-परिणित था। मुञ्ज की प्रसिद्ध वाक्पतिराज के नाम से भी है। धनञ्जय ने—“प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं”—इत्यादि पद्य को दशरूपक (प्रकाश ४) में प्रणय-मान और दृष्ट-मान दोनों के उदाहरणों में वाक्पतिराज और मुञ्ज दोनों के नाम से उद्धृत किया है। मुञ्ज के अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ और श्रीवल्लभ भी उपनाम थे। मुञ्ज मालव के परमारवंशीय राजाओं में था। इसका शिलालेख १०३१ विकमीयाव्द के अनुसार ६७४ ई० का है।^१ मुञ्ज की राजधानी

^१ देखो प्राचीन लेखमाला प्रथम भाग पृ० १

अभिनवगुप्ताचार्य

उज्जैनी थी, धारानगरी को तो मुङ्ग के बाद महाराज भोज के समय में राजधानी की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। इसके द्वारा धनजय का समय लगभग १००० ई० हो सकता है।

धनिक ने दशरूपक पर अवलोक टीका लिखी है। 'अवलोक' की समाप्ति के—

‘इति श्री विष्णुसूनो र्धनिकस्य कृतौ
दशरूपावलोके रस विचारो नामं चतुर्थः प्रकाशः’

इस वाक्य में 'विष्णुसूनो' के प्रयोग द्वारा प्रतीत होता है कि धनिक सम्भवतः धनजय का भाई था। धनिक ने 'नवसाहसाङ्कचरित' के प्रणेता पद्मगुप्त के (जो परिमल के नाम से प्रसिद्ध था) उद्धरण लिये हैं^१। साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने और प्रतापरुद्रदयशोभूषण के प्रणेता विद्याधर ने धनिक और धनजय को एक ही समझ कर दशरूपक की कारिकाएँ धनिक के नाम से उद्धृत की हैं किन्तु यह उनका भ्रम है।

—०—

अभिनवगुप्तपादाचार्य, भट्ट तौत और भट्टेन्दुराज

धन्यालोक के 'लोचन' टीकाकार श्री अभिनवगुप्ताचार्य केवल कवि ही नहीं प्रगाढ़ दर्शनिक विद्वान् भी थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ निर्माण किये हैं। नाव्यशास्त्र पर इनकी अभिनवभारती व्याख्या भी उल्लेखनीय है जो गायकवाड़ सीरीज़ में मुद्रित हुई है। इनके प्रणीत कुछ साम्प्रदायिक ग्रन्थ काश्मीर संस्कृत सीरीज़ में भी मुद्रित हो गये हैं। श्रीमद्भगवद्गीता पर इनकी की हुई व्याख्या निर्णयसागर में मुद्रित हुई है। इनके प्रगाढ़ पारिडृत्य के परिचय के लिये यही पर्यात है कि ये उन मम्माचार्य के आचार्य थे, जिनको विद्वत्समाज में भगवती सरस्वती का अवतार कहा जाता है। इनकी धन्यालोक पर लोचन टीका का स्थान भी संस्कृत साहित्य में बड़ा

^१ देखो दशरूपक में सोहायित अनुभाव का उदाहरण।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

महत्वपूर्ण है। यह टीका हस्तलिखित प्रतियों में ध्वन्यालोकलोचन के सिवा सहृदयालोकलोचन और काव्यालोकलोचन की संज्ञा से भी व्यक्त की गई है। अभिनवगुप्तपादाचार्य केवल ध्वन्यालोक के टीकाकार ही नहीं किंतु ध्वनि सम्प्रदाय के स्थापकों एवं प्रवर्तकों में इनका स्थान वृत्तिकार श्री आनंदवर्घनाचार्य के समकक्ष है। इन्होंने लोचन में कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न-भिन्न बताते हुए भी किसी-किसी स्थल पर इन दोनों के विषय में भ्रमोत्पादक उल्लेख भी कर दिया है। इन्होंने भट्ट तौत (अभिनवभारती पृ० ३१०) और भट्टेन्दुराज अथवा इन्दुराज (ध्वन्यालोक पृ० १६० और श्री गीता की व्याख्या प्रथम पद्य) को अपना उपाध्याय बतलाया है। भट्ट तौत ने काव्यकौतुक ग्रन्थ लिखा है जिसका उल्लेख लोचन में (पृ० २६) है और उसपर अभिनव-गुप्ताचार्य ने विवरण लिखा है (लोचन पृ० १७८)। भट्ट तौत का ज्ञेमेन्द्र ने भी उल्लेख किया है—

यदाह-भट्ट तौतः 'प्रव्वा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'
(श्रौचित्य विं पृ० १५५)। इसके कुछ श्लोक भी लोचन में (पृ० २५, ४३,
११६, १६०, २०७) उद्धृत हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि भट्टेन्दुराज जिसको अभिनवगुप्तपादाचार्य अपना उपाध्याय बतलाते हैं, और प्रतिहारेन्दुराज, जिसने उद्घट के काव्यालङ्कार-सारसंग्रह पर लघुवृत्ति लिखी है, एक ही हैं या भिन्न-भिन्न ? यद्यपि रुद्यक के टीकाकार समुद्रवंध ने इनको एक ही समझा है, जैसा कि उसके—

‘अप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणे भट्टेद्घट ग्रन्थे……व्याख्यातम्’ भट्टेन्दुराजेन
‘प्रोणित प्रणायि’ इत्यादि—

(अलङ्कार सूत्र विवेन्द्रम संस्करण पृ० ११९)

और इस पद्य को प्रतिहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में (काव्यालङ्कार सा० सं० भंडारकर पूना संस्क० पृ० ३६) अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में दिया है। अर्थात् समुद्रवंध ने प्रतिहारेन्दुराज को ही भट्टेन्दुराज समझ लिया है। किन्तु यह समुद्रवंध का भ्रम मात्र है। और इस भ्रम का कारण केवल दोनों के नाम की

अभिनवगुप्ताचार्य

समानता ही है क्योंकि इन दोनों के एकीकरण के विरुद्ध एक यही प्रबल प्रमाण पर्याप्त है कि प्रतिहरेन्दुराज ने लघुवृत्ति में ध्वनि सिद्धान्त का प्राधान्य स्वीकार नहीं किया है किन्तु इस विषय पर विस्तृत विवेचन करके यह प्रतिपादन करने की भरसक चेष्टा की है कि 'ध्वनि' अलङ्कारों में समावेशित है^१। किन्तु श्री अभिनवगुप्ताचार्य के उपाध्याय भट्टेन्दुराज ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुयायी थे, जैसा कि अभिनवगुप्तपादाचार्य के—

‘एवं वस्त्वलङ्घाररसभेदेन त्रिधाध्वनि-
रत्रश्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्याख्यातः’

इत्यादि वाक्यों द्वारा सष्टि है। अतएव भट्टेन्दुराज और प्रतिहरेन्दुराज ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

अभिनवगुप्तपादाचार्य का परिचय और समय

अभिनवगुप्ताचार्य ने पराविंशका में अपने पिता का नाम चुखल, पितामह का नाम वराह गुप्त एवं छोटे भाई का नाम मनोरथ बताया है, और अपना समय भी स्वयं बतलाया है। प्रत्यभिज्ञावृहतीवृत्ति की रचना का समय उन्होंने उसी के अन्त में लिखा है—

‘इति नवतितमेऽस्मिन् वर्तसरेऽन्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधिस्थे मागशीषावसाने ॥’^२

अर्थात् गत कलि ४११५ (सन् १०१५ ई०)। भैरव स्तोत्र की रचना का जो समय इन्होंने लिखा है उसके अनुसार सन् ६६१ ई० है^३। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अभिनवगुप्ताचार्य को भारत मञ्जरी के—

‘आचार्यशोखरमणेर्विद्याविवृतिकारिणः ।
त्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिष्वेः ॥’

—भारत मञ्जरी पृ० ८५०

१ देखो क्षाव्यालङ्घारसारसग्रह भण्डारकर पृ० ८५-९२।

२ देखो व्हूलर की काश्मीर रिपोर्ट पृ० १५९।

३ देखो व्हूलर की काश्मीर रिपोर्ट पृ० १२६।

इस पद्य में अत्यन्त गौरव के साथ अपना साहित्यिक गुरु बताया है। क्षेमेन्द्र अनन्तराज का समकालीन है जिसका समय सन् १०२०-१०८० ई० है।^१ लगभग १०५० ई० के आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में रस-विषयक मरत-सूत्र के व्याख्याकारों में अभिनवगुप्ताचार्य के मत को 'आचार्यपद' के प्रयोग द्वारा उद्भूत किया है। इसके द्वारा भी अभिनव और मम्मट का गुरु-शिष्य सम्बन्ध विदित होता है। अतएव अभिनवगुप्तपादाचार्य का समय सन् ६७० से १०५० ई० तक के लगभग हो सकता है।

इनका नाम केवल अभिनव था। अभिनवगुप्तपाद नाम की प्रसिद्धि के विषय में सुधासागर टीका में कहा गया है कि यह बाल्यकाल में अपने सहपाठी बालकों को डराया करते थे, इसलिये गुरु जी ने इनका नास 'बालबलभीमुजङ्ग' रख दिया था, इसी संकेतिक नाम के आधार पर इनका अभिनवगुप्तपाद नाम प्रसिद्ध हुआ। किन्तु संभवतः यह कल्पना अनाधार है। अभिनवगुप्ताचार्य ने स्वयं अपने पितृब्य का नाम वामन गुप्त बतलाया है^२ अतः इनकी 'गुप्त' की उपाधि वंशपरं प्रागत प्रतीत होती है।

—:०:—

राजानक कुन्तल अथवा कुन्तक और

उसका वक्रोक्तिजीवित

कुन्तल का स्थान भी साहित्य केन्द्र में उल्लेखनीय है। इसने वक्रोक्तिजीवित अन्थ लिखकर अपना एक नवीन सिद्धान्त स्थापित करने की चेष्टा की थी। अतएव

^१ देखो इसी अन्थ में क्षेमेन्द्र विषयक निवन्ध।

^२ देखो नाट्यशास्त्र की अभिनवभारतीय पृ० २९७—'तत्र हास्याभासो यथास्मात्पितृब्यस्य वामनगुप्तस्य।'

कुन्तल की अपेक्षा वक्रोक्तिजीवितकार के नाम से इसकी अधिक प्रसिद्धि है।

वक्रोक्तिजीवित में चार उन्मेष हैं। किन्तु बाबू सुशीलकुमार द्वारा सम्पादित और कलकत्ता ओरिएन्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित संस्करण में तीसरा उन्मेष भी असमाप्त ही मुद्रित हो सका है। इस ग्रन्थ में कुन्तल ने वक्रोक्ति को न तो बास्तव और रुद्रट इन दोनों में किसी के मतानुसार केवल एक अलङ्कार-विशेष ही स्वीकार किया है और न भामह के (काव्यलं० ३।८५) मतानुसार संपूर्ण अलङ्कारों में ही व्यापक ब्रतलाया है। कुन्तल ने वक्रोक्ति को शब्द और अर्थ को सुशोभित करनेवाली कवि-कौशल द्वारा वर्णन करने की साधारण उक्ति की प्रसिद्ध शैली से विशिष्ट एक विचित्र शैली ब्रतलाया है—

‘उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥’

—वक्रोक्ति जो० ११०

इसमें ‘वक्रोक्ति’ शब्द के आगे ‘एवं’ के प्रयोग द्वारा इसने काव्य-रचना में कहि का कौशल एक मात्र वक्रोक्ति में ही मर्यादित कर दिया है। यहाँतक कि जिस ‘ध्वनि’ सिद्धांत का व्यनिकारों ने काव्य में सर्वत्र सर्वोपरि साम्राज्य स्थापित किया है, उस ‘ध्वनि’ को भी इसने वक्रोक्तिवैचित्र्य में ही समावेशित करने की चेष्टा की है। और जिस शैली द्वारा ध्वन्यालोक में पद, वाक्य आदि में व्यञ्जनार्थ द्वारा ध्वनि का चमत्कार प्रदर्शित किया है, और काव्य-विषयक प्रधान चमत्कार व्यञ्जनार्थ पर अवलम्बित ब्रताया है उसी प्रकार इसने भी पद, वाक्य आदि वक्रता के उदाहरण दिखलाकर वाच्यार्थ के उक्ति-वैचित्र्य में ही संपूर्ण काव्य-चमत्कार प्रतिपादन करने की चेष्टा की है। सत्य तो यह है कि कुन्तक का प्रधान उद्देश्य इस ग्रन्थ के प्रणयन का एक मात्र ध्वनि सिद्धांत को निर्मूल करने का ही था क्योंकि उसने ध्वनि काव्य को स्वीकार करके भी उसे स्वतंत्र सिद्धांत न मानकर अपने वक्रोक्ति-मार्ग के अंतर्गत स्थापन करने की चेष्टा की है। कुन्तल का कहना है कि वक्रोक्ति-उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य का जीवन सर्वस्व है, न कि व्यञ्जनार्थ। रुद्रक ने स्पष्ट कहा है—

“उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः । केवलमुक्तिवैचित्र्य जीवितंकाव्यं न व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं ध्यवस्थितम् ।”

(अलङ्कारसर्वस्त्र काव्यमाला संस्करण पृ० ८)

किन्तु कुंतल अपने आघातों से ध्वनि-सिद्धांत को किञ्चित् भी विचलित न कर सका, प्रत्युत इस चेष्टा द्वारा उसका यह सिद्धांत नितांत शिथिल होकर नाम मात्र अवशेष रह गया ।

यद्यपि कुंतल के इस सिद्धांत का मूलाधार भामह द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति का व्यापक सिद्धांत है तथापि कुंतल ने अपने मूलाधार के बलावल पर विचार न करके उसपर निर्मार्याद असहा भार का भवन निर्माण करके वस्तुतः असंभव चेष्टा की जिसका परिणाम विपरीत हुआ जो कि अवश्यंमावी था । दूसरे शब्दों में इसकी स्पष्टता यह है कि आचार्य भामह ने अपनी दूरदर्शिता से वक्रोक्ति अर्थात् उक्ति-वैचित्र्य की व्यापक शक्ति अलङ्कारों तक ही मर्यादित रखी थी, इससे वह स्थिर भी रह सकी । किंतु कुंतल ने वक्रोक्ति सिद्धांत में गुण, रीति, रस, ध्वनि सभी को समावेश करने का दुःसाहस किया है, ऐसी परिस्थिति में वह चिरस्थायी किस प्रकार रह सकता था अर्थात् न तो वह अपने उत्तर-कालीन आचार्यों को ही प्रभावित करने में समर्थ हुआ और न भामह के सिद्धांत को आच्छादित ही कर सका । प्रत्युत भामह के चमत्कारिक सिद्धांत का प्रकाश अपने पूर्व रूप में ही उसके अत्यंत दूरवर्ती आचार्य मम्मट जैसे साहित्याचार्यों तक को अपनी ओर आकर्षित करता रहा ।

ध्वनि-सिद्धांत के विरोधी होने के कारण कुंतल का वक्रोक्ति-सिद्धांत यद्यपि स्थिर न रह सका, किर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि कुंतल एक उल्लेखनीय साहित्य-मर्मज्ञ और मार्मिक आलोचक था । वक्रोक्ति-जीवित में उसने अपने पूर्ववर्ती कालिदासादि महाकवियों के पद्य उदाहरणों में उद्धृत करके उनपर जो विवेचन किया है वह केवल चित्तकर्षक ही नहीं वस्तुतः भाव-गर्भित और विद्वत्ता-पूर्ण है । उसके द्वारा कुंतल की विवेचन-शक्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है ।

कुन्तल का समय

कुन्तल ने अपने पूर्ववर्ती कालिदास, भारवि, बाण और भवभूति आदि के बहुत से पद्य उदाहरणों में उद्धृत किये हैं। और इन सब से अन्तिम और अपने निकटवर्ती राजशेखर का—जिसका समय लगभग सन् ८८४—८२५ ई० है—नामोल्लेख किया है—

‘भवभूतिराजशेखरविरचितेषु ।’—(वक्रोक्तिजी० पृ० ७१)

और राजशेखर के वालरामायण के बहुत से पद्य भी उद्धृत किये हैं^१। अतः कुन्तल का समय राजशेखर के बाद का है। और कुन्तल के उत्तरकालीन निकटवर्ती महिम भट्ट ने (व्यक्तिविवेक पृ० २८) —

‘शब्दार्थौसहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।’ इत्यादि—

(वक्रोक्तिजी० १७)

कारिका को कुन्तल के नामोल्लेख के साथ उद्धृत किया है। महिम भट्ट का समय संभवतः ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यकाल है जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। इसके द्वारा कुन्तल, स्पष्ट ही महिम भट्ट का पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। किंतु कुन्तल के काल-निर्णय के विषय में यहाँ एक यह जटिलता उपस्थित होती है कि महिम भट्ट और कुन्तल दोनों ही ध्वन्य सिद्धान्त के प्रबल प्रतिपक्षी थे और महिम भट्ट ने अभिनवगुप्त की ध्वन्यालोक व्याख्या के कुछ अंश की व्यक्तिविवेक में आलोचना भी की है और महिम के ध्वनि-सिद्धान्त-विरोधी मत का मम्मट ने काव्यप्रकाश में वडा तीव्र खण्डन किया है, किंतु महिम के पूर्ववर्ती कुन्तल के ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी वक्रोक्ति-सिद्धान्त का मम्मट द्वारा खण्डन नहीं किया जाना वस्तुतः आश्रय का विषय है जब कि राजानक उपाधि द्वारा कुन्तल और मम्मट दोनों ही एकदेशीय काश्मीरी-होने के कारण उनका परस्पर में अनभिज्ञ रहना भी असंभव सा ही है। ऐसी परिस्थिति में यही अनुमान हो सकता है कि

^१ देखिए, वक्रोक्तिजीवित प्रथम उन्मेष पद्य सं २२, ३३, ५६, ६३, १०२ और द्वितीय उन्मेष सं १०, ११, २९, ३४, ७१, ७६, ९९, १००, १०४।

संभवतः कुन्तल के वक्रोक्तिजीवित को उस समय तक प्रसिद्धि प्राप्त न होने के कारण यह ग्रन्थ मम्मट के दृष्टि-पथ में न आ सका। इसलिये कुन्तल का समय अभिनवगुप्ताचार्य और महिम भट्ट के अधिक पूर्व नहीं माना जा सकता क्योंकि अभिनवगुप्ताचार्य ने वक्रोक्ति के विषय में पूर्ववर्ती कई आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं। यदि कुन्तल का ग्रन्थ इनके सन्मुख होता तो उसके वक्रोक्ति सिद्धान्त की वे क्रूर आलोचना अवश्य करते क्योंकि वे ध्वनि-सिद्धान्त के कठूर प्रतिनिधि थे और कुन्तल प्रतिपक्षी था। अतएव कुन्तल के वक्रोक्तिजीवित का समय अभिनवगुप्ताचार्य के अन्तिम समय के लगभग और मम्मट के समकालीन संभवतः ऐसा की ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण हो सकता है।

महिम भट्ट और उसका व्यक्तिविवेक

महिम भट्ट ने भी कुन्तक के बाद ध्वनि सिद्धान्त को पर्याप्त युक्तियों द्वारा उच्छिन्न करने का दुःसाहस किया है। इसने 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ को तीन विमर्शों में लिखा है। प्रथम विमर्श में ध्वनि लक्षण लिखकर उसका अनुमान में अन्तर्भाव, द्वितीय में अनौचित्य विचार और तृतीय में ध्वन्यालोक में ध्वनि के दिखाये गये ४० उदाहरणों को अनुमान में गतार्थ करने की चेष्टा की गई है। ध्वनिकारों ने जिस प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ को व्यंजना वृत्ति का व्यापार और काव्य में सर्वप्रधान चमत्कारक पदार्थ बताया है, उस व्यङ्ग्यार्थ को महिम अनुमान का विषय बताता है। महिम का कहना है कि शब्द की व्यंजना वृत्ति है ही नहीं—केवल अभिधा मात्र वृत्ति है। ध्वनिकारों ने शब्द के अभिधेय, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन अर्थ बताये हैं किन्तु महिम अभिधेय और अनुमेय दो ही अर्थ मानता है—‘अर्थोऽपि द्विविदोवाच्यो अनुमेयश्च।’ (व्यक्तिविवेक पृ० ७) इसकी स्पष्टता में वह कहता है—

‘तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः। स एव मुख्यः।
ततएव तदनुभितादा लिङ्गभूताद्यर्थान्तरमनुमीयतेसोऽनुमेयः।’

स च त्रिविधः वस्तुमात्रमलङ्घारारसादयश्चेति । तत्राद्यौ
वाच्यावपि सम्भवतः । अन्यस्तवत्तुमेय एवेति वद्यते ।'

—व्यक्तिविं पृ० ७

अर्थात् महिम वाच्य को मुख्यार्थ और प्रतीयमान (अर्थान्तर) को अनुमेय (अनुमान द्वारा ज्ञात होनेवाला) मानता है । किर इन दोनों के—वस्तुमात्र, अलङ्घार और रस आदि यह तीन भेद कहकर वस्तु और अलङ्घार को वाच्यार्थ और अनुमेयार्थ दोनों और रस आदि को केवल अनुमेयार्थ बताता है । उसके बाद महिम ने—

‘वाच्यप्रतीयमानयोर्वद्यमाणकमेण लिङ्गलिङ्गभावस्य समर्थनात्
सर्वस्यैव ध्वनेनुमानान्तर्भावः समन्वितो भवति तस्य च तदपेक्ष्या
महाविषयत्वात् ।’

—व्यक्तिविवेक पृ० १२

इन वाक्यों द्वारा ध्वनि का सम्पूर्ण विषय अनुमान के अन्तर्गत बता दिया है ।
और रस विषय को—

‘विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमानएवान्तर्भावमहृति ।’

—व्यक्ति पृ० ११२

इस वाक्य में अनुमान के अन्तर्गत बताया है ।

इस प्रकार महिम भट्ट ने ध्वनिकार जैसे महान् साहित्याचार्यों के सर्वमान्य सिद्धान्त के विरुद्ध लेखनी उठाने का दुःसाहस किया है यद्यपि महिम भट्ट निस्सन्देह एक उल्लेखनीय तार्किक और प्रखर आलोचक था । उसको अपनी मौलिकता का भी बड़ा गर्व था । संभवतः इसने श्री शंकुक के अनुमानवाद का अनुसरण किया है । क्योंकि श्री शंकुक ने भरत नाथ्य शास्त्र के—

‘विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः’ ।

इस सूत्र की जो व्याख्या की है, उसमें रस का आस्वाद अनुमान द्वारा होना ही बताया है, जैसा कि अभिनवगुप्ताचार्य और आचार्य ममट द्वारा उद्दृत किये

संस्कृत साहित्य का इतिहास

गये इसके मत से स्पष्ट ज्ञात होता है^१। किन्तु महिम भट्ट ने अपने पूर्ववर्ती किसी का भी नामेल्लेख नहीं किया है, इसका कारण इसके गर्व के सिवा अन्य क्या हो सकता है। पर खेद है कि महिम ने अपनी इस प्रखर प्रतिभा का उपयोग किसी प्रशंसनीय आदर्श विषय के लिखने में नहीं किया, यदि वह ऐसा करता तो अवश्य ही उसका वह ग्रन्थ साहित्य में बड़ा उल्लेखनीय हो सकता था। किसी सुप्रसिद्ध आचार्य के सारगम्भित सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचना द्वारा अपने नवीन मत को स्थापित करने की चेष्टा करना तो सरल है, किंतु वह सिद्धान्त रूप में तभी स्थिर रह सकता है, जब वह सारगम्भित हो और अन्य प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों के द्वारा परीक्षा की कसौटी पर उत्तीर्ण होकर सर्वमान्य हो सके। किन्तु महिम भट्ट के इस नवीन मत को इसके उत्तरकालीन किसी भी साहित्याचार्य ने स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत प्रारम्भ में ही महिम के अत्यन्त निकटवर्ती आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में इसके मत का अकाउंट युक्तियों द्वारा सप्रमाण खण्डन करके मूलोच्छेदन ही कर दिया। सत्य तो यह है कि महिमा के ध्वनि-विरोधी सिद्धान्त का सौभाग्य आचार्य मम्मट द्वारा किये गये सार-गम्भित गम्भीर विवेचन पर ही निर्भर है।

मम्मट के बाद अलङ्कारसर्वस्व-प्रणेता रुद्धक भी—जिसने महिम के व्यक्तिविवेक पर टीका भी की है और जो अलङ्कार सम्प्रदाय का उल्लेखनीय प्रतिनिधि था, ध्वनि-सिद्धान्त को स्वीकार करता हुआ महिम पर तीव्र आक्षेप करता है—

‘यत्तु व्यक्तिविवेककारो………अविचारिताभिधानम्’

—अलं० सू० त्रिवेन्द्रम् सं० पृ० १०,११।

यही नहीं, रुद्धक ने व्यक्तिविवेक की टीका में भी महिम भट्ट की अत्यन्त धृणास्पद आलोचना की है, जैसा कि—

‘यथावस्थितपाठेतु ध्वनिकारस्येतिवचः शब्दान्वितमिष्यमाणं………

१ देखो नाट्यशास्त्र की अभिनवगुप्ताचार्य की अभिनव भारती टीका पृ० २७४-२७६ और काव्यप्रकाश वामनाचार्य कृत टीका द्वितीय संस्करण पृ० १०२-१०५।

एतचास्य साहित्यविचारदुर्निरूपकस्य प्रमुख एवस्वलितमिति महान्
प्रमादः ।'

व्यक्तिविवेक टीका पृ० ४१

और—

‘तदेतस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिता-
स्वापनमिति ।’

—(व्यक्तिविवेक टी० पृ० ४४)

इन वाक्यों से स्पष्ट है। विश्वनाथ ने भी साहित्य-दर्पण (५१४ की वृत्ति) में
इसका खण्डन किया है।

महिम का परिचय और समय

महिम भट्ट काश्मीरी था, यह बात इसकी राजानक उपाधि से स्पष्ट है।
इसके पिता का नाम श्री धैर्य था। और वह महाकवि श्यामला का शिष्य था।
श्यामल का एक पत्र क्षेमेंद्र ने श्रौचित्यविचारचर्चा (पृ० १२५) में और एक
पत्र सुन्दरतिलका (२१३) में उद्घृत किया है। रुद्धक तो इसके व्यक्तिविवेक
का टीकाकार ही है। यद्यपि टीका में नामोल्लेख नहीं है, पर रुद्धक के अलङ्कार
सर्वस्व के टीकाकार विमर्शनीकार जयरथ ने (अलङ्कारसर्वस्व काव्यमाला सं० पृ०
१३) रुद्धक को ही व्यक्तिविवेक का टीकाकार स्पष्ट बताया है। और आचार्य
मम्मट ने तो व्यक्तिविवेक का (काव्यप्रकाश पञ्चमोऽसास में) खण्डन किया है।
अतएव महिम भट्ट क्षेमेंद्र, रुद्धक और मम्मट का पूर्ववर्ती है। और श्री आनन्द-
वर्धनाचार्य से तो इसका परवर्ती होना इसके द्वारा की गई ध्वन्यालोक की आलोचना
से ही सिद्ध होता है। और अभिनवगुप्ताचार्य की लोचन व्याख्या पृ० ३३ के एक
विस्तृत अवतरण की महिम द्वारा व्यक्तिविवेक (पृ० १६) में आलोचना की
गई प्रतीत होती है। अतएव महिम के व्यक्तिविवेक का रचना-काल लगभग
ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में हो सकता है।

महाराज भोज तथा उनका सरस्वती- कण्ठाभरण और श्रुद्धारप्रकाश

महाराज भोज ने यों तो प्रायः अनेक विषयों पर बहुत से महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। साहित्य विषय में भी सरस्वतीकण्ठाभरण और श्रुद्धारप्रकाश ये दोनों ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरण में ध्वनि और दृश्य काव्य के विषय को छोड़कर काव्य के रस, अलङ्कार आदि सभी विषयों का विस्तृत निरूपण है। इस ग्रन्थ का काव्यमाला वाला संस्करण बहुत उपयोगी है जिसमें तीन परिच्छेदों पर रत्नेश्वर कृत रत्नार्पण टीका, चतुर्थ परिच्छेद पर जगद्वर कृत विवरण और पञ्चम परिच्छेद मूल मात्र मुद्रित है। इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में पद के १६, वाक्य के १६ और वाक्यार्थ के १६ दोष, फिर शब्द के २४ और अर्थ के २४ गुण निरूपित हैं। द्वितीय परिच्छेद में २४ शब्दालङ्कार, तृतीय परिच्छेद में २४ अर्थालङ्कार, चतुर्थ परिच्छेद में २४ उभयालङ्कार और पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव और नायक-नायिकादि भेद निरूपित हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरण में लक्षण और उदाहरणों के लगभग १५०० उद्धरण अन्य ग्रन्थों के उद्धृत हैं, जो नायकशास्त्र, अभिपुराण, भष्मि, भामह, दंडी, वामन, ध्वनिकार, धनिक और राजशेखर आदि के ग्रन्थों से लिये गये हैं। सबसे अधिक दरडी के काव्यादर्श से ४१ कारिकाएं और १६४ उदाहरण लिये गये हैं। यद्यपि अन्य ग्रन्थों के इतनी अधिक संख्या के अवतरणों के आधार पर श्री काणे^१ और एस० के० दे वाबू^२ इस ग्रन्थ को मौलिक स्त्रीकार न करके संग्रह-ग्रन्थ बताते हैं। पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सरस्वतीकण्ठाभरण

^१ देखो साहित्यवर्द्धण की श्री काणे की अंग्रेजी भूमिका पृ० १५।

^२ देखो हिस्ट्री ओफ संस्कृत पोएटिक्स जिल्ड १ पृ० १५८

भी उसी स्थान का अधिकारी है, जो स्थान मौलिक माने जानेवाले ग्रन्थों को प्राप्त है। विचारणीय बात यह है कि संस्कृत साहित्य के कतिपय लक्षण ग्रन्थों को छोड़कर प्रायः सभी ग्रन्थों में उदाहरण तो अन्य ग्रन्थों से लिये ही गये हैं इसके अतिरिक्त न्यूनाधिक अंश में परिभाषाएँ भी अन्य ग्रन्थों से ली गई हैं। यह बात भोज के पूर्ववर्ती रुद्रट के काव्यालङ्कार को छोड़ कर भामह, दण्डी, और उद्धट आदि के ग्रन्थों में न्यूनाधिक अंश में दृष्टिगत होती है। किंतु उनके ग्रन्थों में किसी को अधिकांश में और किसी को अत्यधिकांश में मौलिक माना जाना सुख्यतया उन ग्रन्थों के विषय-विवेचन पर ही निर्भर है। ऐसी परिस्थिति में सरस्वती-कण्ठाभरण के विषय में हम यह किस प्रकार कह सकते हैं कि यह संग्रह-ग्रन्थ मात्र है जब कि विषय-विवेचन की मौलिकता इसमें उन ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक है। देखिये—

(१) प्रथम तो अलङ्कारों का वर्गीकरण ही इसमें अपूर्व है। यद्यपि इसके वर्गीकरण को उत्तर-कालीन किसी आचार्य ने स्वीकार नहीं किया है परंतु रुद्रट का वर्गीकरण भी अपूर्व और वैशानिक होने पर उसका अनुसरण उसके उत्तर-कालीन किसी आचार्य ने नहीं किया है। और यहाँ तो प्रश्न केवल मौलिकता का है।

(२) इसमें निरूपित शब्दालङ्कारों की संख्या २४ है। जब कि इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थों में ६ से अधिक किसी में नहीं है।

(३) शब्दालङ्कारों में छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाको, वाक्य, ये अलङ्कार प्राचीनतम अभिपुराण के मतानुसार निरूपित हैं। किंतु अभिपुराण में इनका केवल नामोल्लेख मात्र है। सरस्वतीकण्ठाभरण में इन अलङ्कारों की उपमेदों सहित उदाहरणों द्वारा यदि स्पष्टता न की जाती तो इनके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना भी बड़ा दुःसाध्य था।

(४) अर्थालङ्कारों में भी जैमिनी के ६ प्रमाणों का सबसे प्रथम इसी में अलङ्कारों के रूप में निरूपण किया गया है।

(५) अर्थालङ्कारों में जो अलङ्कार अभिपुराण में निरूपित हैं, उनकी

स्थृत साहित्य का इतिहास

परिभाषाओं में प्रायः अग्निपुराण का अनुसरण है, जबकि दण्डी ने केवल उपमा के कुछ उपभेद ही अग्निपुराण के आधार पर लिखे हैं।

(६) दोष और गुणों का विवेचन भी पूर्व ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें विस्तृत और स्पष्ट है।

(७) वैदर्मी आदि रीतयों को इसमें शब्दालङ्कारों के अंतर्गत रखा है, किन्तु दण्डी ने अनुपास का भी रीति (या मार्ग) में ही समावेश कर दिया है।

इत्यादि बहुत सी विशेषताएँ सरस्वतीकण्ठाभरण में दृष्टिगत होती हैं। सबसे बड़ कर महत्व यह है कि इसमें विषय-विवेचन विस्तार के साथ पर्याप्त उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है, जैसा कि अन्यत्र दुष्प्राप्य है।

शृङ्गारप्रकाश

कुछ समय पहले इस महाग्रन्थ का नाम मात्र शब्दागोचर होता था, जिसका उल्लेख कुमारस्वामि ने किया था^१ एवं कृष्णकवि के मन्दारमरन्दचम्पू में भी इसका उल्लेख मात्र मिलता था^२ और इसकी एक मात्र हस्तलिखित प्रति मद्रास गवर्नर्मेंट की हस्तलिखित पुस्तकों की लाईब्रेरी में उपस्थित थी^३। किन्तु हर्ष का विषय है कि अब इस ग्रन्थ के २२, २३, २४ की संख्या के तीन प्रकाश ला प्रिंटिंग हाउस मद्रास में सुदृढ़ित हो गये हैं। सुदृढ़ित ग्रन्थ की प्रस्तावना द्वारा ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ ३६ प्रकाशों में विभक्त है। प्रस्तावना में दिखाये हुए प्रत्येक प्रकाश के आवान्ति के संक्षिप्त पाठ से विदित होता है, कि इसके प्रथम के १० प्रकाशों में शब्द, शब्द की अर्थ-व्यक्ति, कुछ व्याकरण विषय, वृत्ति, दोष, गुण और अलङ्कारों पर लिखा गया है। ११ वें प्रकाश में रसावियोग और १२ वें में महाकाव्य, नाटकादि के लक्षण आदि निरूपित हैं। और शेष २४ प्रकाशों में रस का विवेचन है। शृङ्गारप्रकाश में एकमात्र शृङ्गार ही रस माना गया है।

^१ देखो प्रतापरुद्रयशोभूषण की रत्नायण टीका पृ० २२१, ११४

^२ देखो मन्दारमरन्दचम्पू ५ पृ० १०७।

^३ मद्रास गवर्नर्मेंट हस्तलिखित लायब्रेरी पृ० १४७।

वीर अद्भुत आदि रसों को वट्यक्षवत् मिथ्या रस-प्रवाद बताया गया हैं,
जैसा कि—

‘शृङ्गारवीरकरुणाद्वृत्तरौद्रहास्य—
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनामः ।

आम्रासिषुर्दशरसान्सुधियो वर्यं तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः ॥

चीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वट्यक्षवदाविभाविति ।

लोके गतानुगतिक्त्ववशाद्वुपेता—
मेतां निर्वर्तयितुमेष परिश्रमो नः ॥

—शृङ्गारप्रकाश ११७,८

ग्रन्थारम्भ के इन पदों में कहा गया है। २२, २३ और २४ संख्या के
मुद्रित प्रकाशों में शृङ्गाररसान्तर्गत अनुराग स्थापन, सम्मोग और विप्रलम्भ का
विवेचन है। यों तो ‘भोज’ नाम के बहुत से राजा हुए हैं, किंतु शृङ्गारप्रकाश
का प्रणेता वही मालवमण्डलाविपति धारानगरीय महाराज भोज है, जिसने सर-
स्वतीकण्ठाभरण का प्रणयन किया है। यह बात इन दोनों ग्रन्थों के लक्षणों, उदा-
हरणों एवं ग्रन्थ निगमन पदों द्वारा निर्विवाद हो जाती है।

भोज का परिचय और समय

श्री भोजराज सुप्रसिद्ध परमारवंशीय धारानगरी के अधीश्वर थे। और मालव
के राजा मुज्जया वाकपतिराज के भ्राता एवं नवसाहस्राङ्कचरित के नायक सिंधुल
के पुत्र और उत्तराधिकारी थे। भोज स्वयं कवि, उदारचेता एवं विद्यारसिक और
विद्वानों के आश्रयदाता थे। कल्हण ने लिखा है—

‘स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ,
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यौ द्वावास्तां कविवान्धवौ, ।

—राजतरङ्गिणी ७।२५९

भोज के समय में लकड़ीहार भी संस्कृत के विद्वान् थे, जैसा कि—

‘भूरिभारभराक्रान्त वाधति स्कन्ध एषते,
न तथा वाधते राजन् यथा वाधति वाधते’।

—सरस्वतीकण्ठाभरण भूमिका पृ० ४

इस श्लोक में कहा गया है। भोज की विद्वित्रियता की अनेक आख्यायिकाएँ भोज-प्रबन्ध में हैं, वे प्रामाणिक न होने पर भी उसकी विद्वित्रियता की ख्याति तो निस्सन्देह प्रमाणित करती हैं।

भोज ने अपने निकट के पूर्ववर्ती राजशेखर की वालरामायण आदि के एवं दशरूपक प्रणेता धनञ्जय और धनिक के पद सरस्वतीकण्ठाभरण^१ और शृङ्गार-प्रकाश में^२ उद्धृत किये हैं, जिनका समय ईसा की दशमशताब्दी है जैसा कि हम दिखा चुके हैं। अतएव भोजराज इनके परवर्ती हैं।

भोज ने अपने ज्योतिष ग्रन्थ राजमृगाङ्क का निर्माण-काल शक ६६४ (१०४२ ई०) लिखा है। अलबेर्लनी कृत इण्डिया में भोज को १०३० ई० में धारानगरी का शासक बताया गया है। भोज का एक दानपत्र विक्रमीयाब्द १०७८ (१०२१ ई०) का है^३। और भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का दानपत्र विक्रमाब्द १११२ (१०५५ ई०) का है। अतएव भोज का समय संभवतः ईसा की ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से १०५० ई० तक है। यद्यपि कल्हण ने राजतरिक्षिणी में भोज को कलशराज के समकालीन बतलाया है। कलश क समय विक्रमाब्द ११२०-११४६ (१०६३-१०८६ ई०) है। इसी आधार पर डाक्टर छूलर ने और मिं स्टीन ने भोज का समय १०६३ ई० तक माना है, पर जब इसके उत्तराधिकारी जयसिंह का दानपत्र १०५५ ई० का है, तो इसके पूर्व ही भोजराज का अवसान सिद्ध होता है। कल्हण ने संभवतः जन-श्रुति के आधार पर भोज को कलशराज का समकालीन लिख दिया है, जो वस्तुतः भ्रमात्मक है।

१ देखो सरस्वतीकण्ठाभरण कान्यमाला संस्करण भूमिका पृ० ३।

२ देखो शृङ्गारप्रकाश परिशिष्ट पृ० १४।

३ देखो इण्डियन एण्टिक्वरी ६४३,५४।

सरस्वतीकण्ठाभरण पर तीन परिच्छेदों की रत्नार्पण टीका रत्नेश्वर ने राजा रामसिंह से प्रेरित होकर लिखी है, जिसका समय १४०० ई० है।

महाकवि क्षेमेन्द्र और उसके कविकण्ठाभरण

तथा

ओचित्यविचारचर्चा

क्षेमेन्द्र के साहित्य-विषयक दो ग्रन्थ ओचित्यविचारचर्चा और कविकण्ठाभरण उपलब्ध और मुद्रित हैं। ओचित्यविचारचर्चा एक प्रकार का आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें क्षेमेन्द्र ने पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलङ्कार, रस, क्रिया, लिङ्ग, वचन, देश और काल आदि के वर्णन में ओचित्य का, अनेक सुप्रसिद्ध महाकवियों के पद्य उदाहरणों में रखकर गम्भीर एवं निष्पक्ष आलोचनात्मक विवेचन किया है, यहाँ तक कि अपने रचित पदों को भी अनौचित्य के उदाहरणों में दिखाया है। इस ग्रन्थ द्वारा क्षेमेन्द्र की आलोचना-शक्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है। ग्रन्थ छोटा होने पर भी महत्वपूर्ण है। कविकण्ठाभरण में केवल ५५ कारिकाएं 'पांच सन्धियों' में विभक्त हैं। इसमें कवि-शिक्षा का संक्षिप्त विषय है। संभवतः यह राजशेखर की काव्य-मीमांसा के आदर्श पर लिखा गया है।

क्षेमेन्द्र का परिचय और समय

क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों से विदित होता है कि यह प्रकाशेन्द्र का पुत्र और सिंधु का पौत्र था। इसका दूसरा नाम व्यासदास भी था। इसके साहित्य शिक्षक सुप्रसिद्ध अभिनवगुप्ताचार्य थे, जैसा कि इसने—

“आचार्यशेखरमणेविद्याविवृतिकारिणः,

श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिष्वेः ।”

—भारतमञ्जरी पृ० ८५०

१ देखो श्री काले की साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ ९७।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

इस पद्म में स्वयं कहा है। क्षेमेन्द्र ने उपर्युक्त दो ग्रन्थों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रणीत किये हैं जिनमें शिशुवंश महाकाव्य, दशावतार चरित, बृहत्कथामंजरी, भारतमंजरी, रामायण-मंजरी आदि बहुत ग्रन्थों के सिवा अनेक स्तोत्र, नाटक, कोष, छन्द, नीति आदि के ग्रन्थ हैं। क्षेमेन्द्र के बहुत से ग्रन्थ काव्यमाला सीरीज (बंबई) में सुदृश भी हो गये हैं अतएव क्षेमेन्द्र का भी साहित्य-क्षेत्र में उल्लेखनीय स्थान है।

क्षेमेन्द्र काश्मीर के अनन्तराज का सभापण्डित था, यह चात इसके ग्रन्थों के—

‘राज्ये श्रीमद्नन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः।’

—कविकाण्ठाभरण

‘भूभृद्धर्तुर्भुवनजग्यिनोऽनन्तराज्यस्य राज्ये।’

—सुद्रुच्छतिलक

‘तस्य श्रीमद्नन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।’

—आचित्यविचार चर्चा

इत्यादि वाक्यों में कही गई है। अनन्तराज का राज्यकाल सन् १०२८ से १०८० ई० तक है^१। अनन्तराज मालवाधीश भोज के समकालीन है। राजतरङ्गिणी में कहा है—

‘स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ,
सूरी तस्मिन् द्वाणे तुल्यौ द्वावास्तां कविवान्धवौ।’

—राजतरङ्गिणी ७। २५६

यहाँ ‘स च’ प्रसङ्गानुसार अनन्तराज के लिये कहा गया है। अतः क्षेमेन्द्र का समय भी लगभग सन् १०५० ई० का समझना चाहिये। इसकी पुष्टि आचार्य अभिनवगुप्त के साथ इसके गुरु-शिष्य सम्बन्ध द्वारा भी होती है।

^१ देखिये काव्यमाला प्रथम गुच्छक पृ० ३४-३५ की पाद टिप्पणी।

आचार्य मम्मट और उसका काव्यप्रकाश

आचार्य मम्मट और उसके काव्यप्रकाश को साहित्य-संसार में जैसी व्यापक प्रतिष्ठा प्राप्त है, वैसी अद्यापि किसी साहित्याचार्य और साहित्य-ग्रन्थ को उपलब्ध नहीं हो सकी है। इस बात में किसी भी साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् का मत-मेद न होगा कि काव्यप्रकाश में जिस शैली से थोड़े शब्दों में काव्य के जटिल विषयों का गंभीर और मार्मिक विवेचन किया गया है, वह वस्तुतः अभूत-पूर्व है। काव्यप्रकाश पर प्रत्येक प्रान्त के विद्वानों द्वारा अनेकों टीकाएँ लिखी गई हैं जो रुद्यक और विश्वनाथ जैसे लघु-प्रतिष्ठ साहित्याचार्यों द्वारा ही नहीं, किन्तु नैथ्यायिक जगदीश, नरसिंह ठक्कुर, वैश्याकरण नागोजी भट्ट, मीमांसक कमलाकर भट्ट, वैष्णव बलदेवभूषण और तांत्रिक गोकुलनाथ जैसे विभिन्न शास्त्रों के विद्वानों द्वारा भी लिखी गई हैं। इसका कारण केवल यही नहीं कि वे विद्वान् साहित्य से रुचि रखने वाले थे, किन्तु यह भी है कि उन्होंने काव्यप्रकाश के टीकाकार के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने में अपने पाण्डित्य का अत्यन्त गौरव भी समझा है। इसके द्वारा आचार्य मम्मट का सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक उत्कट विद्वान् माना जाना और लोक-प्रिय होना निर्विवाद सिद्ध होता है।

यद्यपि काव्यप्रकाश के प्रथम भामह आदि द्वारा साहित्य के बहुत से महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये थे, पर काव्यप्रकाश के प्रकाश के सम्मुख वे सभी ग्रन्थ अपने स्वतंत्र प्रकाश की विशेषता प्रकट करने में समर्थ न हो सके। उन सभी की ठीक वही अवस्था प्रतीत होने लगी, जिस प्रकार तिमिराच्छन्न गगन-मण्डल में चमकूत होनेवाले शुक्रादि अन्य नक्षत्रों की चन्द्रोदय के प्रकाश होने पर हो जाती है।

काव्यप्रकाश का विषय-विवरण

काव्यप्रकाश में १४२ कारिकाएँ १० उच्चासों में विभक्त हैं। और ६०३ पद्य उदाहरणों में लिखे गये हैं। जिनका विषय-क्रम इस प्रकार है—

(१) प्रथम उच्चास में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य का सामान्य लक्षण

संस्कृत साहित्य का इतिहास

और उसके तान भेद-उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् ध्वनि, गुणीभूत व्यञ्जय और अलङ्कार के सामान्य लक्षण और उदाहरण हैं।

(२) द्वितीय में शब्द के वाचक, लक्ष्य और व्यञ्जय इन तीन अर्थों का और चौथे तात्पर्यार्थ का समीकरण है। उसके बाद लक्षण और व्यञ्जना का निरूपण है।

(३) तृतीय में पूर्वोक्त वाच्य आदि तीनों अर्थों की व्यञ्जकता का निर्दर्शन है।

(४) चतुर्थ में ध्वनि के भेद और रसों एवं स्थायी भावों, विभावों तथा व्यभिचारी भावों की स्पष्टता और ध्वनि-भेद का निरूपण है।

(५) पञ्चम में काव्य के द्वितीय भेद गुणीभूत व्यञ्जय का विषय और व्यञ्जना का प्रतिपादन है और महिम भट्ट के ध्वनि-विषयक मत का खण्डन है।

(६) छठे में काव्य के तीसरे चित्र अर्थात् शब्द के भेद और अर्थ के अलङ्कारों का विवाजन है।

(७) सप्तम में दोष प्रकरण है।

(८) अष्टम में गुण और अलङ्कार का स्वरूप और गुण एवं रीति के विवेचन में अन्य आचार्यों की आलोचना है।

(९) नवम में शब्दालङ्कार के वक्रोक्ति आदि द विशेष भेद निरूपत हैं।

(१०) दशम में उपमा आदि ६२ अलङ्कारों के विशेष भेद जिनमें अत-दगुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और समये पांच अलङ्कार संभवतः मम्मट द्वारा नवाविष्कृत हैं—मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने नहीं लिखे हैं।^१

^१ आगे द्वितीय भाग में दी जानेवाली अलङ्कार-विवरण-तालिका में मम्मट-निरूपित शब्द और अर्थ के सब अलङ्कारों की संख्या ६९ है। किन्तु उसमें श्लेष की एक ही संख्या गणना की गई है किन्तु यहां श्लेष की शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों में गणना है, अतः यहां ७० को संख्या होती है। और 'प्रदीप' आदि में काव्यग्र० के अर्थालङ्कारों की संख्या ६१ बतलाई गई है, पर वहां माला-दीपक की गणना दीपक ही में की गई है। 'संकेत' आदि टीकाओं

मम्मट के पूर्ववर्ती भामह, दण्डी, उद्धट और वामन आदि सभी ने अलङ्कार, गुण-रीति विषयक न्यूनाधिक निरूपण किया है और रुद्रट एवं भोज ने रस विषय का भी, किन्तु इनमें किसी ने भी इस रहस्य पर कुछ प्रकाश नहीं डाला कि काव्य के रस, अलङ्कार, गुण और रीति आदि जो पदार्थ हैं उनका काव्य में क्या-क्या स्थान है अर्थात् काव्य में इनको किस-किस श्रेणी का महत्त्व है। यद्यपि वामन ने रीतिं को काव्य की आत्मा बतलाकर प्रधानता दी थी किन्तु आचार्य मम्मट ने रीति को इस अधिकार के आयोग्य बतलाकर वामन के इस मत का बहुत ही मार्मिक खण्डन किया है। ध्वनिकारों ने काव्य में ध्वनि का साम्राज्य स्थापित करके भी अन्य काव्य-विषयों का स्थान स्पष्टतया निर्दिष्ट नहीं किया था, किन्तु मम्मटाचार्य ने ही सर्वप्रथम ध्वनि, गुणीभूतव्यञ्जय और अलङ्कारों को, उत्तम, मध्य और अधम काव्य की संज्ञा निर्दिष्ट करके इस जटिल समस्या की पूर्ति की है। यही नहीं, ध्वनिकारों ने जिस व्यञ्जयार्थ और व्यञ्जना के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त का विशाल भवन खड़ा किया था, उसपर महिम भट्ट ने तीव्र प्रहार करके उसके अस्तित्व को ही समूल नष्ट करने की जो चेष्टा की थी। आचार्य मम्मट ने अपनी मार्मिक विवेचना के शिल्पचारुर्य द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त के उस भवन को परिष्कृत करके उसे अत्यन्ताधिक चमक्कृत और चित्ताकर्षक भी बना दिया। यह आचार्य मम्मट द्वारा की गई मार्मिक विवेचना का ही फल है कि मम्मट के परवर्ती हेमचन्द्र, विश्वनाथ और पण्डिराज जगन्नाथ जैसे सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों को ध्वनि-सिद्धान्त पर आक्षेप करने का साहस न हो सका।

मम्मट के संसुख उसके पूर्ववर्ती साहित्याचार्यों के ग्रन्थ थे, उन सभी को उसने सन्मान-दृष्टि से देखा है, किंतु इसने किसी का भी दासवत् अनुसरण नहीं किया। मम्मट को जिसका जो मत उचित प्रतीत हुआ उसे अपने प्रतिपाद्य विषय में उसने उद्धृत किया है और जो मत प्रतिकूल प्रतीत हुआ उसकी आलोचना भी की है—पर कूर शब्दों में नहीं, देखिये—

में काव्यप्र० के शब्दालङ्कारों की संख्या ६ बतलाई है। वहाँ छेकानुप्राप्त और लायानुप्राप्त की अन्तर्गत गणना की गई है किन्तु यहाँ पृथक् २ है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

(१) प्रथम भामह को ही लोंजिये । भामह के—

‘सैषा सर्वैव वक्त्रोक्तिरनयाथार्थो विभाव्यते’ । ०० (काव्यालं० २।८५)

इस सिद्धान्त को मम्मट ने स्वीकार किया है ।^१ और भामह की कुछ कारिकाओं का अंश भी लिया है, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा । किन्तु भामह के— ‘अव्यं नास्तिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते’ (का० लं० २।२३) इस मत का खण्डन भी किया है—

‘आलहादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।

अव्यत्वंपुनरोजप्रसादयोरपि ।

काव्यप्र० उल्ला० ८ पृ० ५७४

(२) दण्डी और वामनादि ने शब्द के १० गुण बताये हैं, किन्तु मम्मट ने—

‘माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्देश’—

का० प्र० ३।०८ पृ० ५७३

इस कारिका में केवल तीन गुण ही स्वीकार किये हैं और शेष सात गुणों में किसी को अपने स्वकृत उक्त तीन गुणों के अन्तर्गत, किसी को दोष का अभाव और किसी को रस-विशेष में दोष रूप प्रतिपादन करके युक्तिपूर्वक अस्वीकार किया है । इसी प्रकार वामनादि ने— और श्री भरतमुनि ने भी अर्थ के १० गुण बताए हैं । इस मत को भी मम्मट ने विस्तृत विवेचन के उपरांत ‘तेनार्थगुणावाच्या’ (का० प्र० उल्ला० ८।७३) इस कारिका में अस्वीकार कर दिया है ।

(३) रुद्रट के बहुत से पद्य काव्यप्रकाश के उदाहरणों में उद्धृत हैं । और श्लेष प्रकरण में मम्मट ने अपने मत के समर्थन में रुद्रट के—

“तथाहुकं रुद्रटेन सुटमर्थालङ्कारा……..”

काव्यालं० ४।३२

१ देखो काव्यप्र० विशेषालङ्कार की वृत्ति उल्ला० १० वामनाचार्य संस्क० पृ० ९१० ।

इस मत को श्लेष प्रकरण में उद्धृत किया है। किन्तु रुद्रट ने व्यधिकरण और एक देश में समुच्चय अलङ्कार दिखाया है (काव्यालं० ७।१६,२६) उसका मम्मट ने खण्डन किया है—

‘व्यधिकरणे इति एकदेशे इति च न वाच्यम्।’

काव्यप्र० समुच्चय प्रकरण और रुद्रट के स्वीकृत हेतु अलङ्कार का भी मम्मट ने (काव्यप्र० उ० १० पृ० ८५६) खण्डन किया है।

(४) वामन के—

‘काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।’

काव्यालं० सू० ३।११।२

इस मत का मम्मट ने (काव्यप्र० उ० ८) खण्डन किया है।

(५) उद्धट की कुछ कारिकाओं के अंश काव्यप्रकाश में लिये गये हैं। किन्तु उद्धट के श्लेष विषयक—‘अलङ्कारान्तरगतो प्रतिभां जनयत्पदैः।’ (काव्यालं० सारसं०, श्लेष प्रकरण) इस मत का मम्मट ने—न चायमुपमा-प्रतिभोत्पत्तिहेतुश्लेषः (काव्यप्र० श्लेष प्रकरण) खण्डन किया है। किर गुण और अलङ्कार के भेद का प्रतिपादन करते हुए भी (काव्यप्र० उत्तर ८) मम्मट ने उद्धट के मत का खण्डन किया है।

(६) ध्वनिकार एवं आनन्दवर्धनाचार्य मम्मट के अत्यन्त श्रद्धेय ये अतएव उनके मतों को मम्मट ने अपने प्रतिपाद्य विषयों के समर्थन में अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है। किन्तु उनकी आलोचना करने में भी मम्मट ने सङ्कोच नहीं किया है। ध्वन्यालोक में रसों के विराधाविरोध प्रकरण में—

‘विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेववा।

तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदाङ्गानां न दुष्यति’॥

—ध्वन्या० ३।३०

यह कारिका है। इसकी वृत्ति में कहा गया है—

‘शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः………न दुष्यति। यावद्विनेयानुन्म-

खीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति-
सत्यं मनोरमा रामा सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥.
इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः ।

आचार्य ममट ने रस के इसी विरोधाविरुद्ध-प्रकरण में—‘सत्यं मनोरमा’ इत्यादि पद को उद्धत करके इसकी आलोचना में कहा है—

‘इत्यत्राद्यमद्वे वाव्यत्वेनैवोक्तम् ।……शान्तमेव पुष्टणाति ।……
नतु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः ।……नापि काव्यशोभाकरणम् ।
रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथा भावात्’ । —काव्यग्र० उ-७ पृ० ५४४
अर्थात् ‘सत्यं मनोरमा रामा’…… इस श्लोकके पूर्वार्द्ध में शृङ्गार रस
के और उत्तरार्द्ध में शान्त रस, के विभाव होने के कारण शृङ्गार और शान्त
रस परस्पर विरोधी रसों का समावेश है । इसके विरोध के परिहार में ध्वनिकार
का कहना है कि यद्यपि इसमें शृङ्गार रस के विभाव हैं पर एक तो काव्य
मधुरता से उपदेश दिया करता है और दूसरे यहाँ काव्य-शोभा के लिए ऐसा
वर्णन किया गया है इसलिये यहाँ दोष नहीं । पर ममट इसके विरुद्ध यह
कहते हैं कि यह बात नहीं, यहाँ पूर्वार्द्ध में भी शृङ्गार के विभाव हैं, वे बाधित^१
रूप से कहे गये हैं—शृङ्गार की निवृत्ति के लिये ही ऐसा वर्णन किया गया
है न कि काव्य-शोभा के लिये । अतः इसके द्वारा शान्त रस की पुष्टि ही होती
है, काव्य-शोभा तो यहाँ अनुप्रास और रसान्तर की स्थिति होने से ही हो
जाती है ।

इनके सिवा काव्यप्रकाश के सप्तम उक्त्वास में तो दोषों के उदाहरणों में

१ ‘बाधित का अर्थ यह है कि किसी रस के अङ्गों के विद्यमान रहने पर
भी उसके विरोधी रस के अङ्गों के प्रबल होने के कारण उस रस की अभिव्यक्ति
का रुक जाना । यहाँ शान्तरस के विभाव प्रबल होने से शृङ्गार रस की अभि-
व्यक्ति रुक गई है ।

कालिदास आदि प्रायः अनेक सुप्रसिद्ध महाकवियों की कृतियों में दोष प्रदर्शित किये गये हैं। अतएव स्पष्ट है कि ममटचार्य एक अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न उत्कट विद्वान् होने के सिवा स्वतन्त्र विचार के समालोचक भी थे। इसी से अल्प समय के पश्चात् ही—लगभग एक शताब्दी के बाद ही इनकी वाग्देवी-सरस्वती के अवतार के रूप में प्रसिद्धि हो गई थी, जैसा कि अमरुकशतक के टीकाकार—जिनका समय लगभग १२२५ ई० है, धारेश्वर अर्जुनदेव के—‘तदावाग्देवतादेश इति व्यवसितस्य’ (अमरुक पृ० ५५) इस वाक्य से विदित होता है। ममट का एक ग्रन्थ शब्दव्यापारविचार भी निर्णय-सागर में मुद्रित हुआ है। उसमें शब्द-वृत्ति-लक्षण, व्यञ्जनादि पर विस्तृत विवेचन है।

काव्यप्रकाश का लेखक

काव्यप्रकाश में कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन अंश हैं। इनमें उदाहरण तो प्राचीन प्रचलित परंपरा के अनुसार अन्य ग्रन्थों से उद्भूत ही हैं। किन्तु काव्यप्रकाश की साहित्यकामुदी नामक टीका के लेखक विद्याभूषण तथा महेश्वर आदि कुछ टीकाकारों ने कारिका और वृत्ति के लेखक भिन्न-भिन्न बताये हैं, इस आधार पर कि नाम्य-शास्त्र की—

“शृङ्गारहास्य करुणा……” नाट्यशा० ६।१५

“रतिर्हासश्च शोकश्च……” नाट्यशा० ६।१७

‘निर्वेदग्लानिशङ्काख्या’ इत्यादि, चार कारिकाएँ

(नाट्यशास्त्र ६।१८-२१)

ये कारिकाएँ काव्यप्रकाश (उल्लास ४।२६, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४) में अविकल मिलती हैं। अतएव उपर्युक्त टीकाकारों ने काव्यप्रकाश की कारिकाओं को श्री भरत मुनि प्रणीत और वृत्ति को ममट प्रणीत समझ लिया है। किंतु यह भ्रममात्र है। क्योंकि प्रथम तो काव्यप्रकाश की १४२ कारिकाओं में नाम्य-शास्त्र की केवल ये ६ कारिकाएँ हैं—जिनमें आठ रस, आठ स्थायी भाव और ३३ सञ्चारी भावों का नामोल्लेख मात्र है, इन सभी का नाम और संख्या सूचित करना तो ममट को भी आवश्यक ही था, उनके लिये अन्य नवीन कारिकाएँ

संस्कृत साहित्य का इतिहास

निर्माण न करके नाव्यशास्त्र की उपर्युक्त कारिकाओं का ममट द्वारा लिया जाना कोई आश्चर्य नहीं, जब कि ममट के पूर्ववर्ती भामह, दरडी और उद्धट जैसे अन्य सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों द्वारा भी अपने पूर्ववर्ती अन्य ग्रन्थकारों की कारिकाएँ ली गई हैं, जैसा कि पहिले स्पष्ट किया है। ममट ने भी उसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए केवल नाव्यशास्त्र की ही नहीं, किन्तु अन्य ग्रन्थों की भी लक्षणात्मक कारिकाएँ ली हैं। देखिये काव्यप्रकाश की—

‘उपकुर्वन्ति तं सन्तं येङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवदलङ्गारास्तेनुप्रासोपमादयः ॥

ये रसस्याङ्गिनोधर्मा’ । काव्यप्रकाश ३० दा६७

ये कारिकाएँ, ध्वन्यालोक की—

‘तर्थमवलम्बन्ते येङ्गिनं ते गुणास्मृताः ।

अङ्गाश्रितास्त्वलङ्गारा मन्तव्या कटकादिवत्’ ॥

—ध्यन्या० २१७ ।

इस कारिका से अधिकांश में मिलती हैं। और काव्यप्रकाश की—

‘निषेधो वक्तुभिष्ट्य यो विशेषाभिधित्सया ।

वद्यमाणोक्तविषयः तत्राक्षेपो द्विधा मतः’ ॥

—काव्यप्रकाश १०११०६

यह कारिका भामह की—

‘प्रतिषेधइवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया’ । (काव्यालङ्गार २१६८)

‘वद्यमाणोक्तविषयः तत्राक्षेपो द्विधा मतः’ । (काव्यालङ्गार २१६७)

इस कारिका से अद्वरशः मिलती है। केवल प्रथम पाद में नाममात्र का परिवर्तन है। और काव्यप्रकाश की—

(१) ‘क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना’ ।

काव्यप्रकाश १०११०७ पृष्ठ ७६८

(२) ‘अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः’ ।

काव्यप्रकाश १०११७ पृष्ठ ७४४

(३) 'प्रत्यक्षाइव यद्वावाः क्रियन्ते भूतभाविनः'।

काव्यप्रकाश १०।१।४ पृष्ठ ८२२

ये कारिकाएँ उद्घट की—

(१) 'क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना'।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह २।३।२

(२) 'अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत्।

उपमानोपमेयत्वं'। (काव्या० सार सं० ५।६।१)

(३) 'प्रत्यक्षाइव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः'।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह ६।७।३

इन कारिकाओं से लो गई हैं। इनमें जो नाममात्र परिवर्तन किया गया है, वह मम्मट की विद्वत्ता का परिचायक है। जैसे उद्घट की द्वितीय संख्या की कारिका में—'यत्र उपमानोपमेयत्वं कल्पयेत्' इतने बड़े वाक्य के अभिप्राय को मम्मट ने काव्यप्रकाश की कारिका के—'उपमापरिकल्पकः' इस छोटे वाक्य में अधिक सष्टि कर दिया है। इसीप्रकार उद्घट की अन्य कारिकाओं में भी मम्मट ने बहुत उपयुक्त परिवर्तन किया है।

वामन के—

'कर्णावतं सश्वरणकुण्डलशिरः शेखरेषु कर्णादिनिर्दशः सन्निधेः'

काव्यालंकार सूत्र २।२।१।४

इस सूत्र के आधार पर काव्यप्रकाश की—

'कर्णावतं सादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितः । सन्निधानादिबोधार्थः'।

काव्यप्रकाश ७।५।८

यह कारिका है।

इसके सिवा काव्यप्रकाश की कारिकाओं को भरतमुनि-प्रणीत मानने के विरुद्ध एक प्रबल प्रमाण और भी है। काव्यप्रकाश में—'कारणान्यथकार्याणि' (काव्यप्रकाश उ० ४।२७,२८) इत्यादि कारिकाओं की वृत्ति में—तदुक्तं भरतेन—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिं' यह उल्लेख है। यदि कारिकाएँ भरतमुनि प्रणीत होतीं तो किर भरत की कारिका के समर्थन में भरत के

नामोल्लेख के साथ भरत के इस सूत्र को किस प्रकार उद्धृत किया जा सकता था । अतएव स्पष्ट है कि काव्यप्रकाश में कुछ कारिकाएँ और कुछ कारिकाओं के अंश अन्य ग्रन्थों से भी लिये गये हैं, जिनमें भरतमुनि के नान्यशास्त्र की भी पूर्वोक्त छः कारिकाएँ ली गई हैं ।

अच्छा, इस विषय में एक आपत्ति और भी है, काव्यप्रकाश के प्रारंभ में ग्रन्थारंभ की प्रथम कारिका के अदि में—

'ग्रन्थारम्भे विघ्नविद्याताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति'

इस वृत्ति के 'ग्रन्थकृत्' और 'परामृशति' में अन्य पुरुष के प्रयोग पर यह कल्पना की जाती है कि यदि कारिकाकार मम्मट ही होता तो अपने लिये अन्य पुरुष का प्रयोग न करके उत्तम पुरुष का प्रयोग करता । किन्तु यह कल्पना भी निर्मूल है । क्योंकि संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थकर्ताओं द्वारा भी अपने लिये अन्य पुरुष का प्रयोग किया जाना दृष्टिगत होता है—

'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वा ब्रवीन्मुनीन्' ।

—याम्यवल्क्य स्मृति १।२

इसमें स्वयं महर्षि याम्यवल्क्य जी ने अपने लिये अन्य पुरुष का प्रयोग किया है । वौधायन स्मृति में—‘स हस्मादह वौधायनः’ । ऐसा ही प्रयोग है । इन वाक्यों का अपरार्का टीका में यही तात्पर्य स्पष्ट किया गया है^१ । और मनुस्मृति के—‘स तै पृष्ठस्तथासम्यगमितौजा महात्मभिः’ (मनु १।४) इसकी टीका में मेधातिथि ने—‘तदा च आद्यं प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वस्तं परोपदेशेन ब्रुवते’

यह लिखा है, और कल्लूक भट्ट ने—

**'प्रायेणाचार्याणामियं शैलीं यत्स्वाभिप्रायमपि
परोपदेशमिव वर्णयन्ति'**

यह स्पष्ट किया है । किर एक और भी महत्वपूर्ण अन्तरङ्ग प्रमाण कारिका और वृत्ति के एक ही लेखक होने की पुष्टि में मिलता है । काव्यप्रकाश की ‘सांगमेतत्

^१ देखिये, याम्यवल्क्य स्मृति अपरार्का टीका पृ० ४ ।

निरंगन्तु शुद्धं माला तु पूर्ववत्' (उ० १० प० ७२६) इस कारिका में माला-रूपक को पूर्ववत् अर्थात् पूर्वोक्त मालोपमा के समान कहा गया है । किन्तु मूल कारिकाओं में कहीं भी मालोपमा का उल्लेख नहीं है—किन्तु इसके पहले केवल वृत्ति में 'मालोपमा' का निर्देश है । अतः स्पष्ट है कि यदि वृत्ति और कारिकाओं का लेखक एक न होता तो वृत्ति में कहे हुए विषय का कारिकाओं में उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता था ? अतएव निस्सन्देह वृत्ति और कारिका दोनों का लेखक एक ही है । किन्तु काव्यप्रकाश की समाप्ति तक संपूर्ण कृति केवल मम्मट कृत नहीं प्रतीत होती है । इस विषय में काव्यप्रकाश के आन्तिम—

'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽयभिन्नरूपः प्रतिभासते यत ।

नतद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मितां संघटनैव हेतुः' ॥

इस पद्य का टीकाकारों ने एक अर्थे तो इस ग्रन्थ का महत्व-सूचक किया है । और दूसरा अर्थ—श्लेषार्थ किया है, जिसमें काव्यप्रकाश के प्रणेता दो—भिन्न-भिन्न बताये हैं । उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन विक्रमीशाब्द १२१६ (११५६ई०) का माणिक्यचन्द्र मम्मट के निकटवर्ती टीकाकार है, उसने लिखा है—

'अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारधोऽपरेण च समर्थितः

इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशादखण्डायते' ।

और सोमेश्वर ने आपनी संकेत टीका में लिखा भी है—

'ग्रन्थो ग्रन्थकृतानेन कथमात्यसमाप्तवादपरेण च पूरिताशेषत्वात्' ।
इसी प्रकार अन्य टीकाओं में भी उल्लेख है, जो संभवतः इन्हीं प्राचीन टीकाओं के आधार पर है । इसकी पुष्टि अमरुकशतक के टीकाकार अर्जुनदेव के—'काव्य-प्रकाशकारौ प्रायेण दोष दृष्टी' (अमर० प० ५५) इस वाक्य में किये गये द्विवचन के प्रयोग द्वारा भी होती है । अर्जुनदेव, माणिक्यचन्द्र के लगभग ५० वर्ष उत्तरकालीन है^१ । इसके सिवा काव्यप्रकाश की एक हस्तलिखित प्रति का

^१ अर्जुनदेव धारेश्वर भोज का १३वाँ अधिकारी था । देखो इसका शिलालेख विक्रमीशाब्द १२७२ (१२१६ई०) का ओरियन्टल सोसाइटी जर्नल भाग ७।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

उल्लेख प्रो० भंडारकर ने किया है^१ जिस पर विक्रमाब्द १२१५ (११५८ई०) है। उसके अन्त में—कृति राजानक मम्मटालकयोः लिखा हुआ है। राजानक आनन्द ने काव्यप्रकाश की निर्दर्शन नामक एक टीका सन् ११६५ ई० में लिखी है जिसमें लिखा है—

‘यदुक्तं—‘कृता श्रीमम्मटाचार्यवर्यः परिकरावधिः।

प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायालक (अथवा-विधायाल्लट) सुरिणा’

इस प्रचलित पद्य में दशमोङ्ग्रास में परिकर अलङ्कार तक मम्मट द्वारा और शेष अल्पांश अलक (या अल्लट) द्वारा प्रणीत बताया गया है। किन्तु इसके विरुद्ध पूर्वोक्त अर्जुनदेव प्रणीत अमरुकशतक की टीका में (प्र० २९) अमरुक-शतक के—‘प्रसादे वर्तस्व प्रकट्यसुदं...’ काव्यप्रकाश में उद्धृत (७।३२७-प्र० ५३१ इस पद्य पर—यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां)। यह उल्लेख है, इसके द्वारा परिकर के आगे का अल्पांश ही नहीं किन्तु सत्प्रमोङ्ग्रास में भी अलक का सम्बन्ध स्थापित होता है। किन्तु यह भी संभव है किसी प्रति के अन्त में ‘मम्मटालकाभ्यां’ ऐसा उल्लेख देखकर उसी के आधार पर अर्जुनदेव ने संपूर्ण काव्यप्रकाश को मम्मट और अलक दोनों द्वारा प्रणीत समझ लिया हो। अस्तु, इस विषय में किसी निश्चय पर पहुँचने के लिये कोई साधन नहीं।

अलक या अल्लट राजानक जयानक का पुत्र बताया जाता है। यदि पीटरसन का मत ठीक हो तो रत्नाकर के हरविजय काव्य पर विषमपदद्योतिका टीका का लेखक यही अल्लट है। महाकवि रत्नाकर अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (सन् ८५५-८८४) में था जैसा कि राजरत्नज्ञणी (५।३६) से विदित होता है^२।

अच्छा, इस विषय में एक प्रश्न और भी है। काव्यप्रकाश पर एक संकेत टीका स्थ्यक (या रुचक) कृत है। उसकी हस्तलिखित प्रति के प्रथमोङ्ग्रास

^१ देखो भंडारकर रिपोर्ट on Four for 1904 पृष्ठ १४।

^२ देखो हरविजय महाकाव्य पृष्ठ १, २ की पाद-टिप्पणी।

और दशमोङ्गास के अन्त में—‘इति श्रीराजानक मम्मटलकरुचकानाम्’ ऐसा उल्लेख है^१। इस आधार पर पीटरसन और स्टीन काव्यप्रकाश के प्रणयन में मम्मट और अलक के सिवा रुद्यक या ‘रुचक’ का संबंध भी कल्पना करते हैं। किन्तु यह कल्पना नितान्त निराधार है। प्रथम तो मम्मट और रुद्यक एक-कालीन ही नहीं, फिर और भी बहुत से कारण इस कल्पना के विरुद्ध हैं, जो आगे रुद्यक के निवन्ध में प्रदर्शित किये जायेंगे। यहाँ इस विषय में यही कहना पर्याप्त है कि इस उल्लेख द्वारा रुद्यक केवल संकेत टीका का लेखक ही निश्चित किया जा सकता है।

मम्मट का परिचय और समय

‘राजानक उपाधि द्वारा ही स्पष्ट है कि मम्मट काश्मीरी था। काश्मीरी विद्वानों को उच्च सन्मान सूचक वह उपाधि काश्मीर की एक महारानी प्रदत्त है^२। भीमसेनकृत सुधासागर टीका के उल्लेख के आधार पर पीटरसन मम्मट को महाभाष्य पर प्रदीप के लेखक कैयट का भाई और ऋकूप्रतिभाष्य के भाष्यकार ऊट का बड़ा भाई और जैयट का पुत्र बताता है^३। किन्तु उस भाष्य में ऊट ने अपने पिता का नाम बज्रट बतलाया है। और हौल एवं वेवर मम्मट को नैषधकार श्रीहर्ष का मामा कल्पना करते हैं। किन्तु नैषधीयचरित के लेखक श्रीहर्ष कनौजाधिपति श्री जयचन्द्र के आत्रित थे, जिसका समय ईसा की १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है^४। और मम्मट का समय लगभग ईसा की

१ देखो पीटरसन की द्वितीय रिपोर्ट पृष्ठ १४

२ राजतरंगिणी में उल्लेख है—

‘राज्ञो कृतज्ञभावेन साऽपि मन्त्रिसभान्तरे,

तमाजुहाव निर्दोहं स्वयं राजानकाख्यया।’ ६।२।१

३ देखो पीटरसन की काश्मीर प्रथम रिपोर्ट पृष्ठ १४

४ देखो जयचन्द्र का दानपत्र इण्डियन एण्टिक्वरी १५।१।१।१२ और नैषधीयचरित प्रस्तावना, निर्णयसागर प्रेस सन् १८९४ पृष्ठ १०-१५

संस्कृत साहित्य का इतिहास

११ वीं शताब्दी का मध्य है। अतः मम्मट और श्रीहर्ष के समकालीन न होने के कारण यह कल्पना भी निराधार है।

आचार्य मम्मट की उत्तर सीमा हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन द्वारा बहुत सरलता से निश्चित हो जाती है। हेमचन्द्र मम्मट के उत्तरकालीन लेखकों में सबसे अधिक निकटवर्ती है। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में काव्यप्रकाश के अनेक लंबे लंबे अवतरण अनेक स्थलों पर लिये हैं। हेमचन्द्र का जन्मकाल सन् १०८८ ई० है^१ यद्यपि काव्यप्रकाश पर माणिक्यचन्द्र की संकेत टीका विक्रमाब्द १२१६ (सन् ११६० ई०) की है और रुद्धक की संकेत टीका माणिक्यचन्द्र से भी प्राचीन है^२। किंतु जब हेमचन्द्र का समय निश्चित है तो निश्चित रूप में मम्मट की अंतिम सीमा ईसा की ११वीं शताब्दी के बाद कदापि नहीं हो सकती, उसके पहले ही मानी जा सकती है। और इसकी पूर्व सीमा श्वन्यालोक पर लोचन के लेखक श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य के समय पर निर्भर है, जिनका समय लगभग १०५० ई० तक है। इसकी पुष्टि काव्यप्रकाश में उद्धृत नवसाहस्राङ्करित काव्य के कई पद्मों से होती है। नवसाहस्राङ्क का नायक धारेश्वर भोजराज का पिता सिन्धुराज (या सिन्धुल) है। और मम्मट ने भोज के प्रशंसा त्मक वर्णन का—

‘यद्गिद्घवनेषु भोजनृपतेस्तत्यागलीलायितं’।

काव्यप्रकाश १०।५०५

यह पद्म भी काव्यप्रकाश में उद्धृत किया है। भोज का समय १०५५ ई० तक है। अतः आचार्य मम्मट का समय १०२५ और १०७५ ई० के मध्य में हो सकता है।

काव्यप्रकाश पर जितनी टीकाएँ हैं, उतनी अन्य किसी साहित्य-ग्रन्थ पर ही नहीं, संस्कृत के किसी भी ग्रन्थ पर शायद ही हों। इनमें, माणिक्यचन्द्र,

^१ देखिए इस ग्रन्थ में आगे हेमचन्द्राचार्य विषयक निबन्ध।

^२ देखिए इसी ग्रन्थ में आगे रुद्धक निबन्ध।

सोमेश्वर, सरस्वतीतीर्थ, और जयन्त की प्राचीन होने के कारण और गोविन्द ठक्कुर का प्रदीप विद्वत्तापूर्ण होने के कारण उल्लेखनीय हैं। श्री वामनाचार्य भलकीकर की बाल-बोधिनी^१ जिसमें प्रायः पूर्व-प्रणीत अनेक टीकाओं के अवतरणों का भी उल्लेख है, विशेषतया हमारे ऐसे स्थूल मतिवालों के लिये अत्यन्त उपयोगी होने के कारण विशेष उल्लेखनीय है।

रुद्यक (या रुचक) और उसका अलङ्कारसर्वस्व अथवा

अलङ्कारसूत्र -

अलङ्कारसर्वस्व (या सूत्र) सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। इसमें ८६ सूत्र हैं, जिसमें ६ शब्दालङ्कार और ७५ अर्थालङ्कार (७ रसवदादि तथा संकर संस्थितों को मिलाकर) हैं। परिणाम, उल्लेख, विचित्र और विकल्प ये ४ अलङ्कार संभवतः इसी के द्वारा सबसे प्रथम आविष्कृत हैं। 'विकल्प' के विषय में तो स्वयं रुद्यक ने कहा है—‘पूर्वेरकृतविवेकोऽत्रदर्शीतइत्यवगन्तव्यम्’। और 'विचित्र' के विषय में विमर्शनीकार जयरथ ने कहा है—‘एतद्वि ग्रन्थकृतैवाभिनवत्वेनोक्तम्’।

इसमें अलङ्कारों के लक्षण सूत्रों में हैं और वृत्ति में विस्तृत विवेचन और उदाहरण देकर स्पष्टता की गई है। यह ग्रन्थ के गल अलङ्कार-विषयक है। रुद्यक ने ग्रन्थारंभ में पूर्ववर्ती साहित्याचार्यों के विभिन्न मतों पर किये गये विस्तृत विवेचन में ध्वनिकार के मतानुसार ध्वनि-सिद्धान्त को काव्य में सर्वोपरि स्वीकार किया है। किन्तु विस्तृत विवेचन इसने अलङ्कार विषय पर ही किया है। यह ग्रन्थ भी साहित्य के उल्लेखनीय ग्रन्थों में है। इस ग्रन्थ का अधिक महत्व और उपयोगिता इसकी सार-गमित वृत्ति पर ही निर्भर है।

इस ग्रन्थ का एक संस्करण काव्यमाला में जयरथ की अलङ्कार विमर्शनी

^१ यह टीका गवर्नर्मेंट कालेज पूना के प्रोफेसर श्री वामनाचार्य ने सन् १९०० ईसवी के कुछ पहिले लिखी है और निर्णयसागर प्रेस बम्बई में मुद्रित हुई है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

टीका के साथ अलङ्कारसर्वस्व के नाम से मुद्रित हुआ है। इस ग्रन्थ के गौरव में जयरथ की महत्वपूर्ण विमर्शनी द्वारा और भी अभिवृद्धि हो गई है। और इसका दूसरा संस्करण त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज में समुद्रवंध की टीका के साथ अलङ्कारस्त्र के नाम से मुद्रित हुआ है।

अलङ्कारसर्वस्व का लेखक

साहित्य के अन्य कुछ ग्रन्थों की भाँति इस ग्रन्थ के सूत्र और वृत्ति के लेखक के विषय में भी वडी संदिग्धता है। काव्यमाला के संस्करण के अनुसार सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक एक रुच्यक ही है, जैसा कि उसके प्रारम्भ के—

‘नमस्कृत्य परं वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम् ।

निजालङ्कारसूत्राणां वृत्यातात्पर्यमुच्यते’ ॥

इस पद के ‘निजालङ्कारसूत्राणां’ वाक्य से और टीकाकार जयरथ के उल्लेखों से स्पष्ट है। और अलङ्कारसर्वस्व की सज्जीवनी टीका में श्रीविद्याचक्रवर्ती ने भी प्रारम्भ के—

‘रुचकाचार्यपिङ्गे सेयमलङ्कारसर्वस्वे ।

सञ्जीविनीतिटीका श्रीविद्याचक्रवर्तिना क्रियते ॥

और अन्त के—

‘इत्थं भूमा रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोयं
टीकास्माभिः समुपरचिता तेन सञ्जीविनीयम्’ ।

इन पदों में सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक रुचक को ही बताया है। ‘रुचक’ रुच्यक का अपभ्रंश है^१। बाद के लेखकों में प्रतापसद्रवयशोभूषण पर रत्नापण टीका के लेखक कुमारस्वामी ने—‘तदुक्तं रुचकेन’ ऐसा कहकर^२ अलङ्कार-सर्वस्व की—‘एकार्थश्रेयापि धर्मविषये’ इत्यादि वृत्ति (काव्यमाला संस्करण पृ० ५८) उद्भूत की है। और भी अनेक स्थलों पर रत्नापण में इसी प्रकार वृत्ति का लेखक रुचक को ही माना गया है। परिंडतराज जगन्नाथ ने भी (रसगं०

^१ देखो पिशल की शङ्कारतिलक की भूमिका पृ० २८, २९।

^२ देखो रत्नापण पृ० ३९३

पृ० २२१, २५१, ३४२, ३४३, ३५२,) अलङ्कारसर्वस्व के सूत्र और वृत्ति दोनों के उद्धरण रुच्यक के नाम से ही दिये हैं।

इसके विपरीत त्रिवेन्द्रम् संस्करण के प्रारम्भ के पद्म में “निजालङ्कार-सूत्राणां” के स्थान पर ‘गुर्वलङ्कारसूत्राणां’ वाक्य मुद्रित है और ग्रन्थान्त में भी—

‘इति मद्वको वित्तेने काश्मीरक्षितिपसान्धिविग्रहिकः ।

सुकविमुखालङ्कारं तदिदमलङ्कारसर्वस्वम्’ ॥

त्रिवेन्द्रम सं० पृ० २२८

यह आर्यवृत्त है। अप्यय दीक्षित ने चित्र मीमांसा में (पृ० १०)—
‘किन्तु श्लेष्यस्यालङ्कारविविक्तविषयाभावेन निरवकाशतया बलवत्वेन
.....श्लेषणवनोपमेतिमंखकादिभिरभ्युपेयते’।

यह श्लेष-विषयक विवेचन की अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति का मत दिखाया है। अर्थात् अप्यय भी वृत्ति को मंखक् प्रणीत मानता है। मंखक् ने स्वयं अपने श्रीकण्ठचरित महाकाव्य में लिखा है—

‘तं श्रीसूत्र्यकमालोक्य स प्रियं गुरुमग्रहीत् ।

सौहार्दप्रश्रय रसश्रोतसस्मेदमज्जनम्’ । (२५१३०)

इन्हीं आधारों पर त्रिवेन्द्रम संस्करण के संपादकों ने सूत्र ग्रन्थ का प्रणीता रुच्यक को और वृत्ति-लेखक मंखक को बताया है। और उसी के अनुसार सूत्र ग्रन्थ का नाम रुच्यक प्रणीत अलङ्कारसूत्र और वृत्ति ग्रन्थ का नाम अलङ्कार-सर्वस्व रखा है।

अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति में मंखक के श्रीकण्ठचरित के कुछ पद्म भी उदाहरणों में हैं—

(१) ‘आटोपेन पटीयसां’ इत्यादि (श्रीकण्ठ० २१४९, अलंकारसर्वस्व त्रिवेन्द्रम० पृ० १७)

(२) ‘मदनगणनास्थाने’ इत्यादि (श्रीकण्ठ० ६१७०, अलं० त्रिवेन्द्रम० पृ० ८८)

(३) 'द्यामालिलिङ्ग' इत्यादि (श्रीकण्ठ० ५।२३, अलं० त्रिवेन्द्रम० षुष्ठ० ९१)

(४) 'स्वपक्षलीलालिलै' इत्यादि (श्रीकण्ठ० ६।१६, अलं० त्रिवेन्द्रम० षु० ६२)

(५) 'मन्दमन्निमधुरर्य' इत्यादि (श्रीकण्ठ० १०।१०, अलं० त्रिवेन्द्रम० षु० ९३)

इन अवतरणों में प्रथम अवतरण अलङ्कारसर्वस्व में वृत्ति अनुप्रास के उदाहरण में है, उसके आदि में त्रिवेन्द्रम संस्क० में—'मदीये श्रीकण्ठस्तवे' मुद्रित है। और काव्यमाला संस्करण में (पृ० २१) यह चिना नामोल्लेख के मुद्रित है। किन्तु पुनरुक्तवदाभास के उदाहरण में—'अहीनमुजगाधीश...' पद्य है उसके आदि में त्रिवेन्द्रम संस्करण में 'यथा मंखीये श्रीकण्ठस्तवे' और काव्यमाला संस्करण में (पृ० २१) 'मदीये श्रीकण्ठस्तवे' मुद्रित है। ऐसी अवस्था में वृत्तिकार यदि मंखक को माना जाय तो उसके द्वारा अपने नामोल्लेख के साथ अपना पद्य उद्भूत किया जाना अवश्य ही शंकापद है। हाँ, यह एक बात तो निश्चित है कि जो अवतरण श्रीकण्ठस्तव के अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति में उदाहरण रूप में हैं वे काव्यमाला में मुद्रित मंखक-प्रणीत श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के हैं—उसी का अलङ्कारसर्वस्व में श्रीकण्ठस्तव नाम से उल्लेख है। किन्तु अलङ्कार-सर्वस्व में सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक रुद्यक है अथवा सूत्रों का लेखक रुद्यक और वृत्ति का लेखक मंखक, यह एक जटिल प्रश्न है, क्योंकि 'मदीये' और 'मंखीये' का प्रयोग जो ऊपर दिखाया गया है उसमें 'मदीये' का लेखभ्रम से जिस प्रकार 'मंखीये' हो जाना संभव है उसी प्रकार 'मंखीये' का लेख-प्रमाद से 'मदीये' हो जाना भी कोई आश्चर्य-कारक नहीं। इसके सिवा समुद्रबंध के उल्लेख द्वारा एक नवीन प्रश्न इससे भी बढ़कर, उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि वह सूत्र और वृत्ति दोनों मंक प्रणीत ही बताता है, जैसा कि उसकी टीका के प्रारंभ के—
 'कदाचिन्मंखकोपज्ञं काव्यालङ्कारलक्षणम् ।
 प्रदर्श्य नस्तितीर्षूणां मंखुकग्रन्थसागरम्' ॥ (पृ० २)

इत्यादि पद्यों द्वारा और ग्रन्थान्त के—

‘मंखुकनिबन्धवृत्तौ विहितायामिहसमुद्रवन्धेन। (पृ० २२८)

इन पद्यों द्वारा स्पष्ट है। यही नहीं, ग्रन्थान्त के—‘एवमेते शब्दाथोभयालङ्काराः संक्षेपतः सूत्रिता’ (सूत्र द६) इसकी व्याख्या में उसने लिखा है—

स्वकरण्ठेनानुक्तिशङ्कानिराशाय सूत्रस्थस्य संक्षेपतः

इति पदस्यान्वयदशोनामुखेन व्याचष्टे’ (पृ० २२७)

इसके द्वारा भी स्पष्ट है कि वह सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक मंखक को ही बताता है।

इन उपर्युक्त आधारों द्वारा किसी एक निर्णय पर पहुँचना बड़ा कठिन है। क्योंकि इनमें विभिन्न तीन मत हैं, जो परस्पर में विरुद्ध हैं—

(१) एक मत में सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक रुद्धक माना गया है, जिसके प्रतिपादक टीकाकार जयरथ, श्रीविद्याचक्रवर्ती, कुमारस्वामी और परिंडतराज जगद्वाथ आदि हैं।

(२) दूसरे मत में सूत्रकार रुद्धकको और वृत्तिकार मंखक को माना है इसकी प्रतिपादक त्रिवेन्द्रम संस्करण की हस्तलिपि, और वर्नल कैट्लौग में उल्लिखित एक हस्तलिखित प्रति है जिसके आदि अन्त में त्रिवेन्द्रम संस्करण के अनुसार पाठ है।

(३) तीसरा मत टीकाकार समुद्रवंध का है, जो सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक मंखक को ही बताता है।

अब हम इन मतों पर विचार करते हैं तो प्रथम मत में सूत्र और कारिका दोनों का लेखक रुद्धक को बतानेवाला सर्वप्रथम जयरथ है। अन्य लेखकों ने संभवतः उसी का गढ़ुरिका न्याय से अनुसरण किया है। जयरथ यद्यपि रुद्धक का सबसे निकटवर्ती—लगभग ७५० वर्ष बाद का, १२२५ ई० का—सर्वप्रथम टीकाकार और तदेशीय है, किन्तु जिस प्रति के आधार पर जयरथ ने टीका लिखा है, उस हस्तलिखित अलङ्कारसर्वस्व की प्रति के विषय में वह स्वयं लिखता है—

‘अयं हि ग्रन्थो ग्रन्थकृतः पश्चात् कैरपि पत्रिकाभिलिखित इति प्रसिद्धिः। तैश्चानवधानादुदाहरणे पत्रिका न लिखिता अतिदेशवाक्यं च पत्रिका-न्तरालिखितमितिग्रन्थस्यासङ्गतत्वम्इति उदाहरणान्यत्र मध्ये लिखितव्यानि येन ग्रन्थस्य सङ्गतिः स्यान्’ (पृ० १०८) और—‘लेखकैश्चास्य ग्रन्थस्य प्रतिपदमेव विपर्यासः कृतः’ (पृ० १२६)।

इन वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि उस प्रति के लिखने में लेखकों द्वारा बड़ा प्रमाद किया गया था। संभव है त्रिवेन्द्रम संस्करण की हस्तलिखित प्रति के आदि और अंत का वह भाग जिसमें मंखक का नामोल्लेख था, ज्यरथ के हस्तगत जो प्रति हुई, उसमें लेखक-प्रमाद से छूट गया हो। अतएव ज्यरथ का ग्रन्थकर्ता के विषय में जो उल्लेख है, वह भी एक बार ही विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

तीसरा मत समुद्रबंध का भी अग्राह्य है। क्योंकि वह ग्रन्थारंभ की वृत्ति के आदि के ‘गुर्वलङ्घारस्त्राणां’ इसकी व्यरुत्या में ‘गुरु’ शब्द का अर्थ ‘गुरु’ या ‘रुद्यक’ न करके ‘गुर्वित्यनेन विवक्षितस्य तात्पर्यस्यावश्यवक्तव्यतां दर्शयति’ यह अर्थ करता है, जो कि अप्रसिद्ध होने के कारण स्वीकार करने योग्य नहीं। फिर समुद्रबंध लगभग सन् १३०० ई० का लेखक होने से ज्यरथ का परवर्ती भी है। अतएव केवल इसके आधार पर इस ग्रन्थ का रुद्यक के साथ सर्वथा सम्बन्ध विच्छिन्न किया जाना बस्तुतः रुद्यक के साथ अन्याय है।

अब रहा द्वितीय मत। यह भी संदिग्ध है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि रुद्यक और मंखक का गुरु-शिष्य सम्बन्ध था जैसा कि श्रीकण्ठचरित में मंखक ने स्पष्ट कहा है। अतः यद्यपि मंखक द्वारा रुद्यक के सूत्रों पर वृत्ति लिखा जाना संभव हो सकता है तथापि इसके साथ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यदि वृत्ति को मंखक-प्रणीत मान लिया जाय तो फिर केवल सूत्र ग्रन्थ का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। इस ग्रन्थ का जो कुछ गौरव है, वह इसकी वृत्ति पर ही निर्भर है। और वृत्ति के प्रारम्भ भाग में किये गये विवेचन पर ध्यान देने पर भी यही प्रतीत होता है कि वह संभवतः सूत्रकार द्वारा ही लिखी गई।

ऐसी परिस्थिति में सूत्र ग्रन्थ का लेखक तो संभवतः रुद्धक ही हो सकता है। और वृत्ति का लेखक संभवतः न तो केवल रुद्धक ही है और न केवल मंखक, किंतु रुद्धक द्वारा लिखे गये वृत्ति-ग्रन्थ में मंखक द्वारा कुछ परिवर्द्धन किया गया है। अस्तु, निश्चयात्मक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

रुद्धक और मम्मट

काव्यप्रकाश की बालबोधिनी टीका के लेखक श्री वामनाचार्य की भूमिका (पृ० २१) से विदित होता है कि काव्यप्रकाश की 'प्रदीप' आदि कुछ टीकाओं के लेखक रुद्धक को आचार्य मम्मट का पूर्ववर्ती बताते हैं। इसी आधार पर हमारी भी यही धारणा थी, किन्तु यह कल्पना निर्मल है। उन्होंने यह कल्पना जिन आधारों पर की है, वे ये हैं—

काव्यप्रकाश में शब्दालङ्कार संकर का—

'एवं रूपश्च संकरः शब्दालङ्कारस्योरपि परिवृश्यते—राजति तटीयम-
भिहत……' अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगते परस्प-
रापेत्ते'। (काव्यप्रकाश पृ० ९२३) ।

इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है। और अलङ्कारसर्वस्व में रुद्धक ने—
'शब्दालङ्कारसंकरस्तु कैश्चिदुदाहृतो यथा राजतितटीयमभिहत……' अत्र
यमकमनुलोमप्रतिलोमयोः शब्दालङ्कारयोः परस्परापेत्तवेनाङ्गाङ्गिसंकर
इति—एत्तरु न सम्यगावर्जनम्'

(अलङ्कारसर्वस्व पृ० १९९) ।

वामनाचार्य कहते हैं कि मम्मट ने रुद्धक की यह आलोचना की है। किंतु इन अवतरणों पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि मम्मट ने तो आलोचनात्मक कुछ भी न लिखकर केवल साधारणतया शब्दालङ्कारसंकर दिखाया है। प्रत्युत रुद्धक ने मम्मट के उन्हीं शब्दों को उदाहरण सहित उद्धृत करके उसकी आलो-
चना की है। और रुद्धक के अत्यंत निकटवर्ती विमर्शनीटीकाकार ने स्पष्ट कहा है—'कैश्चिदिति काव्यप्रकाशकारादिभिः' (पृष्ठ १९९) ।

अलङ्कारसर्वस्व में उपमानाधिक्य व्यनिरेक अलङ्कार के उदाहरण में—'कीणः

क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते सत्यम् । यह पद्य लिखा है (पृष्ठ ८० काव्य-माला संस्करण) और मम्मट ने उपमानाधिक्य व्यतिरेक को स्वीकार न करते हुए इसी पद्य को उद्घृत करके खण्डन किया है (काव्यप्रकाश पृष्ठ ७८४) । इसी आधार पर वामनाचार्य ने इसे मम्मट द्वारा रुच्यक के मत का खण्डन बताया है । किंतु यह भी अमात्मक कल्पना है । वास्तव में वात यह है कि मम्मट और रुच्यक दोनों के पूर्ववर्ती रुद्रट ने उपमानाधिक्य व्यतिरेक स्वीकार करके यही—क्षीणः क्षीणोऽपिशशी……’ उदाहरण दिया है, अतएव मम्मट ने जो आलोचना की है, वह रुद्रट के विरुद्ध है, न कि रुच्यक के । रुच्यक ने तो मम्मट का अनुसरण न करके रुद्रट का अनुसरण मात्र किया है ।

यही नहीं, और भी अनेक स्थलों पर रुच्यक ने मम्मट की आलोचना की है । जैसे—‘राजनाराजसुता न पाठयति माण……’ इस पद्य के आगे काव्यप्रकाश में अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में—

‘अव्रप्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहस्रैव त्वदरयः पलाय्य गताः इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम्’ (काव्यप्रकाश पृ० ७५२)

यह वृत्ति है । रुच्यक ने इस पद्य को उद्घृत करके—

इत्यत्र पर्यायोक्तमेवबोध्यम् । अन्येतु दण्डयात्रोद्यतं त्वां तु ध्वा त्वदरयः पलाय्य गताः इति कारणरूपस्येवार्थस्य प्रस्तुत त्वं……वर्णयन्ति’ (अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १०७ काव्यमाला संस्करण)

मम्मट की प्रत्यक्ष आलोचना की है । यहाँ क्यों, काव्यप्र० ४।३८ की—अलङ्कारोथ वस्त्रेव शब्दाव्यावाचमासते, इस कारिका को रुच्यक ने (अलङ्कार-सर्वस्व श्लेष प्रकरण में) उद्घृत किया है जिसके विषय में विमर्शनीकार ने स्पष्ट लिखा है—“उक्तं इति काव्यप्रकाशकृता” (पृ० १०२) । इसीप्रकार समुद्रवंध ने भी लिखा है—“इत्यत्र काव्यप्रकाशवचनं संवादकवेनाह” (पृ० १०६) । अतएव निस्सन्देह रुच्यक ही मम्मट का परवर्ती है ।

रुच्यक का परिचय और समय

राजानक उपाधि ही इसका काश्मीरी होना सिद्ध करती है । यह राजानक तिलक

का पुत्र था। तिलक ने उद्घट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर उद्घटविवेक या उद्घटविचार लिखा है^१। रुद्धक ने अलङ्कारसर्वस्व के अतिरिक्त महिम भट्ट के व्यक्तिविवेक पर व्यक्तिविवेकविचार^२, काव्यप्रकाश पर संकेतटीका^३, सद्दयलीला, और अलङ्कारानुसारिणी^४ आदि और भी ग्रन्थ लिखे हैं।

रुद्धक ने विक्रमाङ्गदेवचरित का उल्लेख किया है, जो बूलहर के अनुसार सन् १०८५ ई० में लिखा गया है। और—‘आसमासजिगीषस्य स्त्रीचिंता का मनस्विनः’ इत्यादि राजतरङ्गिणी का (४४४) पद्य भी उद्घृत किया है (अलङ्कारसर्वस्व पृ० ६३ का० मा० संस्क०)। और काव्यप्रकाश की संकेत टीका में, जिसका समय ११५९-६० ई० है, माणिक्यचन्द्र ने रुद्धक का कई बार नामोल्लेख किया है^५। अतएव अलङ्कारसर्वस्व के प्रणेता रुद्धक का समय ईसा की १२ वीं शताब्दी के प्रथम चरण के लगभग प्रतीत होता है।

मंखक का परिचय और समय

रुद्धक का शिष्य मंखक, विश्वावर्त का पुत्र तथा मन्मथ का पौत्र था। यह श्रीकण्ठचरित महाकाव्य का प्रणेता है। इसका समय ११४५ ई० है। यह ग्रन्थ मंखक की कवित्वशक्ति और विद्वत्ता का परिचायक है। यह काश्मीर के राजा जयसिंह का मंत्री था। जयसिंह का समय ११२८-११४६ ई० है। मंखक के श्रीकण्ठचरित के पद्य रुद्धक के अलङ्कारसर्वस्व में उद्घृत हैं, इसके द्वारा भी

१ देखो अलङ्कारपर्वस्व की विमर्शनी टीका पृ० ११५, १२४, २०५।

२ देखो विमर्शनी टीका पृ० १३ में—‘इति व्यक्तिविवेकविचारे हि मर्यैवैतद्वित्य निर्णीतम् इतिभावः।’

३ जयरथ ने लिखा है—‘यतु काव्यप्रकाशसंकेते ग्रन्थकृता वस्तुध्वनि अलङ्कारसर्वस्व पृ० १०२।

४ इसको हस्तलिखित प्रति का उल्लेख पिशल ने शृङ्खारतिलक की भूमिका में किया है।

५ देखो काव्यप्रकाश की माणिक्यचन्द्र-प्रणीत संकेत टीका।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

अलङ्कारसर्वस्व के प्रणेता रुद्धक का समय लगभग ११२५ ई० के प्रथम किसी प्रकार नहीं हो सकता है।

रुद्धक के टीकाकार जयरथ और समुद्रवन्ध का परिचय और समय

रुद्धक ने भोजराज का (पू० २१, १६५), काव्यप्रकाश का (पू० ३-२६, ४५, ६३, १०२), राजतरङ्गिणी का (पू० १९४), अभिनवगुप्तपादाचार्य का (पू० ११३), कुन्तल का (पू० १५०) तथैव कुछ अन्य ग्रन्थकारों का भी नामोल्लेख किया है। जयरथ ने तंत्रालोक की विवेक टीका में अपना परिचय देते हुए पिता का नाम श्रङ्गाररथ और उसे राजराज या राजदेव का मंत्री बताया है। राजदेव का समय १२०३-१२२६ ई० है। जयरथ के प्रपितामह का भाई शिवरथ काश्मीर के राजा उच्छ्वल का मंत्री था। शिवरथ का समय ११०१-११११ ई० है। जयरथ ने पृथ्वीराजविजय काव्य का उल्लेख भी किया है (पू० ६४) पृथ्वीराज ११९३ ई० में बन्दी हुआ था अतएव जयरथ का समय १२२५ ई० के लगभग हो सकता है।

रुद्धक का दूसरा टीकाकार समुद्रवन्ध केरलदेशीय कोलंब के राजा रविवर्म के समकालीन है, जैसा कि उसने टीका के प्रारंभ के पद्यों में कहा है। रविवर्म का समय त्रिवेन्द्रम संस्करण के उपोत्थात में १२६५ ई० लिखा हुआ है।

भरतमुनि और अग्निपुराण के बाद भट्टि से वामन तक अलङ्कारों के क्रम-विकास का प्रारंभिक काल था—जब कि अलङ्कारों की संख्या लगभग ५० तक थी, जैसा कि इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में अलङ्कार संप्रदाय के अन्तर्गत अलङ्कारविवरण-तालिका संख्या १ में दिखाया जायगा। उसके बाद रुद्रट, भोज, मम्मट और रुद्धक इन चारों तक उस क्रम-विकास का दूसरा काल है। रुद्धक के समय तक अलङ्कारों की संख्या बढ़कर द्विगुण अर्थात् लगभग एक सौ तीन तक पहुँच गई है। रुद्रट, भोज मम्मट और रुद्धक के समय तक

१—देखो राजतरङ्गिणी न१११।

निरूपित अलङ्कारों की विवरण-तालिका भी द्वितीय भाग में अलङ्कार संप्रदाय के अन्तर्गत दी जायगी ।

वाग्भट (प्रथम) और उसका वाग्भटालङ्कार

वाग्भटालङ्कार काव्यमाला में सिंहगणि की टीका समेत मुद्रित हुआ है । उसमें ५ परिच्छेद हैं, जिनमें चार परिच्छेदों में काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, कवि-शिक्षा, कवि-समय, काव्योपयोगी संस्कृतादि चार भाषा, काव्य का गद्य-पद्य विभाग, पद, वाक्य, दोष, गुण, ३५ अर्थालङ्कार और वैशर्मी आदि रीतियां हैं और पांचवे में नवरस नायक-नायिकादि भेद निरूपित हैं । उदाहरण ग्रन्थकर्ता के स्वयं प्रणीत हैं ।

वाग्भट जैन विद्वान् था । इसका प्राकृत भाषा में 'वाहट' नाम था । यह सोम का पुत्र था^१ । टीकाकार सिंहगणि ने इसको कवीन्द्र और महाकवि एवं राजमंत्री बताया है^२, । इसका समय विक्रमीयाब्द ११७८ (११२१-२२ ई०) निश्चित है^३ । और उसने यह भी लिखा है—

'श्रीमद्वाग्भट्टुदेवोऽपि जीर्णोद्वारमकारयत् ।

शिखीन्दुरपि वर्षे च ध्वजारोपं व्यधापयत्' ॥

इसके द्वारा विक्रमाब्द १२१३ (११५६ ई०) तक इसका विद्यमान रहना भी जात होता है । वाग्भट ने इस ग्रन्थ के उदाहरणों में कर्णपुत्र जयसिंह राजा का वर्णन किया है, जिसका समय १०६३-११४३, ई० है^४ । काव्यमाला में मुद्रित ग्रन्थ

^१ देखिये मुद्रित ग्रन्थ का सम्पादकीय लेख ।

^२ देखिये ४। १४८ के पद्य के आदि में टीकाकार की उत्थानिका ।

^३ प्रभाचन्द्र मुनीन्द्र ने प्रभाकर चरित्र में लिखा है—‘शतैकाद्वशके साष्टा सप्ततौ विक्रमार्कतः । इत्यादि ।

^४ देखिये इंडियन एंटिक्वायरी जिल्ड ४।

के संपादकीय लेख में इस ग्रन्थ पर पांच टीकाओं के उपलब्ध होने का उल्लेख है। काव्यानुशासन ग्रन्थ का प्रणेता वाग्भट दूसरा है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। एक और वैद्यक ग्रन्थ है जो 'वाग्भट' के नाम से प्रसिद्ध है किंतु उसका प्रणेता वाग्भट अन्यतम है जिसके पिता का नाम सिंहगुप्त था।

—*—

हेमचन्द्र जैनाचार्य और उसका काव्यानुशासन

काव्यानुशासन सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। उस पर हेमचन्द्र ने स्वयं अलङ्कारचूड़ा-मणि नामक वृत्ति और विवेक नामक टीका लिखी है। काव्यानुशासन में द अध्याय हैं जिनमें शब्द, अर्थ के लक्षक, लक्ष्य आदि भेद, रस-दोष, तीन गुण, छः शब्दालङ्कार और २६ अर्थालङ्कार एवं नायिकाभेद आदि विषय निरूपित किये गये हैं। यह ग्रन्थ प्रायः संग्रहात्मक है। इसमें ध्वन्यालोक^१ और उसकी लोचन टीका, अभिनव भारती,^२ काव्यमीमांसा^३, वक्रोक्तिजीवित तथा काव्यप्रकाश^४ से पर्याप्त सहायता ली गई है यहाँ तक कि इन ग्रन्थों के प्रायः वडे लंबे-लंबे अवतरण मूल ग्रन्थ एवं विवेकटीका में अक्षरशः ले लिये गये हैं, किन्तु जिन ग्रन्थों के अवतरण लिये गये हैं उनमें किसी ग्रन्थ का भी नामोल्लेख नहीं किया गया है। हाँ, अभिनवगुप्ताचार्य के विषय में—

१ देखिये, ध्वन्यालोक निर्णयसागर सन् १८९१ संस्करण पृ० ८९-९४ और काव्यानुशासन निर्णयसागर प्रेस सन् १९०१ संस्करण पृ० १८-२२ आदि।

२ काव्यानुशासन पृष्ठ ५७ से ६६ तक तथा ८१-८२ में अभिनवभारती का अक्षरशः अनुवाद दृष्टिगत होता है।

३ देखिये काव्यमीमांसा पृ० ५६, ४२, ४४ और काव्यानुशासन पृ० ८, १० ११, १६ और १२२-१२३।

४ काव्यप्रकाश का तो बहुत ही अधिक अंश स्थल-स्थल पर लिया गया है यदि दो चार स्थलों पर ही होता तो पृष्ठ लिखे जाते।

‘साधरणी भावना च विभावादिभिरिति श्रीमानभिनव-
गुप्तचार्यः । एतन्मतमेवास्माभिरूपजीवितं वेदितव्यम्’

—काव्यानुशासन पृ० ६६

इन वाक्यों द्वारा विवेक में कृतज्ञता अवश्य प्रदर्शित की गई है । काव्यानुशासन द्वारा हेमचन्द्र की संग्रह योग्यता का अच्छा परिचय मिलता है, किन्तु मौलिकता का नहीं । इस ग्रन्थ में महाराजा भोज के सरस्वतीकरणाभरण की भाँति उदा हरणों के संग्रह का बाहुल्य है—लगभग १४०० पदों के उदाहरणों द्वारा विषय की स्पष्टता की गई है । अतएव इसमें सन्देह नहीं कि काव्यानुशासन कवि और काव्य-प्रेमी जनों के लिए अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है ।

हेमचन्द्र का परिचय और समय

हेमचन्द्र श्वेतांबर जैनचार्य था । यह प्रतिभाशाली विद्वान् था । जैन लेखकों में इसका स्थान सर्वप्रधान है । हेमचन्द्राचार्य ने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । मुद्रित काव्यानुशासन के प्राकथन में इसको अनेक लक्ष पदात्मक ग्रन्थों का निर्माता बताया गया है ।

हेमचन्द्र की जीवनी जेकोवी और व्हूलर ने लिखी है^१ । उसके द्वारा ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र का जन्म बुधुक (अहमदाबाद) में सन् १०८८ में हुआ था, इसका नाम चांगदेव था । जब यह १०९८ ई० में जैन साधु हुआ, तब इसका नाम सोमदेव रक्खा गया और उसके बाद विक्रमीयाब्द ११६६ (११११ ई०) में इसका नाम हेमचन्द्र हुआ । यह वज्रशाला के देवचन्द्र का शिष्य था । हेमचन्द्र विरचित शलाकापुरुषचरित प्रशस्ति द्वारा ज्ञात होता है^२ कि हेमचन्द्राचार्य चौलुक्य कुमारपाल राजा के बड़े श्रद्धेय थे । इसी राजा के राज्य-काल में इनका परलोक गमन हुआ था । कुमारपाल का राज्य-काल विक्रमाब्द ११६६ से १२३० (११४२ से ११७३ ई०) तक है^३ ।

१ देखो इनसाइक्लोपेडिया आवृ रिलीजन ऐंड एथिक्स ६।५९१

२ देखो निर्णयसागर संस्करण काव्यानुशासन भूमिका पृ० २,३ ।

३ देखो निर्णयसागर काव्यानुशासन भूमिका पृ० ३ और पृ० ५ ।

पीयूषवर्ष जयदेव और उसका चन्द्रलोक

चन्द्रलोक में १० मयूख हैं। प्रथम मयूख में काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण एवं शब्द के रूढ़ि आदि भेद, दूसरे में दोष, तीसरे में कविशिक्षा विषय, चौथे में १० गुण पाँचवें में अलङ्कार, छठे में रस, भाव, रीति और वृत्ति, सातवें में व्यंजना और अनिमेद, आठवें में गुणीभूतव्यंग्य, नवें में लक्षणा और दशवें में अभिधा का निरूपण है।

जयदेव के चन्द्रलोक की रचना शैली इसके पूर्ववर्ती आचार्यों से विलक्षण है। प्रायः एक ही अनुष्ठुप् पद्य के पूर्वार्द्ध में निरूपणीय विषय का लक्षण और उत्तरार्द्ध में उसका उदाहरण दिखाया गया है। चन्द्रलोक में द शब्दालङ्कार और उपभेदों की गणना न की जाय तो लगभग ८१ अर्थालङ्कार निरूपित हैं जिनमें उभयन्यास, अभाव, अवश्य, अहेतु, पूर्व, भाव, मत, वितर्क, साम्य और संभव ये १० अलङ्कार अपने पूर्ववर्ती रुद्रट तथा भोज द्वारा निरूपित नहीं दिखाये हैं और दो शब्दालङ्कार और १४ अर्थालङ्कार^१ अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अधिक निरूपित किये गये हैं। इनमें कुछ अलङ्कार ऐसे हैं जिनके लक्षण या उदाहरण जयदेव के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों के भेदों में गतार्थ हो जाते हैं। संभव है जयदेव ने कुछ अलङ्कार अपने किसी पूर्ववर्ती अज्ञात आचार्य के किसी अनुपलब्ध ग्रन्थ से लिये हों क्योंकि इसने स्वयं ऐसा उल्लेख नहीं किया है कि ये अलङ्कार मेरे द्वारा नवाविष्कृत हैं।

चन्द्रलोक के अलङ्कार-विषयक पञ्चम मयूख को, अप्पय दीक्षित ने परिवर्धित करके 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें चन्द्रलोक की कारिकाओं की शैली पर 'कुछ कारिकाओं' की नवीन रचना करके उनको भी चन्द्र-

^१ इन अलंकारों के नाम द्वितीय भाग के अन्तर्गत अलङ्कार सम्प्रदाय में लिखे जायेंगे।

लोक के नाम से ही सम्मिलित कर दिया है। इस विषय में गुजराती प्रिंटिंग (वम्बई) से मुद्रित चन्द्रालोक संस्कारकीय निवेदन में भी—

“दक्षिणदिग्बास्तव्यद्रविडपुङ्कवश्रीमदपश्यदीक्षितानामिममालंव्य कुव
लयानन्दप्रणायनप्रवृत्योन्नेतुंयुक्तम् । नहि संभवति ताहशोविपरिश्चित्
.....परग्रन्थमालम्भ्याधिकसौष्ठवार्थं च प्रायः सर्वत्र कचित्पदं कवचि-
त्पादद्वयमपि विपरिणमय ग्रन्थमारचयेत् ।”

इन वाक्यों द्वारा स्पष्ट कहा गया है।

जयदेव का परिचय और समय

‘पीयूषवर्ष’ जयदेव की उपाधि थी। चंद्रालोक में स्वयं जयदेव ने कहा है—“चन्द्रालोकममुं स्वयं वितुनते पीयूषवर्षः कृती” (११२) और जयदेव का भी नामोल्लेख किया है—“अनेनासावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते” (चन्द्रा० ११६) । प्रसन्नराघव नाटक का प्रणेता भी यही जयदेव है, किन्तु गीतगोविन्द के प्रणेता जयदेव से यह भिन्न है। इसने अपने को महादेव और सुमित्रा का पुत्र वत्तलाया है (चन्द्रा० ११६) और गीतगोविन्द के निर्माता जयदेव भोजदेव और रामदेवी के पुत्र ये।

जयदेव का समय अनिश्चित है। इसने चंद्रालोक में अपने पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थकार का नामोल्लेख नहीं किया है। किन्तु चंद्रालोक के—

‘अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।

असौ न मन्यते कस्माद्नुष्णमनलंकृती’ ॥

—चंद्रालोक ११८

इस पद्य में काव्यप्रकाश के ‘तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः कापि’ इस काव्य-लक्षण के ‘अनलंकृती’ शब्द पर स्पष्ट आक्षेप है। जयदेव का समय मग्मट के बाद है और रुद्धक के भी, क्योंकि रुद्धक के नवाविष्कृत विचित्र और विकल्प इन दोनों अलङ्कारों के लक्षण इसने रुद्धक के अनुसार दिये हैं। अतएव जयदेव की पूर्व सीमा सन् ११५० ई० के बाद निश्चित हो जाती है। जयदेव के प्रसन्नराघव नाटक का—

‘कदलीकदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः’ ।

प्रसन्नराठ० १३७

यह पद्म केशव मिश्र ने^१ और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में^२ उद्घृत किया है। शारङ्गधरपद्धति में भी प्रसन्नराघव के पद्म संग्रहीत हैं। शारङ्गधरपद्धति का समय १३६३ ई० है। सिंहभूपाल प्रणीत रसार्णवमुधाकर (पृ० २५८, २७७) में भी प्रसन्नराघव का नामोल्लेख है। सिंहभूपाल का समय १३३० ई० निश्चित है। इन आधारों पर जयदेव का समय ईसा की १२ वीं और १३ वीं शताब्दी के मध्य में हो सकता है।

चंद्रालोक पर प्रयोत भट्ट ने शरदागम टीका लिखी है, जो बुद्देल राजकुमार वीरभद्र के आश्रित था। इसी प्रयोत ने वात्स्यायन कामसूत्र पर भी १४७७ ई० में टीका लिखी है। दूसरी टीका ‘रमा’ है, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। ‘रमा’ के लेखक ने ‘शरदागम’ टीका के सिवा चंद्रालोक की अन्य टीकाओं का भी नाम-रहित उल्लेख कई स्थलों पर किया है। तीसरी टीका ‘राका’ या सुधा नाम की गाङ्गभट्ट विश्वेश्वर कृत १७ वीं शताब्दी की है। कुवलयानन्द युक्त चंद्रालोक के पञ्चम मध्यख पर अलङ्कार चंद्रिका नाम की टीका वैद्यनाथ सूरि कृत है।

—०—

भानुदत्त और उसकी रसतरङ्गिणी तथा

रसमञ्जरी

भानुदत्त के रसतरङ्गिणी और रसमञ्जरी ग्रन्थ साहित्य में सुप्रसिद्ध हैं।

१ देखो केशव मिश्र का अलङ्कारशोखर मरीचि १३ पृ० ४७।

२ देखो साहित्यदर्पण चतुर्थ परिच्छेद, अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण।

इसने ये दोनों ग्रन्थ रस विषय पर लिखे हैं। रसतरङ्गिणी में भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी एवं स्थायी भाव और शृङ्गारादि रसों का निरूपण है। रसमञ्जरी में प्रधानतया नायिकाभेद का ही वर्णन है। ये दोनों ग्रन्थ शृङ्गार रस प्रधान हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों में उदाहरण ग्रन्थकार ने स्वयं प्रणीत दिये हैं। भानुदत्त ने रसमञ्जरी के अन्तिम पद्य में स्वयं लिखा है कि वह गणेश्वर का पुत्र विदेह देशीय था। इसने और भी कुछ ग्रन्थ लिखे हैं। एक अलङ्कारतिलक ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में भानुदत्त प्रणीत है। वह भी संभवतः इसी भानुदत्त का है। अलङ्कारतिलक में दो अलङ्कार अनध्यवसाय और भङ्गि नवीन हैं। इन दोनों अलङ्कारों का इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थों में निरूपण नहीं किया गया है। वस्तुतः 'अनध्यवसायतो' संदेह अलङ्कार में गतार्थ है और 'भङ्गि' के उदाहरण प्रायः समासोक्ति में गतार्थ है। इसके अतिरिक्त इसने एक ग्रन्थ गीतगौरीश भी गीतगोविन्द के आदर्श पर लिखा है।

इसने—अनौचित्याद्यते नान्यद्रसभंगस्य कारणम् । यह पद्य ध्वन्यालोक (पृ० १४५) से अथवा महिम के व्यक्तिविवेक (पृ० ३१) से लिया है। और धनञ्जय के दशरूप तथा रुद्र के शृङ्गारतिलक का भी (पृ० ६८) नामोल्लेख किया है। अतएव यह गीतगोविन्द प्रणेता जयदेव (ईसा की १२ वीं शताब्दी) के बाद का निश्चित होता है। रसमञ्जरी पर गोपदेव ने विकास नामक टीका १४३७ ई० में लिखी है और शारङ्गघरपद्धति (लगभग १३६३ ई०) में भी भानु पण्डित के नाम से कुछ पद्य लिखे गये हैं। अतएव भानुदत्त का समय संभवतः ईसा की १३ वीं और १४ वीं शताब्दी का मध्यकाल है।

विद्याधर और उसकी एकावली

एकावली महिनाथ की तरल नामक टीका के साथ बांवे संस्कृत सीरीज में मुद्रित हुई है। इसमें कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीनों अंश ग्रन्थकार के स्वयं प्रणीत हैं। और उदाहरण, उत्कल—उड़ीसा—के राजा

नरसिंह की प्रशंसा के हैं। इसमें आठ उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, और भामह आदि के मत पर विवेचन है। दूसरे में शब्द, अर्थ एवं अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना, तीसरे में ध्वनि-भेद, चौथे में गुणीभूतव्यञ्जय, पांचवें में तीन गुण और रीति, छठे में दोष, सातवें में शब्दालङ्कार और आठवें में अर्थालङ्कार निरूपित हैं। यह ग्रन्थ प्रायः ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और अल-झारसर्वस्व पर अवलम्बित है। इसने नाट्य विषय पर केलिरहस्य ग्रन्थ भी लिखा है।

विद्याधर का समय

विद्याधर ने वामन, भोज, अभिनव, मम्मट रुद्धक आदि का और अन्तिम लेखक नैषधीयचरित के प्रणेता श्रीहर्ष का भी नामोल्लेख किया है। रुद्धक द्वारा नवाविष्कृत परिणाम, विकल्प और विचित्र अलङ्कार भी इसने लिखे हैं। रुद्धक का समय १२ वीं शताब्दी है, और नैषधकार का भी यही समय है। अतः विद्याधर की पूर्व सीमा १२ वीं शताब्दी के अंत में अथवा १३ वीं के प्रथम चरण के पूर्व नहीं हो सकती। सिंहमूल ने रसार्णव में—जिसका समय १३३० ई० है—एकावली का उल्लेख किया है। जिस कलिंग के राजा नृसिंहदेव या नरसिंह का विद्याधर ने वर्णन किया है, वह द्वितीय कलिंग कहा जाता है, जिसका समय १२८०—१३३४ ई० है। अतः विद्याधर का समय संभवतः लभभग १२७५—१३२५ ई० है।

एकावली का टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ वही है, जो कालिदास, भारवि, और माघ आदि के सुप्रसिद्ध काव्यों का टीकाकार है। इसने अपनी अन्य टीकाओं में एकावली के उद्धरण भी दिये हैं। मल्लिनाथ का समय भण्डारकर और श्री त्रिवेदी ने १४ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में निश्चित किया है।

—::—

विद्यानाथ और उसका प्रतापरुद्रयशोभूषण

यह ग्रन्थ आन्ध्र प्रान्त के काकतीय राजा प्रतापरुद्रदेव के आश्रित विद्यानाथ

ने लिखा है। यह ग्रन्थ दक्षिण प्रांत में अधिक प्रसिद्ध है। प्रतापरुद्र को वीरभद्र अथवा रुद्र भी कहा गया है। इसकी राजधानी एकशिला थी, जिसे अब वारंगल अथवा औरंगल कहते हैं। यह ग्रन्थ चंबे संस्कृत सीरीज में कुमारस्वामी की रत्नार्पण टीका के साथ मुद्रित हुआ है। इसमें ६ प्रकरण हैं—नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और मिश्रालङ्कार। इसमें भी प्राचीन परम्परानुसार कारिका, वृत्ति और उदाहरण हैं। उदाहरणों में प्रतापरुद्र का यशोगान है और उसी के अनुसार इसका नामकरण है। विद्यानाथ ने लिखा है—

‘प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः ।
अलङ्कारप्रबन्धोऽयं सन्तः कर्णोत्सवेस्तुनः’ ॥

प्रताप० ११६

विद्यानाथ ने अलङ्कार प्रकरण में यथापि रूच्यक का अनुसरण किया है, उसके विकल्प और विचित्र अलङ्कार भी लिखे हैं, तथापि अधिकतया काव्यप्रकाश का ही अनुसरण है। नाटक प्रकरण में ‘प्रतापरुद्रकल्याण’ नामक एक छोटासा नाटक भी उदाहरण रूप में दिया गया है।

विद्यानाथ का समय

प्रतापरुद्र, राजा महादेव और रुद्राम्बा की पुत्री सुमरी का पुत्र था (पुष्ट, १२, १३, १६ आदि)। यह एकशिला—वारंगल का सातवां काकतीय राजा था। इसका समय पिशल ने १२६५-१३२३ ई० बताया है और शेषगिरि शास्त्री ने १२६८-१३१६ ई०। यही प्रतापरुद्र विद्यानाथ का आश्रयदाता था। विद्यानाथ और एकावली का प्रणेता विद्याधर समकालीन थे। अतः विद्यानाथ का समय भी १२७५-१३२५ ई० माना जा सकता है।

इसके टीकाकार कुमारस्वामिन् ने स्वयं अपने पिता का नाम कोलाचल मङ्गिनाथ लिखा है, वही मङ्गिनाथ जो रघुवंशादि महाकाव्य और एकावली का टीकाकार है। कुमारस्वामिन् ने अन्य प्राचीन साहित्याचार्यों के अतिरिक्त, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, एकावली, रसार्णवसुधाकर, भट्ट गोपाल और नरहरि सूरि का नामो-

लेख भी किया है। और इसने गारदातनय-प्रणीत भावप्रकाश नामक प्रन्थ का भी नामोल्लेख किया है, जो भोज राजा के शृङ्गारप्रकाश का सार रूप है।

—:०:—

वाग्भट (द्वितीय) का काव्यानुशासन

यह ग्रन्थ वाग्भट की स्वयं-प्रणीत अलङ्कारतिलक यीका सहित काव्यमाला में मुद्रित है। यह सूत्रवद्ध ग्रन्थ है। यीका में उदाहरण भी दिये गये हैं। इसमें ५, अध्याय हैं, जिनमें काव्य-प्रयोजन, कवि-समय, काव्य-लक्षण, दोष, गुण, रीति, ६४ अर्थालङ्कार, ६ शब्दालङ्कार, नव रस और उनके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव एवं नायक-नायिकादि-भेद निरूपित हैं। इसने एक 'आशी' अलङ्कार भट्टि, भामह और दण्डी द्वारा निरूपित और चार अलङ्कार भाव, मत, उभयन्यास और पूर्व रुद्रट द्वारा निरूपित ये पाँच अलङ्कार ऐसे लिखे हैं जिनको इनके आविष्कारकों के सिवा इसके पूर्ववर्ती मम्मट आदि किसी ने निरूपित नहीं किये थे। और २ अलङ्कार 'अन्य' तथा 'अपर' नवीन भी लिखे हैं किन्तु ये दोनों ही महत्वसूचक नहीं। जिसे इसने 'अन्य' कहा है वह प्राचानों की तुल्ययोगिता के अन्तर्गत है। इस ग्रन्थ में काव्यप्रकाश और काव्यमीमांसा से पर्यात सहायता ली गई है।

वाग्भट ने काव्यानुशासन के प्रारम्भ में अपना परिचय स्वयं लिखा है। यह नेमिकुमार और महादेवी का पुत्र था। इसने वाग्मटालङ्कार के प्रणेता वाग्मट (प्रथम) का भी नामोल्लेख किया है—‘इतिवामनवाग्मटादिप्रणीतादश-काव्यगुणाः’ (पृ० ३१)। अतः वह वाग्भट द्वितीय है और प्रथम वाग्मट का परवर्ती है। इसके काव्यानुशासन की जिस हस्तलिखित प्रति का नामोल्लेख इगलिंग कैटलोग नंबर ११५७ पर है, उस प्रति पर विक्रमीयाब्द १५१५ (१४५८-५९ ई०) अतः इसका समय संभवतः १४ वीं शताब्दी है।

विश्वनाथ और उसका साहित्यदर्पण

मम्मटाचार्य और रुद्धक के पश्चात् अलङ्कार शास्त्र का उल्लेखनीय लेखक विश्वनाथ ही है। इसका साहित्यदर्पण अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित है। इसके बहुत से संस्करण कलकत्ता, बम्बई और बनारस से निकल चुके हैं। इसमें भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन अंश हैं और १० परिच्छेद। प्रथम परिच्छेद में काव्य-प्रयोजन और काव्यप्रकाश एवं ध्वनिकारादि के काव्य-लक्षणों पर आलोचना के बाद विश्वनाथ ने—‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ यह काव्य-लक्षण लिखा है। दूसरे में वाक्य का लक्षण और अभिधा, लक्षण, व्यञ्जना, तीसरे में रस, भाव और नायक-नायिकादि भेद, चौथे में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के भेद, पाँचवें में व्यञ्जना की स्थापना, छठे में दृश्यकाव्य—नाटकादि का विस्तृत विवेचन सातवें में दोष-निरूपण, आठवें में तीन गुण, नवें में वैदर्भी आदि रीति और दशवें में १२ शब्दालङ्कार, ७० अर्थालङ्कार एवं ७ रसवदादि अलङ्कार, इस प्रकार दृष्टि अलङ्कारों का निरूपण है।

साहित्यदर्पण में यह विशेषता है कि इस एक ही ग्रन्थ में काव्य के दृश्य और शब्द दोनों भेदों का विस्तृत निरूपण है। विश्वनाथ एक उल्लेखनीय महाकवि एवं विद्वान् था। इसने और भी बहुत से ग्रन्थ निर्माण किये हैं, जिनका साहित्यदर्पण में नामोल्लेख है। यद्यपि इसका विषय-विवेचन धाराप्रवाह एवं सरल होने के कारण प्रशंसनीय अवश्य है, किन्तु साहित्य के सुप्रसिद्ध और सन्मान्य आचार्य ध्वनिकार एवं आचार्य मम्मट के समान इसे उच्च स्थान नहीं दिया जा सकता क्योंकि ध्वनिकार और मम्मट के ग्रन्थों में मौलिकता का साम्राज्य है, जबकि साहित्य-दर्पण अधिकांश में संग्रह ग्रन्थों की श्रेणी में कहा जा सकता है। इसमें दृश्य-काव्य का विषय नाट्यशास्त्र और धनञ्जय के दशरूपक पर अवलम्बित है। इसी प्रकार रस, ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का विषय अधिकांश में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश से लिया गया है तथा अलङ्कार प्रकरण विशेषतया काव्यप्रकाश और रुद्धक के अलङ्कार सर्वस्व से। रुद्धक का तो इसने पद पद पर दासवत्

संस्कृत साहित्य का इतिहास

अनुसरण किया है—अलङ्कारों की संख्या एवं उनका पूर्वापर कम भी प्रायः रुग्यक के अनुसार है। उदाहरणों के संकलन में भी प्राचीन ग्रन्थों का पर्याप्त उपयोग है। शब्दालङ्कारों में विश्वनाथ ने श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास और भाषासम ये ३ नवीन लिखे हैं, पर ये अलङ्कार महत्व-दूचक नहीं हैं। इसी-प्रकार अर्थालङ्कारों में निश्चय और अनुकूल ये दो नवीन लिखे हैं किन्तु ये भी वस्तुतः नवीन नहीं—नवीनता का आभास मात्र है, क्योंकि दण्डी ने जिसे तत्त्वावध्यानोपमा और जयदेव ने भ्रान्तापहृति कहा है, उसे इसने निश्चय के नाम से लिया है, और अनुकूल में भी प्राचीनों के विषम के दूसरे भेद से अधिकांश में विशेषता नहीं है।

विश्वनाथ ने साहित्यर्धपर्ण के प्रारम्भ में ही काव्यग्रकाश की 'तददोषौ शब्दाथौ' सगुणावनलङ्कृती पुनः कापि' इस काव्य-लक्षण के प्रत्येक शब्द में दोषारोपण करके और ध्वनिकार की—

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥

—वन्या० ११२

इस कारिका में इसके प्रथम की—'काव्यस्वात्मा ध्वनिरिति' इत्यादि कारिका के साथ विरोध वत्तलाकर ममट और ध्वनिकार जैसे सुप्रसिद्ध और सम्मान्य आचार्यों को सर्वथा अज्ञ बनाने की पूर्ण चेष्टा की है। किन्तु काव्य-मर्मज्ञों की दृष्टि में इस आलोचना का कुछ भी मूल्य नहीं है। उपर्युक्त ध्वनि-कारिकाओं का रहस्य अभिनव-गुप्तपादाचार्य ने लोचन यीका में स्पष्ट समझा दिया है। उससे अभिज्ञ होकर भी विश्वनाथ का सभी आलङ्कारिक आचार्यों के शिरोधार्य ध्वनिकार पर आलोचना करना केवल अपनी विद्वत्ता का ढोंग मात्र है^१। यदि इन कारिकाओं में पूर्वापर विरोध का आभास मात्र भी होता तो ध्वनिकार

^१ इस विषय पर द्वितीय भाग में 'काव्यपरिभाषा' शीर्षक में प्रसङ्गानुसार विस्तृत विवेचन किया जायगा।

का प्रतिपक्षी व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट इस दोष का उद्घाटन करने में क्यों चूक सकता था ! किन्तु विपक्षी होने पर भी उसने ध्वनिकारों के विषय में सन्मान प्रदर्शित किया है—‘महतां संस्तवएव गौरवाय’ इत्यादि । फिर मम्मटाचार्य और ध्वनिकार क्या ऐसे पूर्व थे, जो ग्रन्थारम्भ में ही ऐसी दृष्टिकोणिकाएँ लिख डालते । आश्चर्य तो यह है कि विश्वनाथ स्वयं इन दोनों का अत्यन्त ऋणी होना—‘इत्यलमुपजीव्यानां मान्यानां व्याख्यातेषु कटाक्ष-निकेषणे’ इन वाक्यों से स्वीकार करता है । अस्तु ।

विश्वनाथ का परिचय और समय

विश्वनाथ •महाकवि चन्द्रशेखर का पुत्र था । इसने स्वयं लिखा है—‘श्री चंद्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्’ । (साहित्यदर्पण १०।१००), और यह श्रीनारायण का प्रपौत्र था—तत्प्राणत्वं चास्मद्बृद्धप्रपितामह……श्रीनारायणपादैरुक्तम्’ (साहित्यदर्पण ३।२, ३), किन्तु काव्यप्रकाश की मूर्मिका में श्री वामनाचार्य ने इसकी काव्यप्रकाशदर्पण टीका के दिए हुए—

‘यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराज श्रीनरसिंहदेव-सभायां धर्मदत्तां स्थगतयन्तः सकलसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपणिष्ठितास्मद्पितामहश्रीनारायणदासपादाः’ ।

इस उद्धरण में श्री नारायणदास को विश्वनाथ अपना पितामह बताता है । और इसके द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि राजा नरसिंह की समा में श्री नारायण का बड़ा सन्मान था । विश्वनाथ ने अपने को और अपने पिता को सन्धिविग्रहक (राजमंत्री) बताया है अतएव ये पिता पुत्र दोनों कलिंग राजाओं के मंत्री रहे हैं । विश्वनाथ संभवतः उत्कल (उड़ीसा) का निवासी था—काव्यप्रकाशदर्पण में इसने ‘चिंकु’ शब्द का पर्याय उत्कल भाषा में बताया है ।

विश्वनाथ ने अपने किसी ग्रन्थ में समय का उल्लेख नहीं किया है । अतः इसके ग्रन्थों में अन्य ग्रन्थों के उद्भूत वाक्य ही इसेकी पूर्व सीमा के लिये आधार हैं । विश्वनाथ ने—

(१) रुद्यक द्वारा नवाविष्कृत विचित्र और विकल्प के लक्षण लिखे हैं

जो रुद्धक के सूत्रों के रूपान्तर हैं। और—‘नमयन्तु शिरांसि धनूंषि’ इत्यादि विकल्प का उदाहरण भी रुद्धक का ही लिया है। रुद्धक के अन्य अवतरण भी साहित्यदर्पण में अक्षरशः हैं। और—‘रंजितानु विविधास्तदौला……’ पद्म को अलङ्कारसर्वस्व (पृ० ४४) में सन्देहालङ्कार के उदाहरण में दिया है। किन्तु विश्वनाथ इसको उपेक्षा का उदाहरण बतलाकर रुद्धक की आलोचना भी करता है। इसी प्रकार—‘दासेकृतागसि भवत्युचितः प्रगूणां……’ पद्म अलङ्कारसर्वस्व में परिणाम के उदाहरण में दिया गया है, इसपर भी विश्वनाथ ने—‘दासेकृतागसि इत्यादौ रूपकमेव नर्तु परिणामः’ इस प्रकार आलोचना की है।

(२) श्रीहर्ष के नैपथ्यरित के—‘वन्यासि वैदर्भिर्गुणैरुदारै……’ (नैप० ३।११६) पद्म को अप्रस्तुत प्रशंसा के उदाहरण में और—‘हनूमदाच्यैर्यशसा मयापुनर……’ (नैप० ६।१२३) पद्म को व्यतिरेक के उदाहरण में साहित्य-दर्पण में लिखा गया है।

(३) चन्द्रालोक प्रणेता जयदेव के प्रसन्नरावव का—कदली कदली करभः करभः’ इत्यादि पद्म साहित्यदर्पण में अर्थान्तरसंक्लित वाच्य ध्वनि के उदाहरण में उद्घृत है।

साहित्यदर्पण (४।१४) के—‘अल्लाउदीन गृपतौ न सन्विर्नच विग्रहः ।, इस पद्म में अल्लाउदीन का भी उल्लेख है। अल्लाउदीन खिलजी की मृत्यु १३१६ ई० में हुई थी। इसके द्वारा स्पष्ट है कि रुद्धक (११५० ई०), नैपथ्यकार श्रीहर्ष (१२ वीं शताब्दी), जयदेव (लगभग १२ वीं या १३ वीं शताब्दी) और अल्लाउदीन (१३१६ ई०) का विश्वनाथ परवर्ती है।

और विश्वनाथ की उत्तर सीमा के लिये यह आधार है—

(१) गोविन्द ठक्कुर ने ‘प्रदीप’ में विश्वनाथ द्वारा की गई काव्यप्रकाश की काव्य-परिभाषा की प्रत्यालोचना की है। प्रदीप का समय सन् १६०० ई० है।

१. देखो साहित्यदर्पण और अलङ्कारसर्वस्व में पुनरुक्तवदभास और उख्लेख प्रकरण और उपमेयोपमा तथा भ्रान्तिमान् की परिभाषा ।

(२) कुमारस्वामिन् ने रक्षार्पण (पृ० २४५, २४८) में साहित्यदर्पण का नामोल्लेख किया है । कुमारस्वामिन् का समय १५वीं शताब्दी है । अतः विश्वनाथ १५वीं शताब्दी से प्राचीन सिद्ध होता है । इसके सिवा स्तीन के जम्बू की हस्तलिखित पुस्तकों के कैटलौग में साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख है, जिसपर विक्रमाब्द १४४० (१३८४ ई०) है । उल्कल के ग्रन्थकार के ग्रन्थ की जम्बू में प्रसिद्धि होने में तथा प्रतिलिपि की जाने में अवश्य ही कम से कम अर्द्ध शताब्दी का समय अपेक्षित है । अतएव विश्वनाथ का समय संभवतः १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है । क्योंकि इसने १३ वीं शताब्दी के लेखक जयदेव का पद्य लिथा है और १३८४ ई० की साहित्यदर्पण की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है ।

साहित्यदर्पण पर श्रीरामचरण तर्कबागीश की टीका सन् १७०० ई० में लिखी हुई मुद्रित है । और भी तीन टीकाएँ हस्तलिखित प्रतियों में मिलती हैं—(१) अनन्तदास की (१६२५ ई०), (२) मयुरानाथ शुक्ल की और (३) गोपी नाथ की प्रभा । इनके सिवा एक टीका पं० शिवदत्त कांवरत की श्रीबैंकटेश्वर प्रेस में अभी मुद्रित हुई है । विद्यावाचस्पति श्री शालिग्राम शास्त्री जी की नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में मुद्रित हिंदी टीका भी उल्लेखनीय है ।

—:-:-

श्री रूपगोस्वामी जी का उज्ज्वलनीलमणि

उज्ज्वलनीलमणि रस विषयक ग्रन्थ है । इसमें शृङ्गाररस का अत्यन्त विशद वर्णन है । इसमें एक उल्लेखनीय विशेषता है कि उदाहरणों में भगवान् श्री राधाकृष्ण की लीलाओं का ही समावेश किया गया है । श्री रूपगोस्वामीजी ने एक नाटक चन्द्रिका नाट्य-विषयक ग्रन्थ भी नाट्यशास्त्र और रसार्थवसुधाकर के मतानुसार लिखा है, जिसमें द प्रकरण हैं । इन्होंने साहित्यदर्पण में निरूपित विषय भरत-नाट्यशास्त्र के मतानुकूल न होने के कारण

संस्कृत साहित्य का इतिहास

हेय वतलाया है। श्री रूपगोस्वामी जी, श्रीकुमार के पुत्र और श्रीमुकुन्द जी के पौत्र थे। यह महाप्रभु श्री चैतन्यदेव के समकालीन प्रसिद्ध हैं। इनका समय १५२० वीं शताब्दी का अन्तिम भाग अथवा १६ वीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध है।

गोस्वामी कर्णपूर और उसका अलङ्कारकौस्तुभ

अलङ्कारकौस्तुभ में १० किंरण हैं जिनमें क्रमशः काव्यलक्षण, शब्दार्थ, ध्वनि, गुणीभूतब्यंग्य, रस, भाव, गुण, वाक्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, रीति और दोषों का निरूपण है। अलङ्कारकौस्तुभ में प्रायः काव्यप्रकाश का अनुसरण किया गया है। उदाहरणों में भगवान् श्रीकृष्ण के स्तुत्यात्मक पद्य हैं। इस ग्रन्थ पर एक दीक्षा ग्रन्थकर्ता ने स्वयं किरण नाम की लिखी है, दूसरी श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती की सारबोधिनी और तीसरी श्री वृन्दावनचन्द्र सेन तर्कालङ्कार की दीघिति-प्रकाशिका है।

गोस्वामी कर्णपूर ने अलङ्कारकौस्तुभ के अतिरिक्त अन्य भी कई ग्रन्थों की रचना की है जिनमें आनन्दवृन्दावनचम्पू ग्रन्थ बड़ी विद्वत्तापूर्ण लिखा है। इस चम्पू में महाकवि वाण की कादम्बरी के अनुकरण पर श्लेषात्मक विरोधाभास की रचना का प्राचुर्य है। कर्णपूर ने अपने चैतन्यचन्द्रोदय नाटक का रचनाकाल सन् १५७२ ई० का और श्री गौराङ्गगणेशदीपिका का रचनाकाल सन् १५७६ ई० का लिखा है। चैतन्यचन्द्रोदय की भूमिका में कवि कर्णपूर का जन्मकाल १५२४ ई० लिखा है अतएव कर्णपूर का समय १५२४ से सोलहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण तक का माना जा सकता है।

केशव मिश्र और उसका अलङ्कारशेखर

श्री शौद्धोदनि की कारिकाओं पर, जिनको सूत्र कहा गया है, केशव मिश्र ने वृत्ति लिखकर इन्थ का नाम अलङ्कारशेखर रखा है। केशव ने प्रथम कारिका की उत्थानिका में कहा है—

‘अलङ्कारविद्यासूत्रकारो भगवान् शौद्धोदनिः परमकारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्तयिष्यन् प्रथमकाव्यस्वरूपमाह’ (पृ० २)।

शौद्धोदनि सुप्रसिद्ध श्री बुद्धदेव का नाम है। पर ये कारिकाएँ १२ वीं शताब्दी के बाद की हैं जैसा कि स्पष्ट किया जायगा। संभव है किसी बौद्धाचार्य ने शौद्धोदनि के नाम से कोई ग्रन्थ प्रणयन किया हो, और उसी की ये कारिकाएँ हों।

यह ग्रन्थ काव्यमाला संख्या ५० में सुदृष्टि है। इसमें आठ रक्त और २२ मरीचि हैं। इसमें काव्य की परिभाषा, काव्य-रीति, अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, पद-वाक्य-अर्थ दोष, शब्दार्थ-गुण, द शब्दालङ्कार, १४ अर्थालङ्कार और नवरस, नायिका भेद आदि काव्य के प्रायः सभी विषय संक्षिप्ततया निलिपित हैं। इसमें काव्यादर्श, ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, सरस्वतीकण्ठाभरण और काव्यप्रकाश आदि से पर्याप्त सामग्री ली गई हैं अतएव यह संग्रह ग्रन्थ है। इसमें यद्यपि प्रचलित साहित्यिक ग्रन्थों से कुछ विशेषता दर्शिगत होती है, किंतु वह मौलिक नहीं; जैसे—उक्ति के लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति और मत्तोक्ति भेद एवं पदमुद्रा, वाक्यमुद्रा, वचनमुद्रा आदि विषय सरस्वतीकण्ठाभरण से अद्वारयाः लिया गया है। इसी प्रकार कवि-समय, राजा, देवी, देश, ग्राम, नदी वर्णन के प्रकार, श्वेत, नील, पीत वर्णों की वर्णनीय वस्तु, इत्यादि बहुत से प्रकरण राजशेखर की काव्यमीमांसा से लिए गए हैं। अन्य भी प्रायः सभी विषय दूसरे ग्रन्थों से उद्भूत हैं।

जिन कारिकाओं को केशव मिश्र ने शौद्धोदनि की बतलाया है, उन्हीं में—

‘दोषं व्यक्तिविवेकेषु कविलोकविलोचने ।

काव्यमीमांसिषु प्राप्तं महिमा महिमाहृतः’ ॥ (पृ० ८०)

इस कारिका में महिम भट्ट के व्यक्तिविवेक और राजशेखर की काव्यमीमांसा का स्पष्ट नामोल्लेख है। अतः ये कारिकाएँ श्री शौद्धोदनि (श्री बुद्धदेव) की किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती हैं।

केशव मिश्र ने जयदेव (अ० शे० पृ० १७) श्री गोवर्धनाचार्य (पृ० १७, २४), भोज (पृ० ७), राजशेखर (पृ० ६७) का नामोल्लेख किया है। अलङ्कारसर्वस्व का भी (पृ० ६, ३८) उल्लेख है किन्तु वह रुद्यक के ग्रन्थ का है, या केशव के स्वयं-प्रणीत किसी इसी नाम के ग्रन्थ का, यह संदिग्ध

है। केशव मिश्र ने अपने लिखे अन्य ७ ग्रन्थ बताए हैं। अलङ्कारशेखर को उसने काविल (संभवतः अफगानिस्तान) के विखंसक दिल्ली के माणिक्यचन्द्र राजा के लिये प्रणीत किया है। कनिंगहम माणिक्यचन्द्र को कांगरे का राजा बतलाता है^१ जिसका समय १५६३ ई० है। अतः केशवमिश्र का समय संभवतः १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

शोभाकर और उसका अलङ्कारत्ताकर

शोभाकर ने अलङ्कारत्ताकर ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ मुद्रित नहीं हुआ है। और न इसकी हस्तलिखित लिपि ही हमारे समझ से है। अन्य ग्रन्थों में अलङ्कारत्ताकर के उद्धरणों द्वारा ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में ३६ अलङ्कार^२ ऐसे हैं जो लगभग ईसा की चौदहवीं शताब्दी तक के ग्रन्थों में निरूपण नहीं किए गए हैं। किन्तु इन अलङ्कारों के जो लक्षण और उदाहरण शोभाकर ने लिखे हैं उनपर ध्यान देकर विचार करने पर इन अलङ्कारों में बहुत से अलङ्कार ऐसे हैं जो पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों के उदाहरणों में गतार्थ हो जाते हैं। और कुछ ऐसे भी हैं जिनमें चमत्कार का अभाव होने के कारण अलङ्कारों की गणना में नहीं गिने जा सकते। यही कारण है कि इसके नवाविष्कृत अलङ्कारों में केवल 'असम' और 'उदाहरण' ये दो अलङ्कार ही ऐसे हैं, जिनको पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में लिखा हैं। शेष ३४ को इसके पर्वतीं किसी भी आचार्य ने स्वीकार नहीं किया है।

शोभाकर का समय अनिश्चित है। अप्पय दीक्षित ने वृत्ति वार्तिक में (पृ० २०) और पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में (पृ० २११, २८१ आदि) अलङ्कारत्ताकर

^१ देखिये, Arch. Survey of India, Vol. 5, p. 160.

^२ इन अलङ्कारों के नाम द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत अलङ्कार विवरण तालिका में लिखे जायेंगे।

का उल्लेख किया है। अतएव शोभाकर का समय अप्पय्य दीक्षित (लगभग ईसा की १६ वीं शताब्दी) के पूर्व प्रतीत होता है।

यशस्क का अलङ्कारोदाहरण

अलङ्कारोदाहरण नाम का एक ग्रन्थ यशस्क द्वारा भी प्रणीत किया गया है। यह ग्रन्थ भी मुद्रित नहीं हुआ है। इसका उल्लेख कविराजा मुरारिदान के यशवन्तयशोभूषण एवं जसवंतजसोभूषण में मिलता है। जसवंतजशोभूषण की छठी अन्तर्भावाकृति में दिए हुए अलङ्कारों में यशस्क के द अलङ्कार नवीन प्रतीत होते हैं, जिनके नाम द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत लिखे जायेंगे। किन्तु इन द में एक 'प्रतिषेध' ही कुवलयानन्द में लिखा गया है। शेष अलङ्कार महत्वपूर्ण न होने के कारण अन्य किसी ग्रन्थ में स्वीकृत नहीं किए गए हैं। स्वतंत्र अलङ्कार वही माना जा सकता है जिसमें पूर्व निरूपित अलङ्कारों से विलक्षण चमत्कार हो। यदि पूर्व निरूपित किसी अलङ्कार के लक्षण से कुछ ही विलक्षणता हो तो ऐसी अवस्था में वह उसी पूर्व निरूपित किसी अलङ्कार का उपभेद माना जा सकता है और यदि पूर्व निरूपित किसी अलङ्कार के लक्षण में समन्वय हो, केवल उक्त मात्र की विलक्षणता हो हो तो वह उसी पूर्व निरूपित अलङ्कार का उदाहरणान्तर मात्र माना जा सकता है, न कि स्वतंत्र।

यशस्क का समय अज्ञात है। यशस्क और उसके इस ग्रन्थ का नामोल्लेख या उद्धरण केवल 'जसवंतजशोभूषण' के अतिरिक्त किसी ग्रन्थ में दृष्टिगत नहीं होता है।

अप्पय्य दीक्षित और उसके कुवलयानन्द-

आदिक ग्रन्थ

श्री अप्पय्य दीक्षित के अलङ्कार शास्त्र पर तीन ग्रन्थ—कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा और वृत्तिवार्तिक प्रसिद्ध और मुद्रित हैं।

कुवलयानन्द में पूर्वोक्तिखित जयदेव के चन्द्रालोक के पञ्चम मध्यखंड के, अर्थालङ्कारों की कारिकाओं पर अप्पय ने उदाहरण साहित वृत्ति लिखी है। और बहुत सी कारिकाएँ दीक्षित जी ने नवीन रचना करके कुवलयानन्द में बढ़ाई भी हैं। जो अलङ्कार चंद्रालोक से अधिक कुवलयानन्द में लिखे गए हैं उन अलङ्कारों की कारिकाओं की रचना-शैली उसी प्रकार की है जिस प्रकार चंद्रालोक में अनुष्टुप् छन्द की प्रत्येक कारिका के पूर्वार्द्ध में अलङ्कार का लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण है। स्वयं दीक्षित जी ने कुवलयानन्द के प्रारम्भ में यह स्पष्ट कर दिया है—

‘येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लद्यलक्षणश्लोकाः,
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरचयन्ते’।

—कुवलयानन्द ५

कुवलयानन्द में १०२ अर्थालङ्कार, ७ रसवदादि एवं ६ प्रत्यक्ष्यादि प्रमाण-लङ्कार इस प्रकार सब ११८ अलङ्कार निरूपण किए गए हैं।

अर्थालङ्कारों में लगभग १७ अलङ्कार^१ ऐसे हैं, जो चंद्रालोक में निरूपण नहीं किए गए हैं।

इन १७ अलङ्कारों में १ कारकदीपक ऐसा है जिसे काव्यप्रकाश में दीपक अलङ्कार के अन्तर्गत लिखा गया है और १ प्रतिपेद अलङ्कार यशस्क कृत अलङ्कारोदाहरण में भी है। शेष १५ अलङ्कारों के आविष्कर्ता अप्पय दीक्षित हैं या उनके पूर्ववर्ती कोई अज्ञात आचार्य हैं इसके निर्णय के लिये कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

अलङ्कार विषय के प्रारम्भिक अन्यास के लिये कुवलयानन्द उपयोगी होने के कारण अधिक प्रचलित है और हिन्दी भाषा के भाषाभूषण, पद्याभरण आदि

१. इनके नाम द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत अलङ्कार विवरण तालिका में लिखे जायेंगे।

अप्पथ्य दीक्षित

बहुत से ग्रन्थ कुवलयानन्द के आधार पर ही लिखे गए हैं। कुवलयानन्द पर बहुत सी टीकाएँ और इसके अनेक संस्करण कल्कत्ता, बम्बई एवं बनारस से निकल चुके हैं।

चित्रमीमांसा अपूर्ण ग्रन्थ—अतिशयोक्ति अलङ्कार तक काव्यमाला संख्या ३८ में सुनित है। यह भी केवल अलङ्कार विषयक ग्रन्थ है। इसमें की गई आलोचनात्मक विवेचना द्वारा ग्रन्थकार का अधिकृत विषय में प्रशंसनीय अधिकार स्पष्ट विदित होता है। इसके अंत के—‘अप्यर्धचित्रमीमांसा’ इत्यादि पद्म से विदित होता है कि ग्रन्थकार इसे संपूर्ण नहीं लिख सका। यद्यपि उसकी इच्छा अधिक लिखने की अवश्य थी, जैसा कि उसके—‘अधिकं तु निर्दर्शनालङ्कार प्रकरणे चिन्तयिष्यति’ (पृ० १०१) इस वाक्य द्वारा प्रतीत होता है।

तीसरा ग्रन्थ वृत्तिवार्तिक भा अपूर्ण ही काव्यमाला संख्या १६ में सुनित है। यह छोटा सा ग्रन्थ है। इसमें अभिधा, लक्षण तक ही निरूपण है।

अप्पथ्य दीक्षित का परिचय और समय

अप्पथ्य दीक्षित एक उल्लेखनीय दाक्षिणात्य विद्वान् थे। यह शैव मत के स्तंभ माने जाते थे। इनका नाम अप्प, अप्पा, दीक्षित भी प्रसिद्ध था। यह न्यायचिन्तामणि ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य दीक्षित के (जो वक्तःस्थलाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे) पुत्र श्री रंगराजाध्वरी के ज्येष्ठ पुत्र थे। रङ्गराजाध्वरी के विषय में नलचरित नाटक में बहुत कुछ लिखा गया है। दीक्षित जी ने लगभग १०० ग्रन्थ लिखे हैं। पंडितराज जगन्नाथ इनके प्रवल प्रतिपक्षी थे। पंडितराज ने दीक्षित को रुद्यक और उसके टीकाकार जयरथ का अत्यानुसरण करनेवाला बताया है और रसगङ्गाधर में इनकी बड़ी कूर आलोचना की है। पंडितराज ने चित्रमीमांसा-खण्डन नामक ग्रन्थ भी लिखा है जो चित्रमीमांसा के साथ ही काव्यमाला में सुनित है। पंडितराज की आलोचना का अप्पथ्य के भाई आचा दीक्षित के पौत्र और नारायण दीक्षित के पुत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने अपने पूर्वज की कीर्ति-रक्षार्थ उसी प्रकार तीव्र खण्डन भी किया है।

अप्पय्य ने १४ वीं शताब्दी के एकावली के लेखक विद्याघर का (चित्रमीमांसा पृ० ५८) और प्रतापसुद्रीय के लेखक विद्यानाथ का (चित्रमीमांसा पृ० ५८) नामोल्लेख किया है। और कुबलयानन्द के—

‘अमुं कुबलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः ।
नियोगाद्वेक्ष्टपतेर्निरूपाधिकृपानिधेः’ ॥

इस अन्तिम पद में जिस वेंकटपति का नामोल्लेख किया है, वह विजयानगरम् का प्रथम राजा वेंकट है, जिसके शासन-पत्रों में एक की तिथि शाके १५२३ (१६०१, २ ई०) है^१। और अप्पय्य ने शिवादित्य मणिदीपक ग्रन्थ के अन्तिम पद में चिनवीर के पुत्र तथा लिंगमनायक के पिता चिनवौवा को अपना आश्रयदाता बताया है। दक्षिण आरक्षे के वैलों के अधिपति के शिलालेख शाके १५७१-१५८८ (१५४६-१५६६ ई०) के मिलते हैं। अतः इसके द्वारा अप्पय्य दीक्षित का ईसा की १६वीं शताब्दी के तृतीय चरण तक विद्यमान रहना सिद्ध होता है। अद्वैतसिद्धि, श्रीमद्भागवत की टीका और भक्ति रसायन आदि ग्रन्थों के प्रणेता श्री मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में अप्पय्य की वेदान्तकल्पतरु पर परिमल नामक टीका का उल्लेख किया है^२। श्री मधुसूदन सरस्वती प्रणीत सिद्धान्तविन्दु ग्रन्थ का लिपिकाल शकाब्द १५३९ (१६१७ ई०) है, जो इण्डिया औफिस की लायब्रेरी में वर्तमान है। उसकी रचना का काल इससे भी पूर्व होना संभव है। श्री मधुसूदन सरस्वती अप्पय्य दीक्षित के समकालीन माने जाते हैं^३। इसके सिवा कमलाकर भट्ट ने—जिसका समय १७ वीं शताब्दी का प्रथम चरण है, अप्पय्य का नामोल्लेख किया है। अप्पय्य के भ्राता के पौत्र नीलकण्ठ ने अपने नीलकण्ठ चंगू का समय गतकलि ४७३८ लिखा है—

^१ देखिषु, बहुलर एपिग्राफिया इण्डिका जिल्ड ४ पृ० २६९।

^२ ‘सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैर्भास्तीकार कल्पतरुकार परिमलकारैरिति’-अद्वैतसिद्धि।

^३ देखिषु, विद्यापीठ पत्रिका, सं० १९८६, पृ० ६०।

‘अष्टत्रिंशतउपमृतमपशनाधिकचतुःसहस्रे
गतकलिवर्षेषु ग्रथितः किल नीलकण्ठ विजयोयम्’।

इसके अनुसार नीलकण्ठ चंपू का समय १६३७ ई० होता है। और नीलकण्ठ के—‘श्रीमानप्यदीक्षितः स जयति श्रीकण्ठविद्वागुरुः’ इस वाक्य द्वारा नीलकण्ठ के समय में (१६३७ ई० में) अप्यय का विद्यमान होना स्पष्ट है। इसके सिवा एक विश्वस्त प्रमाण और भी उपलब्ध है, जिसके द्वारा अप्यय दीक्षित का सन् १६५७ ई० तक विद्यमान रहना सिद्ध होता है। सन् १६५७ ई० में काशी के मुक्तिमण्डप में एक सभा हुई थी जिसमें यह निर्णय किया गया था कि महाराष्ट्रीय देवपिं (देवस्त्रे) ब्राह्मण पंक्तिपावन हैं, इस निर्णयपत्र पर अप्यय दीक्षित के भी हस्ताक्षर हैं। यह निर्णयपत्र श्रीपिंपुटकर ने ‘चितलेभट्टपकरण’ पुस्तक में मुद्रित कराया है। अतएव अप्यय का समय लगभग १६५२ तक माना जा सकता है।

परिणाम जगन्नाथ त्रिशूली और

उसका रसगङ्गाधर

‘कवयति परिणामे कवयन्त्यन्येऽपि विद्वांसः ।
नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेताला’॥

रसगङ्गाधर महत्वपूर्ण अपूर्व ग्रन्थ है। मौलिकता और विषय- विवेचन में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के बाद इसी का स्थान है। यह काव्यमाला संख्या १२ में नागेशभट्ट की टिप्पणी सहित अपूर्ण मुद्रित है। गङ्गाधर श्री शंकर का एक नाम है, इस ग्रन्थ के रसगङ्गाधर नाम द्वारा प्रतीत होता है कि श्री शंकर के पञ्चानन के अनुसार संभवतः ग्रन्थकार की इच्छा इसे पांच आननों में पूर्ण करने की थी, किन्तु ग्रकाशित ग्रन्थ में द्वितीय आनन भी अपूर्ण है।

रसगङ्गाधर के प्रथम आनन में काव्य का लक्षण—‘रमणीयार्थप्रतिपादकः

शब्दः काव्यम्” यह ब्रताकर प्राचीनों में ध्वनिकार कुन्तक एवं काव्यप्रकाश और नवीनों में विश्वनाथ द्वारा कथित काव्य-लक्षण की आलोचना की गई है। फिर काव्य को उत्तमोत्तम (ध्वनि), उत्तम (गुणीभूत व्यंग्य), मध्यम (अर्थालिंकार) और अधम (शब्दालिङ्गार) इन चार भेदों में विभक्त किया गया है—जब कि मम्मट आदि आचार्यों ने तीन भेदों में विभक्त किया है। उसके बाद रस प्रकरण, शब्द और अर्थ के गुण, वैश्वर्मी रीति, भावध्वनि और रसाभास आदि निरूपित हैं। और द्वितीय आनन्द में प्रथम संक्षिप्त ध्वनि-भेद फिर अभिधा, लक्षण का विषय, तत्पथात् उपमा से उत्तर तक ७० अर्थालङ्कार निरूपित हैं। ग्रन्थकार ने इन अलङ्कारों के अतिरिक्त अन्य कितने अर्थालङ्कारों एवं शब्दालङ्कारों का तथा अन्य किन किन काव्य-विषयों का इसमें समावेश किया था अथवा समावेश करने की उसकी इच्छा थी यह किस प्रकार ज्ञात हो सकता है, जबकि ग्रन्थ अपूर्ण है और ग्रन्थ के आदि में विषय सूची के रूप में ग्रन्थकार ने कुछ संकेत भी नहीं किया है।

रसगङ्गाधर में अलङ्कारों का पूर्वापर क्रम प्रायः रस्यक के अलङ्कारसर्वस्व के अनुसार है; कुछ अलङ्कार ऐसे भी हैं, जो काव्यप्रकाश एवं सर्वस्व में नहीं हैं, किन्तु चन्द्रलोक में हैं। ‘असम’ और ‘उदाहरण’ ये दो अलङ्कार अलङ्कार-रत्नाकर के भी लिखे गये हैं। और तिरस्कार अलङ्कार संभवतः नवीन है।

इसमें लक्षण सूत्रों की शैली के अनुसार गद्य में है। पर इसे सूत्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि सूत्रों में अत्यन्त संक्षेप में कहा जाता है, और इसमें विस्तार के साथ लक्षणात्मक गद्य है। और उसपर मृदु एवं ओजपूर्ण गद्य में विस्तृत वृत्ति है। उदाहरण सभी परिणतराज ने स्वयं-प्रणीत दिए हैं। उदाहरणों के विषय में परिणतराज ने ग्रन्थारम्भ में कहा है—

‘निर्मायनूतनमुदाहरणानुरूपं

काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित् ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः

कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण’ ॥

—रसगं० पृ० ३

यह गर्वोक्ति अवश्य है। पर पण्डितराज ने प्रसाद-गुण-सम्पन्न धारा-प्रवाह शैली में प्रणीत अपने उदाहरणों द्वारा इस उक्ति को चरितार्थ करके दिखा दिया है। इन्होंने अलङ्कारों का प्रतिपादन अपने पूर्ववर्ती सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों की आलोचनात्मक विवेचनापूर्वक जिस मार्मिकता से किया है, वह बस्तुतः उल्लेखनीय है। अप्पथ्य दीक्षित के तो यह कट्टर प्रतिपक्षी थे, उसके कुबलयानन्द और चित्रमीमांसा का प्रायः प्रत्येक अलङ्कार प्रकरण में खण्डन किया है। किन्तु आचार्य ममम (पृ० ५, २२६, आदि), रुद्रक (पृ० २०८, २५१, ३०१ आदि), विमर्शनीकार जयरथ (पृ० २०१, २५६, ३८० आदि), विद्यानाथ (पृ० १६२), रत्नाकर (पृ० २११) और विश्वनाथ (पृ० ७) आदि सभी प्रसिद्धाचार्यों की आलोचना की है। यहाँ तक कि ध्वनिकार, जो इनके अत्यन्त श्रद्धेय थे, और जिनके मत इन्होंने अत्यन्त सन्मान के साथ अनेक स्थलों पर उद्घृत किये हैं, उनकी भी आलोचना करने में कुछ संकोच नहीं किया है। स्वपक-ध्वनि के प्रकरण में—

आनन्दवर्धनाचार्यस्तु.....प्राप्तश्रीरेष.....इत्याहुः तच्चिन्त्यम्,
(ससगंपृ० २४७)

इन वाक्यों द्वारा आलोचना की है। इसके द्वारा यह स्पष्ट है कि पण्डितराज एक स्वतंत्र विचार के निःशङ्क आलोचक और उत्कट विद्वान् थे।

हमारे पण्डितराज को उन प्राचीन सुप्रसिद्ध महाकवियों की, जिन्होंने अपने विषय में गर्वोक्तियां की हैं, परम्परा का अनुयायी अथवा पोषक कहना अवश्य ही पण्डितराज का अपमान-जनक है क्योंकि यह इस विषय में सबसे आगे बढ़े हुए हैं। यों तो इनकी सभी गर्वोक्तियां विचित्र हैं, किंतु भामिनीविलास के प्रारम्भ के—

‘दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पोण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः’ ॥

संस्कृत साहित्य का इतिहास

इस पद्य में पराक्रमा कर दी है। इसमें पंडितराज अपने समकालीन सभी विद्वानों को अपने समकक्ष न मानकर, उनको करुणापद कहकर और अपने को दिग्विजयी सूचित करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए, किंतु अपने समकक्ष प्रतिद्वन्द्वी न मिलने का खेद भी सूचित करते हैं कि हम ऐसी परिस्थिति में किस पर अपना अचरण पारिडृश्य प्रकट करके अपनी अभिलाषा पूर्ण करें। अस्तु, यह तो निर्विवाद है कि परिषितराज पश्चात् के लेखक होने पर भी उल्लेखनीय आलङ्कारिक और महाकवि थे।

परिषितराज का परिचय और समय

यह तैलङ्ग ब्राह्मण थे—‘तैलङ्गकुलावतंशेनपरिषितराजजगन्नायेन’ (आसक-विलास)। इनका द्वितीय नाम वेल्लनाङ्ग था और इनको त्रिशूली भी कहते थे। यह पेरुमठ (अथवा पेरम भट्ठ) और लक्ष्मी के पुत्र थे। इनके पिता भी प्रशंसनीय विद्वान् थे, जैसा कि—‘श्रीमञ्जानेन्द्रभित्तु.....’ (रसगं० पृ० २) पद्य में उल्लेख है। इनके विषय में बहुत सी किम्बदन्तियां प्रचलित हैं, जिनमें एक यह भी है, कि इनका एक यवन-रमणी के साथ संपर्क था। इस सम्बन्ध के कुछ पद्य भी प्रचलित हैं, जो इन्हीं के प्रणीत कहे जाते हैं। यह भगवान् श्रीकृष्ण और भगवती भागीरथी के अनन्य भक्त थे, जैसा कि इनके वर्णनों द्वारा ज्ञात होता है।

परिषितराज दिल्ली के यवन सम्राट् शाहजहाँ और उसके पुत्र दारा शिकोह के परम प्रेमजात्र थे। परिषितराज ने स्वयं भामिनीविलास के अन्तिम पद्य में कहा है—‘दिल्लीवत्त्वभयणिपत्त्वतत्त्वे नीतं नवीनं वयः.....। इन्होंने दाराशिकोह की प्रशंसा में जगदामरण ग्रन्थ लिखा है और शाहजहाँ के कृपापात्र खानखाना आसक के विषय में आसकविलास भी। इनको परिषितराज की उपाधि भी शाहजहाँ द्वारा ही दी गई थी—

‘सार्वभौमश्रीशाहजहाँप्रसादादधिगतपरिषितराजपदवीविराजितेन’।

—आसकविं०, काष्यमाला द्वितीय गुच्छक, पृष्ठ ५५

इन्होंने रसगङ्गाधर और चित्रमीमांसाखण्डन एवं उपर्युक्त ग्रन्थों के सिवा प्रसिद्ध पीयूषलहरी (गङ्गालहरी), अमृतलहरी, सुवालहरी, लक्ष्मीलहरी, मनोरमाकुचमर्दन आदि अनेक ग्रन्थ निर्माण किये हैं। इनमें बहुत से ग्रन्थ काव्यमाला में शुद्धित हैं।

परिंडतराज शाहजहां के समकालीन हैं। शाजजहां के राज्याभिषेक का समय १६२८ ई० है। औरंगजेब द्वारा सन् १६६६ ई० में शाहजहां वंदी किया गया था। इसी अधार पर इनको कुछ विद्वानों ने अप्पथ्य दीक्षित का परवर्ती माना है। किन्तु अप्पथ्य के सिद्धान्तलेशसंग्रह ग्रन्थ के कुम्भकोण संस्करण की भूमिका में नारेश भट्ट का काव्यप्रकाश की व्याख्या में लिखा हुआ वह पद्य उद्घृत है—

‘दृप्यद् द्राविड़दुर्ग्रहप्रदशान् म्लिष्टं गुरुद्वौहिणा,
यन्म्लेच्छेतिवचोऽविचिन्त्य सेदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना।

तत्सत्याभितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृदनात्कुचं,

निबेध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नायप्याद्यानस्थितान्’ ॥

इसमें भट्टोजि दीक्षित द्वारा परिंडतराज को भ्लेच्छ कह कर अपमानित करने का और भट्टोजि एवं अप्पथ्य दोनों का समकालीन होने का उल्लेख है। उसी भूमिका में दूसरा बाल कवि का पद्य—जिल बाल कवि को अप्पथ्य के भ्राता के पौत्र नीलकण्ठ ने नलचरित में अप्पथ्य का समकालीन बताया है—उद्घृत किया है—

‘यद्गुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिता,

भट्टोजिप्रमुखाः सपरिंडतजगन्नाथोपि निस्तारितः।

पूर्वेद्धे चरमे द्विसप्ततिमस्याऽन्दस्य सद्विश्वजि—

चाजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजन्त्योतिः सतां पश्यताम्’ ॥

इसमें अप्पथ्य दीक्षित द्वारा ७२ वें वर्ष के पूर्वार्द्ध में भट्टोजि दीक्षित आदि विद्वानों का विजित होना और संभवतः यवनी के सम्पर्क से जाति पतित हुए परिंडतराज का उद्घार किया जाना और ७२ वर्ष में अप्पथ्य का देहावसान होना कहा गया है। अतएव इन पद्यों द्वारा अप्पथ्य के समय में परिंडतराज का

संस्कृत साहित्य का इतिहास

होना सिद्ध होता है। संभव है परिणामराज की युवावस्था में बृद्ध अप्पम् दीक्षित कुछ काल विद्यमान रहे हों। इसकी पुष्टि प्रथम उल्लिखित अप्पम् के समय द्वारा और इस बात से भी होती है कि परिणामराज ने अप्पम् के ग्रन्थों का जो खण्डन किया है, वह सम्योचित भाषा में नहीं, किन्तु अत्यन्त कठोर और द्वेष-पूर्ण है। ऐसी आलोचना मृत्युक्ति के विषय में नहीं, किंतु संभवतः समकालीन व्यक्ति के—जिसके साथ परस्पर विशेष मार्मिक द्वेष हो—विषय में ही संभव है। इन घटनाओं पर लक्ष्य करने से परिणामराज का समय संभवतः लगभग १७ वीं शताब्दी के आरम्भ से तृतीय चरण तक है।

रसगङ्गाधर की मर्मप्रकाश टिप्पणी के लेखक नागोजी या नागेश भट्ट ने काव्यप्रकाश, प्रदीप, रसमंजरी और अप्पम् पर भी टीकाएँ लिखी हैं। नागोजी महाराष्ट्र ब्राह्मण और शिवभट्ट तथा सती के पुत्र थे। ये काशी निवासी एवं शृङ्गवेरपुर (अलाहाबादके समीप) के रामसिंह राजा के आश्रित थे। वह प्रसिद्ध वैद्यकरण विद्वान् थे और सिद्धान्तकौमुदी के लेखक भट्टोजि दीक्षित के प्रपौत्र हरिदत्त के शिष्य थे। और भट्टोजि शेषकृष्ण के शिष्य थे, जिनका पुत्र वीरेश्वर परिणामराज का गुरु था। अतः नागोजी परिणामराज के दो पीढ़ी बाद के हैं। नागोजी का समय संभवतः १७ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण अथवा १८ वीं का प्रथम पाद है। मानुदत्तकी रसमंजरी पर जो नागेश की टीका है, उसकी इस्त-लिखित प्रति पर (जो इसिंडवा ओफिस में है) सन् १७१२ ई० की तिथि है।

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत अलङ्कार शास्त्र के इतिहास में परिणामराज जगन्नाथ ही इस विषय का अन्तिम लेखक है अतः उसकी अतिम सीमा १७ वीं शताब्दी में परिणामराज के साथ ही समाप्त हो जाती है। परिणामराज के बाद संस्कृत साहित्योद्यान की मनोरञ्जकता को परिवर्धन करनेवाला कोई भी विद्वान् मालाकार दृष्टिगत नहीं होता। जो साहित्योद्यान विद्यारसिंक स्वातंत्र्य सौख्य प्राप्त भारतीय नृपतियों के मनोरञ्जक वासन्तिक काल में परिवर्धित और विकसित हुआ था, उसका हास तो क्रमशः उन नृपतियों के स्वातंत्र्य-सौख्य के साथ-साथ यवन साम्राज्य-काल में ही होने लगा था, फिर भारतवर्षीय नृपतिगणों के परम्परागत

स्वातंत्र्य गौरव का प्रभाकर ही जब पश्चमीय अरुणिमा में निमग्न होता विलासिता के आवरण में विलुप्तप्राय हो गया, तो ऐसी परिस्थिति में हमारे प्राच्य साहित्योद्यान पर ढकपात होना संभव ही कहाँ था। खेद है कि साम्प्रतिक काल में हमारा संस्कृत साहित्य पाश्चात्य लेखकों द्वारा केवल मृतक भाषा के साहित्य की उपाधि को प्राप्त हो रहा है। इस अवस्था में भी कुछ सन्तोष का विषय बही है कि इसे ऐतिहासिक सामग्री का महत्व प्राप्त है, अतः—

‘स च कालप्रभावोऽयं न च कस्यापि दूषणः’।

—:०:—

कविराजा मुरारिदान और सुब्रह्मण्य शास्त्री का यशवन्तयशोभूषण

मरुधराधीश स्वर्गीय जसवन्तसिंह—जो विक्रमाब्द १६५० में विद्यमान थे— के राज्यकवि कविराजा मुरारिदान को और उनके साहित्य-शिक्षक* सुब्रह्मण्य शास्त्री को भी संस्कृत साहित्य के इतिहास में यहाँ स्थान देना उचित और आवश्यक है। कविराजा ने आधुनिक काल में भी अलङ्कारशास्त्र पर भी सुब्रह्मण्य शास्त्री की सहायता से हिन्दी भाषा में जशवन्तजसोभूषण ग्रन्थ लिखा और उसका संस्कृत में उक्त शास्त्रीजी द्वारा अनुवाद करा कर यशवन्तयशोभूषण ग्रन्थ मारवाड़ स्टेट प्रेस (जोधपुर) में राजसंस्करण के रूप में प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थ का नामकरण विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण के आदर्श पर किया गया है।

* देखिये यशवन्तयशोभूषण पृ० ३७४ ‘साहित्याम्बुधिलंघने……’ इत्यादि पद्य, और जशवन्तजशोभूषण पृ० ४८० साहित समुद्र कौ डलंघबो…… इत्यादि कविता ।

यशवन्तयशोभूषण श्रीसुब्रह्मण्य शास्त्री की विद्वत्ता का सूचक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ के द्वारा शास्त्री जो का साहित्य विषय पर उल्लेखनीय अधिकार लक्षित होता है। ग्रन्थ का आकार भी बहुत है और विषय-विवेचन भी विस्तार के साथ किया गया है। उदाहरणों में प्रायः जोधपुर-नरेश महाराज जसवन्तसिंह का यशोगान किया गया है। इस ग्रन्थ में कविराजा मुरारिदान ने अपनी प्रसिद्धि और राज्य-संमान प्राप्त करने की लालसा से यह नवीन सिद्धान्त प्रतिपादन करने की चेष्टा की है कि प्रत्येक अलङ्कार के नाम में ही लक्षण है। कविराजा का कहना है कि इस रहस्य का ज्ञान श्री भरत मुनि से लेकर अथव किसी भी प्राचीन साहित्याचार्य को नहीं था, इसीलिये श्रीभरत आदि ने अलङ्कारों के लक्षणों के लिये कारिकाएँ या सूत्र लिखे हैं। कविराजा ने अत्यन्त अभिमान के साथ यह भी कहा है कि इस नवीन रहस्य के आविष्कर्ता केवल हम ही हैं। किन्तु यह कविराजा की सर्वथा मिथ्या गर्वोक्ति है। अथवा यों कहना उचित होगा कि राज्य-संमान प्राप्त करने के लिये कविराजा की यह एक आपात रमणीय रहस्यपूर्ण राजनैतिक युक्ति थी। हाँ, बहुत से अलङ्कारों के नाम यौगिक अवश्य हैं और यह बात सभी सुप्रसिद्ध प्राचीन आचार्यों को भली भाँति विदित भी थी। काव्यप्रकाश आदि में प्रायः अलङ्कारों के नामों का व्युत्पत्त्यर्थ दिखाया गया है, किन्तु अलङ्कारों का यथार्थ स्वरूप केवल नामार्थ द्वारा कदापि स्पष्ट नहीं हो सकता। अलङ्कारों के नामार्थ द्वारा अलङ्कारों के प्रधान चमत्कार का केवल आंशिक संकेत मात्र सूचित होता है। इसीलिये अलङ्कारों के लक्षण कारिका या सूत्र में प्रचीनाचार्यों ने लिखे हैं। स्वयं कविराजा भी केवल अलङ्कारों के नामार्थ द्वारा अलङ्कारों के लक्षण स्पष्ट करने में कृत-कार्य नहीं हो सके हैं। अगत्या उनको भी नामार्थ के अतिरिक्त बहुत सी बातें ऊपर से कहनी ही पड़ी हैं। अतएव लक्षण-निर्माण के विषय में जो कविराजा ने सुप्रसिद्ध प्राचीनाचार्यों की क्रूर आलोचनाएँ की हैं वे महत्वपूर्ण न होने के कारण साहित्य-मार्मिकों की दृष्टि में सर्वथा अनादरणीय हैं। कविराजा की इन आलोचनाओं के ढोल में कितनी पोल है यह विषय विस्तार के साथ

स्वतन्त्र रूप से आलोच्य है। इसका कुछ दिग्दर्शन इस लेखक ने अपने काव्य-
कल्पद्रुम^१ ग्रन्थ में और द्विवेदीश्रमिनन्दन ग्रन्थ^२ में कराया है। फिर भी इस यह
अवश्य कहेंगे कि इस ग्रन्थ में प्राचीनाचार्यों की आलोचनाएँ करते हुए जो
आपात रमणीय युक्तियाँ दी गई हैं, वे विद्वानों के मनोविनोद की यथेष्ट सामग्री
हैं। अस्तु ।

ये दोनों ग्रन्थ विक्रमाब्द १६५० में लिखे गये थे और महाराज जसवन्त-
सिंह ने इन ग्रन्थों की रचना के उपलक्ष में कविराजा को एक लक्ष का पारितो-
षिक दिया था जिसको मारवाड़ में 'लाखपसाव' कहते हैं। इसके अतिरिक्त
कविराजा की उपाधि, पैरों में सुवर्ण पहनने का अधिकार और गमनागमन के
समय अभ्युत्थान (ताजीम) एवं सुलंकृत हाथी, घोड़े, पालकी आदि से कविराजा
को संमानित भी किया गया था।

—*—

१ देखिये काव्यकल्पद्रुम विक्रमाब्द १९८३ का द्वितीय संस्करण पृ० २२४-
२३२ और विक्रमाब्द १९९३ के तृतीय संस्करण का द्वितीय भाग अलङ्कारमञ्जरी
भूमिका पृ० 'ह' ।

२ देखिये पृ० २६७ ।

निष्कर्ष ।

यहाँ तक किये गये साहित्यक ग्रन्थों के विषय विवेचन और उनके प्रणेताओं के काल-विषयक ऐतिहासिक विवेचन द्वारा जब हम साहित्य के क्रम-विकास पर विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक काल में यद्यपि श्री भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में अन्य आचार्यों के मतों का उल्लेख अवश्य है, जैसा कि पहिले नाट्यशास्त्र-विषयक निर्णय में दिखाया गया है, तथापि उन आचार्यों के न तो नाट्यशास्त्र में नामोल्लेख ही है और न उनके ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में नाट्यशास्त्र का अङ्गात समय ही साहित्य का प्रारम्भिक काल माना जा सकता है। नाट्यशास्त्र के विषय-विवरण के अनुसार, उसमें शृंगारादि नवरसों के अतिरिक्त, केवल ४ अलङ्कार, १० दोष, १० गुण और वैदर्भी आदि रीतियों का निरूपण है। तदनन्तर अग्निपुराण के समय अलङ्कारों की संख्या ४ के स्थान पर लगभग १५ तक बढ़ित है। इसी प्रकार गुण, दोष, आदि के विवेचन में भी कुछ क्रम-विकास दृष्टिगत होता है। अतएव अग्निपुराण के समस तक क्रम-विकास की प्रथमावस्था सूचित होती है।

अग्निपुराण के बाद और भट्टि, भामह के पहले मध्यवर्ती दीर्घ काल में इसका क्रम-विकास अवश्य ही स्वीकार किया जायगा। क्योंकि भामह के काव्यालङ्कार द्वारा स्पष्ट है कि भामह के पूर्व बहुत से साहित्याचार्यों के ग्रन्थ थे, जिनमें कुछ लेखकों का भामह ने नामोल्लेख भी किया है। किन्तु वह क्रम-विकास किस-किस समय में किस किस आचार्य द्वारा हुआ, यह जानने के लिये उस समय के ग्रन्थ अनुपलब्ध होने के कारण हमारे सन्मुख कोई भी साधन नहीं है। अस्तु, अग्निपुराण के बाद उपलब्ध ग्रन्थों द्वारा छठीं शताब्दी के लगभग भामह ही साहित्याचार्य के रूप में हमारे सन्मुख आते हैं। भामह के ग्रन्थ में अलङ्कार साहित्य का क्रम-विकास दृष्टिगत होता है और भामह के बाद वामन के समय तक—आठवीं शताब्दी तक—दण्डी, उद्धट और वामन द्वारा यद्यपि अलङ्कारों की

संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई है, तथापि विषय-विवेचन की स्पष्टता द्वारा क्रम-विकास पर बहुत कुछ प्रकाश उपलब्ध होता है।

भामह के पश्चात् और चंद्रालोक के प्रणेता जयदेव के पूर्व लगभग ६, ७ शताब्दियों का समय साहित्य के क्रमविकास का महत्वपूर्ण काल है। साहित्य के विभिन्न सम्प्रदाय-प्रवर्तकों का और साहित्य के महत्वपूर्ण विकास का यही काल है। इस काल को हम साहित्य का पूर्ण उन्नत काल कह सकते हैं, जैसा कि इस ग्रंथ में दिये गये साहित्यग्रन्थों के विवरण द्वारा स्पष्ट ज्ञात हो सकता है। साहित्य के विकास का स्थान वही सुप्रसिद्ध काश्मीर प्रदेश है, जो उस समय विद्वानों के उद्भव का स्थान था और जिसने भामह, उद्घट, वामन, रुद्रट, ध्वनिकार श्री अनन्दवर्धनाचार्य, कुन्तक, महिम, अभिनवगुप्त, ममट और रुद्यक आदि सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों की जन्मभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त किया है। प्राचीन साहित्याचार्यों में एक दण्डी ही ऐसा है, जो संभवतः काश्मीर देशीय न होकर दाक्षिणात्य था। यद्यपि धाराधीश भोज और जयदेव जैसे प्रसिद्ध साहित्याचार्य भी उसी काल में हुए जो काश्मीर देशीय नहीं थे, किन्तु जिस काश्मीर प्रदेश के रूपों द्वारा साहित्य का उल्लेखनीय विकास हुआ भोज आदिक उसके पोषक मात्र थे—किसी विशेष सिद्धान्त या सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं।

इस काल के प्रारम्भ में हमसो भामह, उद्घट और रुद्रट मिलते हैं, जो प्रधानतया अलङ्कार सिद्धान्त के ही प्रतिपादक थे। इनके सिवा दण्डी और वामन ये दो ऐसे आचार्य मिलते हैं, जो अलङ्कारों को काव्यशोभाकारक स्वीकार करते हुए भी, गुण और रीति को काव्य में प्रधानता देते हैं। उसके बाद ध्वनिकार और श्री अनन्दवर्धनाचार्य जैसे महान् प्रतिभाशाली आचार्य भी इसी काल में हमको उपलब्ध होते हैं, जो नवीन और महत्वपूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। किर कुन्तल और महिमभट्ट जैसे ध्वनिसिद्धान्त के विरोधी भी इसी काल में दृष्टिगत होते हैं, यद्यपि इस कार्य में वे सफल न हो सके। महाराज भोज भी इसी काल में हुए, जिन्होंने अग्रिपुराण में जिस काव्यशैली का सूत्रपात

है, उसका सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश जैसे महत्वपूर्ण एवं वृहत्काय ग्रन्थों में विशदतया निरूपण किया है। धनञ्जय और अभिनवगुप्तपादाचार्य भी इसी काल में हुए जिनमें पहिले ने नाट्यशास्त्र के प्राचीनतम नाट्य-विषय का विस्तृत विवेचन किया और दूसरे ने नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती व्याख्या लिखकर उसके जटिल विषय को वोध-गम्य बना दिया तथा ध्वन्यालोक में प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त पर, जो जटिलता के अन्वकार में परिवेष्टित था, लोचन का प्रकाश ढाल कर स्पष्ट कर दिया। इसी समय में आचार्य मम्मट ने काव्य की विखरी हुई विभिन्न धाराओं को समन्वित करके यथोचित स्थान पर स्थापित किया; इसके बाद रुद्यक और उसके टीकाकार जयरथ जैसे विद्वानों ने भामहादि के स्थापित अलङ्कार सम्प्रदाय में जो शिथिलता सी आ गई थी उसे पुन प्रभावान्वित किया। जयदेव ने भी उसे परिवर्द्धित किया है। अलङ्कारों की संख्या में भी क्रमशः हस्ती काल में पर्याप्त वृद्धि हुई है। भामह के समय में अलङ्कारों की संख्या लगभग ४० तक थी जो वामन के समय तक लगभग ५० के और रुद्यक के समय तक लगभग १०० तक हो गई थी। जयदेव ने इसमें और वृद्धि की। इस काल में केवल अलङ्कारों की संख्या वृद्धि और उनका रूप ही परिष्कृत एवं विकसित नहीं किया गया किन्तु अन्य सभी काव्य-विषय विभिन्न साहित्याचार्यों द्वारा शाष्योत्तीर्ण किये जाकर परिष्कृत और चमत्कृत कर दिये गये। अतएव इस की छठी शताब्दी से लगभग १२ वीं शताब्दी तक का समय साहित्य के विकास-क्रम का यथार्थी महत्वपूर्ण काल है।

तदनन्तर १२ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक साहित्य के क्रम-विकास का उत्तर अथवा अन्तिम काल है। इस काल में रस, ध्वनि और अलङ्कारों का विवेचन प्रायः काव्यप्रकाश और अलङ्कार-सर्वस्व के अनुसार होता रहा। तथापि अलङ्कारों की संख्या में वृद्धि अवश्य देखी जाती है—१८ वीं शताब्दी तक के विभिन्न लेखकों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या लगभग १६० तक पहुँच गई है। किन्तु इस परिवर्द्धित संख्या में बहुत से अलङ्कार ऐसे भी हैं, जो प्राचीनाचार्यों

निष्कर्ष

द्वारा पूर्व निरूपित अलङ्कारों में गतार्थ हो जाते हैं ; इसके अतिरिक्त इस काल में साहित्य का कोई नवीन सिद्धान्त भी आविष्कृत नहीं हुआ है । और न इस समय के लेखकों में विश्वनाथ और परिंडतराज के सिवा कोई उल्लेखनीय लेखक ही हुआ । परिंडतराज ही ऐसे अन्तिम लेखक हैं, जिनके रसगङ्गाघर में मौलिकता का परिचय मिलता है, और जो ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के पश्चात् उच्च श्रेणी में स्थान प्राप्त कर सकता है । शेष अधिकांश ग्रन्थ या तो उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर ही अवलम्बित हैं अथवा प्रचीन ग्रन्थों के व्याख्यारूप हैं ।

१८४
प्राण तु विद्युति विद्युति विद्युति विद्युति विद्युति विद्युति विद्युति
विद्युति विद्युति विद्युति विद्युति विद्युति विद्युति विद्युति विद्युति



द्वितीय भाग

प्रामाणिकी

संस्कृत साहित्य का इतिहास

[द्वितीय भाग]

विषय प्रवेश

प्रथम भाग में किये गये साहित्याचार्यों और उनके ग्रन्थों के ऐतिहासिक विवेचन द्वारा ज्ञात होता है कि साहित्य के उपलब्ध लक्षण ग्रन्थों में सर्वप्रथम महामुनि भरत के नाट्यशास्त्र में काव्य के रस, अलङ्कार, गुण (या रीति) और दोषों का निरूपण किया गया है। अग्रिपुराण में भी इन्हीं विषयों का निरूपण है। तत्पश्चात् इसा की आठवीं शताब्दी तक (भामह से वामन के समय तक) यद्यपि नाट्यशास्त्र में प्रदर्शित इन्हीं विषयों का लक्षण-ग्रन्थों में विकासकम से विवेचन मिलता है, तथापि भामह आदि आचार्य विशेष-विशेष सिद्धान्तों के प्रतिपादन में विभक्त दृष्टिगत होते हैं।

भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक और भट्ट नायक आदि के स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध न होने पर भी अन्य ग्रन्थों में उद्घृत किये गये उनके मत द्वारा विदित होता है कि ये महामुनि भरत के रस-सिद्धान्त के विवेचक होने के कारण संभवतः रस-वादी थे। किर हमारे संमुख आचार्य भामह, दण्डी, उद्गट और वामन आते हैं। इन आचार्यों ने रस विषय पर कुछ भी महत्वपूर्ण प्रकाश नहीं डाला है। प्रधानतया अलङ्कार और गुण एवं दोषों पर ही विवेचन किया है। इन्होंने अलङ्कारादिकों को ही काव्य को अलंकृत करनेवाली सामग्री चतलाया है। अर्थात् ये काव्य के बाह्य सौंदर्य पर ही ध्यान देते रहे हैं। अतएव इन आचार्यों ने अपने प्रतिपाद्य विषय को ही प्रधानता दी है जैसा कि आगे रस आदि सम्प्रदायों के विवेचन में स्पष्ट किया जायगा।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

नाथ्यशास्त्र में रस का सम्बन्ध अधिकांश में दृश्य-काव्य-नाटकादि के साथ सम्बद्ध प्रतीत होने के कारण सम्भवतः उस समय शब्दकाव्य पर रस सिद्धान्त का पूर्ण रूप से प्रभाव न हो सका। अतएव भरत मुनि के बाद—भामह से बामन तक के उपलब्ध साहित्य ग्रन्थों में रस विषय का यद्यपि गम्भीर विवेचन दृष्टिगत नहीं होता है—बहुत ही संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, तथापि भरतसूत्र के व्याख्याकार भट्ठ लोल्लट आदि द्वारा रस पर भी आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। इसके द्वारा आठवीं शताब्दी तक काव्य में रस, अलङ्कार और गुण (या रीति) तीनों सिद्धान्तों के सम्प्रदाय का प्रवलित होना अवश्य सिद्ध होता है। तदनन्तर ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने अपनी नवाविष्कृत शैली द्वारा ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए दृश्य-काव्य के समान ही शब्द-काव्य में भी रस के सौंदर्य-कला-जन्य महत्व को समझाकर रस-सिद्धान्त के साथ रस-विषयक विभावादि पदार्थों की प्रधानता का शब्द-काव्य में भी स्थृष्ट प्रतिपादन कर दिया। साथ ही ध्वनिकारों ने काव्य में रस, अलङ्कार आदि, जो उस समय तक स्वतंत्र रूप में निरूपित किये जा रहे थे, उन सभी का सम्बन्ध अपने ध्वनिसिद्धान्त के साथ स्थापित करके ध्वनि का काव्य में सर्वत्र व्यापक रूप में साम्राज्य भी प्रतिपादित कर दिया। इसके बाद आचार्य मम्मट ने गम्भीर विवेचना द्वारा ध्वनिकारों के आदर्श पर इन सभी प्रवलित सिद्धान्तों का परस्पर सम्बन्ध और सुवर्णित स्थान निर्दिष्ट करके ध्वनि-सिद्धान्त का प्राधान्य और भी स्पष्ट करके दिखा दिया। नवीन सिद्धान्त कैसा ही दृढ़-मूल हो उसका विरोध किया जाना स्वाभाविक ही है। ध्वनि-सिद्धान्त को भी विच्छिन्न करने की कुछ विद्वानों द्वारा पर्यात चेष्टा की गई। प्रथम तो भरत सूत्र के तृतीय व्याख्याकार भट्ठ नायक ने रस विषयक भरतसूत्र की व्याख्या में ध्वनि-सिद्धान्त पर आक्षेप किया, उसके बाद महिम भट्ठ ने भरतसूत्र के द्वितीय व्याख्याकार श्री शंकुक के अनुमिति सिद्धान्त के और कुंतक ने भामह के वकोक्ति के व्यापक सिद्धान्त के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त पर तीव्र किन्तु क्षण-स्थायी आक्षेप किये। पर वे आक्षेप निर्मूल होने के कारण स्वतः शान्त हो गये। तथापि आपाततः

साहित्य ग्रन्थों के विषय

महिम को ध्वनि-सिद्धान्त-विरोधी और कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धांत के स्थापक के रूप में प्रसिद्धि तो प्राप्त हो ही गई। अस्तु इस प्रकार रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति यहीं पांच सिद्धान्त काव्य में सम्प्रदाय के रूप में कहे जाते हैं। इन सम्प्रदायों का निर्दर्शन ही इस द्वितीय भाग का प्रधान विषय है। पहले साहित्य ग्रन्थों का विषय प्रदर्शन कराया जाता है, उसी के अन्तर्गत क्रमशः इन सम्प्रदायों का विस्तृत विवेचन किया जायगा।

साहित्य ग्रन्थों के विषय

साहित्य ग्रन्थों के प्रधानतया ये विषय हैं—

- (१) काव्य का प्रयोजन।
- (२) काव्य का हेतु।
- (३) काव्य का सामान्य लक्षण।
- (४) काव्य के भेद रस, ध्वनि, गुणीभूतव्यड्य और अलङ्कारों का निरूपण।
- (५) काव्य का गंद्य और पद्य एवं दश्य और अन्य में विभाग।
- (६) काव्य के गुण और दोष।

किन्तु यह नियम नहीं कि एक ही ग्रन्थ में इन सभी विषयों का विवेचन हो। साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ विषय-विवेचन में कई भागों में विभक्त हैं—

- (अ) कुछ ग्रन्थों में प्रायः उपर्युक्त सभी विषयों का न्यूनाधिक विवेचन है, जैसे विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, हेमचन्द्र का काव्यानुशासन और विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण आदि।
- (आ) भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में ध्वनि और गुणीभूतव्यड्य को छोड़कर प्रायः अन्य सभी विषय हैं।
- (इ) भामद के काव्यालंकार, दण्डी के काव्यादर्श, वामन के काव्यालंकार सूत्र, और रुद्रट के काव्यालंकार में दश्य-काव्य और ध्वनि एवं गुणभूत व्यञ्जय

संस्कृत साहित का इतिहास

का विषय नहीं है, अन्य सभी विषय हैं। रस का कुछ विशेष विवेचन रुद्रट ने ही किया है। भामह और दण्डी ने अलङ्कारों के अन्तर्गत रसों का दिग्दर्शन मात्र कराया है और वामन ने सर्वथा नहीं।

(ई) आचार्य ममट के काव्यप्रकाश, पणिंडतराज के रसगङ्गाधर और जयदेव के चन्द्रालोक आदि में दृश्य-काव्य को छोड़कर सभी विषय हैं। रसगङ्गाधर में गुणभूत व्यङ्ग्य का लक्षण मात्र है।

(उ) धनञ्जय के दशरूपक में केवल दृश्य-काव्य का, रुद्रभट्ट के शृङ्गारतित्वक में और भानुदत्त की रसमञ्जरी आदि में केवल रस का, उद्धट के काव्यालङ्कार-सारसंग्रह में, सूर्यक के अलङ्कार सर्वस्व में, अप्पय के कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा में केवल अलङ्कार का विषय है।

(ऊ) ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में दृश्य-काव्य को छोड़कर प्रायः सभी विषय हैं किन्तु प्रधानतया ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

(ऋ) कुन्तक के वक्त्रोक्तिजीवित में प्रधानतया वक्त्रोक्ति सिद्धान्त का स्थापन, महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक में ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन और मुकुल की अभिधावृत्तिमात्रिका में तथा अप्पय के वृत्तिवार्तिक में केवल अभिधा आदि शब्द-वृत्तियों का विवेचन है।

साहित्य के इन विषयों का अब क्रमशः स्पष्टीकरण किया जाता है।

काव्य का प्रयोजन

किसी भी कार्य में निष्प्रयोजन किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए साहित्य ग्रन्थों में काव्य का लक्षण और उसके भेद दिखाने के पूर्व प्रायः काव्य का प्रयोजन अर्थात् काव्य किसलिये है या काव्य द्वारा क्या फल प्राप्त हो सकता है यह बताया गया है।

कुछ लोगों की धारणा है कि काव्य प्रायः शृङ्गारसात्मक होने के कारण केवल विषयी जनों के मनोरञ्जन का साधन मात्र है—इसके द्वारा अन्य कुछ लाभ

नहीं हो सकता। किन्तु ऐसे विचारवाले व्यक्ति अवश्य ही काव्य के रहस्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। काव्य के अध्ययन से केवल मनोरक्षण की ही प्राप्ति नहीं, अपितु धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक ज्ञान की शिक्षा एवं कायरों को साहस, वीरजनों को उत्साह, शाकात जनों को सान्त्वना, उद्दिश्च चित्तवालों को विश्रान्ति, काव्य प्रणेता कवि को सन्मान, यथा और द्रव्य की प्राप्ति होती है। महामुनि भरत कहते हैं—

“धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम् ।

निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ॥

छीबानां धाष्टर्यजननसुत्साहः शूरमार्निनाम् ।

अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ॥

.....

दुःखार्तीनां श्रमार्तीनां शोकार्तीनां तपस्त्रिनाम् ।

विश्रान्तिजननं काले नाळ्यमेतद्विष्यति ॥

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम् ।

वैदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ॥”

नाट्यशास्त्र ११०९-१२४

तात्पर्य यह है कि सत्काव्य से क्या नहीं हो सकता। काव्य के द्वारा सभी मनोभिलाष पूर्ण हो सकते हैं, जैसा कि रुद्रट ने कहा है—

“अर्थमनर्थोपशमं शमसममथेवा मतं यदेवास्य ।

विरचितरुचिरसुरस्तुतिरस्तिलं लभते तदेव कविः ॥”

—काव्यालं ११८

भास्त्र ने अर्थ, धर्म और काम के अतिरिक्त काव्य को मोक्ष का साधन भी कहा है—

“धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च ।

प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्” ॥

काव्यालं ११२

संस्कृत सहित्य का इतिहास

केवल यही क्यों भगवान् के गुणानुवाद एवं स्तुति रूप काव्यात्मक वर्णन द्वारा भगवत् प्राप्ति के प्रमाण पुराण और इतिहासों में भी पर्याप्त हैं।

ममटाचार्य ने कहा है—

“काव्यं यशसे उर्ध्वते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे” ॥

प्रभ हो सकता है कि यश, व्यवहार-ज्ञान, दुःखनाश, सुख और उपदेश के लिए क्या काव्य के सिवा अन्य कोई साधन नहीं है यदि है तो फिर काव्य का ऐसा महत्व क्यों? हाँ, अन्य साधन अवश्य हैं, पर उन सभी की अपेक्षा काव्यात्मक साधन महत्वपूर्ण हैं। देखिये, कुँए, बाग और तालाब आदि के निर्माण और स्थापन द्वारा यद्यपि यश अवश्य प्राप्त होता है किन्तु वह यश चिरस्थायी नहीं; कुछ काल अतिवाहित होने पर इन वस्तुओं के साथ ही वह नष्ट हो जाता है, रुद्र ने कहा है—

‘तत्कारितसुरसचनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन ।

न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युःसुक्वयो राज्ञाम्’

काव्यात्मा० १५

अनादि काल से इस भूमण्डल पर असंख्य राजा महाराजा और सम्राट् यशस्वी हो गए हैं। उन्होंने न मालूम कितने धार्मिक और वीरोचित कार्यों एवं स्थानादि निर्माण द्वारा अपना यश स्थायी रखने का प्रथल किया होगा, किन्तु उनमें से जिनके विषय में इतिहास में कुछ नहीं लिखा गया है, उनका कुछ भी स्मृति-चिह्न अवशेष नहीं है। किन्तु जिनका चरित्र महाभारतादि काव्यों^१ में अद्वितीय हो गया है उन्हीं का यश चिरस्थायी हो रहा है। विहण ने कहा है—

१ महाभारत की काव्यसंज्ञा श्री ब्रह्माजी द्वारा प्रदत्त है। देखो प्रथमभाग में महाभारत निवन्ध ।

'महीपतेः सन्ति न यस्य पाश्वे
कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि ।
भूपाः कियन्ते न बभूवरुव्यां
नामापि जानाति न कोऽपि तेषाम्' ।

—विक्रमाङ्गदेवचरित १२६

विद्वान् भी असंख्य होते आये हैं किन्तु उनमें भी जिन महाकवि कालिदा-
सादि ने ग्रन्थ निर्माण किये हैं उनका शारीरपात् होने पर भी वे अद्यापि काव्य
शरीर से अमर हो रहे हैं ।

द्रव्य-लाभ के साधन भी अनेक हैं किन्तु काव्य द्वारा जैसा सम्मानपूर्वक
द्रव्य-लाभ होता है वह महत्वपूर्ण है । प्राचीन काल में जिस प्रकार कवि और
विद्वानों को सम्मान के साथ द्रव्य-लाभ हुआ है उसका साक्षी इतिहास है । राज-
तरंगिणी द्वारा जात होता है कि उद्धटादिकों का प्रतिदिन एक लक्ष स्वर्णमुद्रा
का वेतन था । यही नहीं, जितने प्रसिद्ध सम्राट् और राजा हुए हैं उनके सन्धि-
विग्रहक मन्त्री प्रायः कवि ही होते थे । सम्प्रत काल में भी पाश्चात्य देशों में जहाँ
विद्वत्ता का मूल्य है, ग्रन्थ निर्माण द्वारा द्रव्य-लाभ के उदाहरण समक्ष में देखे
जाते हैं ।

लोक-व्यवहार के ज्ञान के लिये भी काव्य ही एक ऐसा साधन है जिसके
द्वारा सहज ही सभी लोक-व्यवहारों का ज्ञान उपलब्ध हो सकता है ।

दुःख-नाश के लिए सूर्यस्तुति से कुष्ठ आदि रोग-निवृत्ति के उदाहरण मध्य-
रादि कवियों के प्रसिद्ध हैं ।

आनन्द की प्राप्ति भी स्वर्गादि लोक के साधक यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं द्वारा
अवश्य होती है । पर कव ? कालान्तर में और देहान्तर में—तत्काल नहीं । किन्तु
काव्य-जनित आनन्द काव्य के श्रवण अथवा मनन के अनन्तर तत्काल ही उप-
लब्ध हो जाता है, आनन्द भी साधारण नहीं किन्तु ब्रह्मानन्द के समान परम
आनन्द—'ब्रह्मानन्दसहोदरः' (सा० दर्पण) । वस्तुतः काव्य-जन्य आनन्द अनु-
पम है, कहा है—

संस्कृत साहित्य का इतिहास

‘सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य ।
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमशांशमात्रेण’ ॥

—काव्यप्र० उ० ७ पृ० ६८६

राजानक कुन्तक ने तो चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—के आनन्द से भी बढ़कर काव्यामृतरसास्वाद को बताया है—

‘चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते’ ॥

—वकोक्तिजीवित पृ० ५

आत्मज्ञान के लिए वेदों में, धर्म के लिये धर्मशास्त्रों में, और नीति के लिये नीति ग्रन्थों में पर्याप्त उपदेश हैं और वाच्छनीय होने पर भी उनका मार्ग अत्यन्त गूढ़ और दुर्भेद्य होने के कारण उसमें प्रवेश करना दुःसाध्य है । अतएव उनके द्वारा आत्मोन्नति का अथवा धर्मधर्म का या लोक-व्यवहार का उपदेश जिज्ञासु जन ही ग्रहण कर सकते हैं । वेदों की श्रतियाँ प्रभु-समित शब्द हैं, वे आत्मज्ञान का राजाज्ञा के समान उपदेश करते हैं । और धर्मशास्त्र सुहृद-समित-शब्द हैं, वे मित्र के समान हिताहित को समझाते हैं । किन्तु राज्यानुशासन द्वारा धर्म का पालन और मित्रों के समझाने से सदाचार का ग्रहण विरले ही कर सकते हैं—अधिकारी होने पर ही इनसे इच्छित उपदेश मिल सकता है । प्रायः जो लोग उनके उपदेशों में रुचि ही नहीं रखते ऐसे लोगों को उनके द्वारा शिक्षा किस प्रकार प्राप्त हो सकती है । अतएव उनके लिये काव्य द्वारा ही उपदेश उपयुक्त हो सकता है क्योंकि काव्य कान्ता समित शब्द हैं । अर्थात् जिस-प्रकार कामिनी गुरुजनों के शासन में रहनेवाले अपने प्रियतम को विलक्षण कठोरादि हावभावों की मधुरता से अनुरक्त कर के अपने अनुकूल कर लेती है, उसी प्रकार सत्काव्य भी सुकुमारमति वेद-शास्त्रादि से विमुखजनों को मधुर, कोमल और कांतपदावली द्वारा शृङ्खरादि रसों की सरसता से अपने में अनुरक्त करके सदुपदेश देता है । कहने का अभिप्राय यह है, कि वेद और शास्त्र जन्य

उपदेश अवश्य ही अविद्यारूप व्याधि को सर्वथा नष्ट कर देते हैं, किन्तु वे कटु औषधि के समान हैं, जो अत्यन्त गुण-कारक होने पर भी सहसा सेवन नहीं की जा सकती किन्तु काव्य द्वारा उपदेश आहादक एवं मधुर अमृत के समान औषध रूप है जो सहज ही रुचिपूर्वक सेवन की जा सकती है। कहा है—

‘कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।

आहाद्यमृतबल्कान्यमविवेकगदापहम्” ॥

—वकोक्तिजीवित पृ० ६

काव्य द्वारा किस प्रकार उपदेश प्राप्त होता है इसके उदाहरण में काव्यों के मूल-खोत श्रीरामचरित्रात्मक श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण आदि काव्यों पर दृष्टिपात कीजिये। इनमें भगवान् श्रीरामचन्द्र, भगवती जनकनन्दिनी, मातु श्री कौशल्या, एवं सुमित्रा और भरत, लक्ष्मण आदि के आर्द्ध चरित्रों एवं कैक्यी आदि के अनिष्ट चरित्रों तथा रावणादि के पापाचरणों द्वारा तथा महाभारतादि सत्काव्यों में अनेकानेक इतिहासों के हृदयहारी वर्णनों में दिखाये गये उत्तम और निकृष्ट परिणामों द्वारा जो उपदेश प्राप्त हो सकता है वह वस्तुतः सहज और सुख-साध्य होने के कारण अन्य मार्गों से विलक्षण है। इसीलिये आचार्य भामह ने भी कहा है—

“स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुज्जते ।

प्रथमालीढ़मधवः पित्रन्ति कटुभेषजम्” ॥

—काव्यालं० ५।३

अर्थात् काव्यरस के मधुर आस्वाद से मिश्रित शास्त्रविहित शिक्षा का ग्रहण सुख साध्य है जिस प्रकार मधुर वस्तु के लोभ से बालक कटु औषधि भी पी लेता है।

ऊपर किये विवेचन द्वारा निर्विवाद सिद्ध है कि काव्य का अध्ययन केवल मनोरंजन मात्र नहीं किंतु अत्यन्त प्रयोजनीय भी है।

काव्य-हेतु

जिसके द्वारा काव्य-रचना में कवि को सफलता प्राप्त होती है, अर्थात् जिसका होना कवि में परमावश्यक है, उसे काव्य का हेतु कहते हैं।

काव्य का हेतु क्या है, इस विषय में साहित्याचार्यों के विभिन्न मत हैं। अधिकांश आचार्यों का मत है कि कवि के लिये शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों की ही परमावश्यकता है। इसके पूर्व कि इस विषय के विभिन्न मतों का उल्लेख किया जाय, इन तीनों की स्पष्टता करना आवश्यक है—

(१) 'शक्ति' का लक्षण रुद्रट ने यह लिखा है—

“मनसि सदा सुसमाधिनि विफुरणमनेकधा विधे यस्य ।

अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः” ॥

— काव्यालं० १।१५

जिसके द्वारा सुस्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का स्फुरण और कठिनता रद्दित पर्दों का भान होता है, काव्य-रचना के समय तत्काल अनेक शब्द और अर्थ हृदयस्थ हो जाते हैं; उसे शक्ति कहते हैं। शक्ति ही काव्य-रचना का बीजभूत संस्कार है, इसके बिना काव्य रचना हो ही नहीं सकती, यदि इठात् की भी जाती हैं तो उपहास के योग्य होती है। शक्ति का ही पर्याय 'प्रतिभा' है। प्रतिभा कवि को जन्म के साथ ही साथ प्राप्त होती है अर्थवा पूर्व पुरुष के प्रभाव से किसी देवता के प्रसाद द्वारा जन्म के बाद भी किसी किसी को उपलब्ध हो जाती है। आचार्य रुद्रट ने इसको सहजा और उत्पाद्या दो भेदों में विभक्त किया है, जिनमें बह सहजा को ही मुख्य मानता है।

(२) 'निपुणता'। श्रुति, स्मृति, पुराण, नाथ्य शास्त्र, काम-शास्त्र, योग-शास्त्र, आयुर्वेद, छन्द, व्याकरण, अभिधानकोश, कला, चतुर्वर्ग-साधन, रत्न-परीक्षा, गज, अश्वशास्त्र आदि विद्याओं के ग्रन्थों का एवं काव्य, एवं काव्य-शिक्षा विषयक और इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन तथा स्थावर, जङ्गम आदि के लोक-व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना, संक्षेप में काव्य के लिये उपयोगी

निपुणता के यही साधन हैं। यों तो कवि के लिये सभी विषयों के ज्ञान की परमावश्यकता है, भामह ने कहा है—

“न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।

जायते यज्ञ काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः” ॥

—काव्यालं० ५४

निपुणता का पर्याय व्युत्पत्ति भी है।

(३) ‘अभ्यास’ तो प्रसिद्ध ही है। काव्य के निर्माण और उसके सदसद् के विचार में योग्य विद्वानों द्वारा शिक्षा प्राप्त करना और काव्य के निर्माण एवं अध्ययन में निरन्तर प्रवृत्त रहने को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास द्वारा सुसंस्कृत प्रतिभा ही काव्यामृत उत्पन्न करने के लिये कामवेनु है। कहा है—

✓‘अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहति ।’

अच्छा, अब इसपर साहित्याचार्यों के मत देखिये। भामह का मत है—

“काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ।

—काव्यालं० ११५

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्” ॥

विलोक्यान्यनिवन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः” ॥

—काव्यालं० ११६

अर्थात् भामह शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों को काव्य का हेतु बतलाते हैं। और भामह के बाद दण्डी भी—

“नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम् ।

अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः” ॥

—काव्याद० ११०३

इस पद्य में तीनों को काव्य का कारण मानता है। किन्तु इसके अनन्तर दण्डी यह भी कहता है—

“न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना,
गुणानुबन्ध प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता,
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्” ॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती,
श्रमादुपाध्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा,
विद्यधगोष्ठीषु विहर्तुमीशते” ॥

—काव्याद० ११०४, १०५

अर्थात् दण्डी प्रतिभा के अभाव में भी केवल निपुणता और अभ्यास को ही काव्य रचना का कारण बताता है ।

इसके अनन्तर रुद्रट ने दण्डी का यह मत स्वीकार न करके भामह का अनुसरण किया है । उसने कहा है—

“तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुण करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिव्युत्पत्तिरभ्यासः” ॥

—काव्यालं० १११४

अर्थात् रुद्रट भी तीनों की आवश्यकता बताता है । मम्मटाचार्य ने भी दण्डी के मत को स्वीकार नहीं किया किन्तु भामह और रुद्रट के मत के साथ अपनी अनुमति दी और यह भी स्पष्ट कहा—

“शक्तिर्निपुणतालोककाव्यशास्त्राद्यवक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षाभ्यास इति हेतुस्तदुद्घवे ॥”

—काव्यप्र० १३

और इसकी वृत्ति में यह भी कह दिया है—

‘व्यः सम्मिलिता हेतुर्नतु हेतवः ।’

अर्थात् आचार्य मम्मट इन तीनों को पृथक् पृथक् स्वतंत्र कारण नहीं मानते किन्तु तीनों ही को सम्मिलित रूप में एक ही कारण स्वीकार करते हैं ।

प्रथम वाग्मट जैन आचार्य भी—

“प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा ॥”

—वाग्मटालं० १३

इस कारिका में तीनों ही को आवश्यक बताते हैं। सारांश यह कि उपर्युक्त आचार्य शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों को ही काव्य का हेतु मानते हैं। किन्तु कुछ आचार्य केवल प्रतिभा या शक्ति को ही काव्य का एक मात्र स्वतन्त्र कारण मानते हैं। इस मत के प्रतिपादक उपलब्ध ग्रन्थों में सर्वप्रथम वामन हैं। वामन ने कहा है—‘कवित्वबीजं प्रतिभानम् (काव्यालं० सूत्र १।३।१६) राजशेखर का भी यही मत है। राजशेखर ने इस मत की पुष्टि में मेधावी रुद्र और कुमारदासादि का उदाहरण दिया है जिन्होंने जन्मान्व कवि होने के कारण न तो शास्त्रों के अध्ययन से व्युत्पत्ति ही प्राप्त की थी और न अभ्यास ही बल्कि केवल प्रतिभा द्वारा काव्य निर्माण किया था। राजशेखर ने कहा है—

‘सा केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः’।

—काव्यमी० पृ० ११

द्वितीय वाग्मट राजशेखर का अनुयायी है, उसने भी यही कहा है—

‘प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम् ।

व्युत्पत्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ न तु काव्यहेतू ॥’

—काव्यानु० पृ० २ टीका

परिषडतराज जगन्नाथ ने अपनी आलोचना से इस विषय को भी अस्पृश्य नहीं रखा, वे प्रतिभा को काव्य का एक मात्र स्वतन्त्र कारण मानते हुए भी उसको दो भेदों में विभक्त करते हैं, एक प्रारब्धवश किसी देवता या महापुरुष के प्रसाद द्वारा प्राप्त अदृष्ट शक्ति और द्वितीय, व्युत्पत्ति और काव्य निर्माण के अभ्यास द्वारा प्राप्त शक्ति। अर्थात् जिस प्रकार अदृष्ट शक्ति को वे काव्योत्पत्ति का स्वतन्त्र कारण मानते हैं उसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास-जन्य शक्ति को भी स्वतन्त्र कारण ही मानते हैं, न कि तीनों के समूह को सम्मिलित रूप में एक ही कारण।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

यद्यपि इनका यह मत अधिकांश में दण्डी के मत के समान है किर भी इनका यह विवेचन आलोचनात्मक होने कारण विलक्षण प्रतीत होता है।

ऊपर के विवरण द्वारा स्पष्ट है कि अधिकांश आचार्यों का मत यही है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों सम्मिलित रूप में ही काव्य के कारण हैं। इनमें प्रतिभा की व्याधानता अवश्य है, क्योंकि काव्य-रचना के लिये कवि के हृदयस्तल में शब्दों और अर्थों का परिस्फुरण एवं पद-योजना का बीजभूत कारण प्रतिभा ही है। यदि काव्य-रचना करने की शक्ति ही न हो तो शास्त्र-जन्य व्युत्पत्ति एवं अभ्यास निष्कल हैं। किर भी सारासार के औचित्य का विचार व्युत्पत्ति पर ही अवलम्बित है। अतएव भगवान् वेदव्यास ने आज्ञा की है—

“कवित्वं दुर्लभं तत्र शरि च दुलभा ।
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः ॥”

— अग्निपुराण ३३७।४

और अभ्यास तो सर्वत्र ही वाञ्छनीय है। प्रथमावस्था और अभ्यस्तावस्था के कार्य में प्रत्यक्ष ही अन्तर दृष्टिगत होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है— ‘व्युत्पत्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।’ अर्थात् जिस प्रकार रस को चमकृत करने के लिये संस्कार—शाणोत्तीर्ण—करना आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य को चमत्कृत एवं मनोरञ्जक करने के लिये व्युत्पत्ति और अभ्यास परमावश्यक है, क्योंकि व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के उपकारक हैं। इसीलिये हमारे विचार में मम्मट आदि के मतानुसार प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को सम्मिलित रूप में ही ‘काव्य-हेतु’ मानना उचित है। मेधाविरुद्ध आदि के उदाहरण सर्वत्र लागू नहीं हो सकते।

काव्य का लक्षण

काव्य और कवि शब्द का अर्थ

‘काव्य’ शब्द का अर्थ कवि की कृति है—‘कवि द्वारा जो कार्य किया जाय उसे काव्य कहते हैं—‘कवेरिदं कार्य भावो वा (ध्यज्)—(मेदिनीकोष) ‘कवनीयं काव्यम्’ (अभिनवगुप्ताचार्य का ध्वन्यालोकलोचन,) ‘कवयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम् ।’ (विद्याघर की एकावली) । अच्छा, अब यह ज्ञातव्य है कि ‘कवि’ शब्द का क्या अर्थ है—

‘कवते सर्वं जानाति सर्वं वर्णयतीति कविः । यद्वा कुशब्दे + अच् = इः (शब्द कल्पद्रुम) तथैव ‘कवते श्लोकान् ग्रथते वर्णयति वा (अमरकोष)

अर्थात् सर्वज्ञ और सब विषयों का वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं । अतएव इसी व्यापक अर्थ के अनुसार सर्वप्रथम श्री परमेश्वर के लिये वेदों में कवि शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है—‘कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ।’ (शुक्र यजु० ४०।८) फिर ‘आदि कवि’ का प्रयोग वेदों के प्रकाशक श्री ब्रह्माजी के लिये किया गया है—‘तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये ।’ (श्रीमद्भागवत १।१।१) इसके बाद अन्य महर्षियों एवं विभिन्न शास्त्र-प्रणेताओं के लिये भी ‘कवि’ शब्द का प्रयोग देखा जाता है । तात्पर्य यह कि प्रारम्भ में ‘कवि’ का प्रयोग अधिकाधिक व्यापक अर्थ में किया गया है । किन्तु काव्य-प्रणेता के लिये विशेष रूप में संभवतः सबसे प्रथम महर्षि वाल्मीकि जी के लिये आदिकवि, तथैव भगवान् श्री वेदव्यास के लिये ‘कवि’ शब्द का प्रयोग दृष्टि-गत होता है । और इसीके अनुसार आदिकाव्य का प्रयोग श्रीवाल्मीकीय रामायण के एवं ‘काव्य’ का प्रयोग महाभारत के लिये किया गया है । श्रीवाल्मीकीय रामायण के तो प्रथेक सर्ग के अन्त में ‘इत्यार्थं आदिकाव्ये’ का उल्लेख है । और महाभारत के विषय में—‘कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ।’—(महाभा० १।६।१) यह वाक्य स्वयं श्रीवेदव्यास जी का है । इसके द्वारा विदित होता है कि ‘कवि’

संस्कृत साहित्य का इतिहास

शब्द का प्रयोग महर्षि वाल्मीकि के समय से ही एक विशिष्ट प्रकार की चित्तार्थक रमणीय शैली के रचनात्मक ग्रन्थ के रचयिता के लिये प्रचलित है। वेदव्यास भगवान् के—

‘अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथामै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥’

—अद्धिपुराण ३३९।१०

इस पद्य में जो कवि को एतादश महत्त्व दिया गया है, उसके द्वारा भी स्पष्ट है कि ‘कवि’ शब्द प्रतिभा-सम्पन्न एक विशेष प्रकार की असाधारण शैली की रचना करनेवाले विद्वान् के अर्थ में योगरूढ़ कर दिया गया है। तदनन्तर तो सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों द्वारा कवि और काव्य शब्द इसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है, जैसा कि भामह के—

‘प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता,
तदनुप्राणनाड्जीवेद् वर्णनानिपुणः कविः ॥’
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम् ॥२

और मम्मट के

काव्यम् ‘लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म...।’

—काव्यप्रकाश प्रथमोल्लास पृ० १२

इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट है।

१ काव्य रूपी अपार-संसार में कवि हो प्रजापति है—काव्य-संसार का सृष्टिकर्ता कवि ही है; कवि को यह संसार जिस प्रकार ईप्सित होता है उसी प्रकार यह परिवर्तित हो जाता है।

२ यह पद्य वामन के अलङ्कार सूत्र (११।१) की कामधेनु टीका में गोपेन्द्र-त्रिपुरहर ने भामह के नाम से उद्धृत किया गया है पर भामह के काव्यलङ्कार में दृष्टिगत नहीं होता है। हेमचन्द्र ने यह पद्य नामोल्लेख के विना काव्यानुशासन के विवेक में उद्धृत किया है।

काव्य का लक्षण

अच्छा, यह तो हुआ काव्य और कवि शब्द का शब्दार्थ। अब यह विवेश्री भरतमुनि चनीय है कि जिस कवि-कृति को काव्य कहा गया है उसका का काव्य-लक्षण स्वरूप क्या है—काव्य का लक्षण क्या है। इस विषय में प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार काव्य लक्षण का निर्माण किया है। सबसे प्रथम हमको काव्य के लक्षण के रूप में नाट्यशास्त्र में महामुनि भरत का यह पद्य मिलता है—

‘मृदुललितपदाद्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमनृत्ययोज्यम् ।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ।

— नाट्यशास्त्र १६।११८

अर्थात् (१) कोमल और मनोहर पदों से युक्त, (२) गूढ़ शब्द और अर्थ रहित, (३) सब लोगों के समझने में सुगम, (४) युक्ति-युक्त, (५) नृत्य में उपयोग करने योग्य, (६) रस के बहुत से स्रोत बहानेवाला, और (७) सन्धियों के सन्धान सहित हो वह काव्य उत्तम होता है।

इसमें काव्य के सात विशेषण हैं। प्रथम और दूसरे विशेषण में काव्य के उपयोगी शब्दार्थ का ग्रहण है। प्रथम द्वितीय और तृतीय विशेषणों में माधुर्य एवं प्रसादादि गुणों का ग्रहण है और द्वितीय विशेषण में दोषों से रहित होना कहा गया है। चतुर्थ विशेषण में संभवतः अलङ्कारादि का ग्रहण है एवं छठे विशेषण में काव्य का रसयुक्त होना कहा गया है। और पञ्चम और सप्तम विशेषण में दृश्य-काव्य (नाटिकादि) के उपयोगी विषयों का ग्रहण किया गया है।

अग्निपुराण का नाट्यशास्त्र के बाद अग्निपुराण में—
काव्य-लक्षण

संस्कृत साहित्य का इतिहास

‘शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता ।
अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यो विभिद्यते ।’

—अग्निपुराण ३३७।२-३

इस वाक्य द्वारा भगवान् वेदव्यास जी ने शास्त्र इतिहास से काव्य की पृथक्ता दिखाकर काव्य का लक्षण यह किया है—

‘संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थवच्छिन्नना पदावली ।
काव्यं शुरदलङ्कारं गुणवदोषवर्जितम् ।’

—अग्निपुराण ३३७।६-७

अर्थात् दोष-रहित, अलङ्कारसहित और गुणयुक्त पदावली—ऐसी पदावली जिसमें अभीष्ट अर्थ संक्षेप में भली प्रकार कहा जाय, काव्य है ।

भामह का अग्निपुराण के पश्चात् भामह ने काव्य का लक्षण यह काव्य-लक्षण दिया है—

‘शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।’ काव्यालङ्कार १।१६

दण्डी का काव्य-लक्षण भामह के बाद दण्डी ने—

‘शरीरं तावदिष्टार्थवच्छिन्नना पदावली ।’

—काव्यादर्श १।१०

यह लक्षण लिखा है । दण्डी ने अग्निपुराण के ‘संक्षेपाद्वाक्यं’ के स्थान पर ‘शरीर’ रख दिया है । किन्तु काव्यमर्मज्ञ विद्वान् इस लक्षण को अपूर्ण मानते हैं । क्योंकि दण्डी ने ‘पदावली’ को काव्य का शरीर माना है तो काव्य की आत्मा क्या है ? यह इन शेष रह जाता है । अत्थु, भामह और दण्डी ने यद्यपि लक्षण में दोषाभाव और सालङ्कार का समावेश नहीं किया है किन्तु भामह के—

‘सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।’

—काव्यालं० १।११

‘न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।’

—काव्यालं० १।१३—

और दण्डी के—

“तदल्पमपि नोपेह्यं काव्ये दुष्टं कर्यन्त् ।
स्याद्वपुः सुंदरमपि श्विरेणैकेन दुर्भगम् ॥”

—काव्यादर्श १७

“तैः शरीरं च काव्यानामलङ्घाराश्च दर्शिताः ।”

—काव्यादर्श ११०

इन वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि भामह और दण्डी ने दोष-रहित और अलङ्घार-स्थित शब्दार्थ को ही काव्य माना है। अतएव भामह और दण्डी स्थूल रूप से अभिपुराण के ही अनुयायी हैं। किन्तु अभिपुराण में रस ही काव्य का प्राणभूत माना गया है—

‘वाग्वैद्यग्न्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।

—अभिपुराण ३३७।३३

यद्यपि भामह ने—

‘युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।’

—काव्यालं० १।२१

इस वाक्य में महाकाव्य में रस की स्थिति होना आवश्यक बताया है। और दण्डी ने भी—

‘कामं सर्वोऽप्यलङ्घारो रसमर्थे निषिद्धति । (काव्याद० १।६२)

इस वाक्य में अलङ्घारों को रस के उत्कर्षक कहकर काव्य में रस की मुख्यता स्वीकार की है किर भी भामह और दण्डी ने अलङ्घारों को ही प्रधानता दी है

कि इन दोनों के विवेचन द्वारा प्रतीत होता ।

वामन का भामह और दण्डी के बाद वामन ने ‘काव्य’ शब्द की स्पष्टता में—
काव्य-लक्षण

संस्कृत साहित्य का हतिहास

‘काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् ।’ ‘सौन्दर्यमलङ्कारः ।’ ‘स दोषगुणालङ्कार-हानादानाभ्याम् ।’ (काव्यालङ्कार सूत्र १।१।१, २, ३)

यह तीन सूत्र लिखकर प्रथम सूत्र को वृत्ति में लिखा है—

‘काठ्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थ-मात्रवचनोऽत्र गृह्णते ।’

अर्थात् प्रथम सूत्र में वामन कहता है कि काव्य अलङ्कार सहित होने से ग्राह्य है । दूसरे सूत्र में कहता है ‘सौन्दर्य ही अलङ्कार है’ । और तीसरे सूत्र में वह कहता है । काव्य का दोष-रहित और गुण एवं अलङ्कार सहित होना ही सौन्दर्य है । फिर प्रथम सूत्र की वृत्ति में वामन यह कहता है कि ‘काव्य’ शब्द ऐसे शब्दार्थ का वाचक है जिसमें गुण और अलङ्कार दोनों हों । ‘काव्य’ के लक्षण में केवल ‘शब्दार्थ’ मात्र कहना लाक्षणिक^१ प्रयोग है ।

यहाँ तक तो काव्य के लक्षण के विषय में वामन और उसके पूर्ववर्ती भामह आदि का अविकांश में मतैक्य ही प्रतीत होता है किन्तु इसके आगे—रीतिरात्मा काव्यस्य ।’ (काव्यालं० सूत्र १।२।६) इस सूत्र और इसकी—‘रीतिनामेयमात्मा काव्यस्य । शरीरस्येवेति वाक्यशेषः ।’ इस वृत्ति द्वारा वामन ‘रीति’^२ को काव्य की आत्मा और शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानता है । वामन का यह मत इसके पूर्ववर्ती भामह आदि सभी आचार्यों से चिलकुल भिन्न है ।

१ जैसे ‘कौश्रों से दही की रक्षा करो’ इस वाक्य द्वारा केवल कौश्रों का ही नहीं किन्तु लक्षणा (उपादान लक्षणा) द्वारा जिस प्रकार दधि-भक्तक मात्र का अर्थ ग्रहण जिया जाता है उसी प्रकार ‘काव्य’ शब्द से शब्दार्थ के साथ गुण और अलङ्कार दोनों का ग्रहण किया गया है ।

२ वामन ने वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली—तीन रीतियाँ मानी हैं । ये रीतियाँ माधुर्य आदि गुणों पर निर्भर हैं । इस विषय में अधिक स्पष्टता आगे रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत की जायगी ।

वामन के अनन्तर आचार्य रुद्रट ने भामह का अनुसरण करते हुए काव्य

रुद्रट का
काव्य-लक्षण

का लक्षण तो 'ननु' शब्दार्थों का व्यम् १ (२१ पृ० ८) यही
लिखा है पर रुद्रट के विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि वह भी दोष-
रहत और अलङ्कार-सहित शब्दार्थ को ही काव्य मानता है ।

इसके सिवा रुद्रट काव्य रस की स्थिति का होना भी परमावश्यक बतलाता है—

'तस्मात्तकर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।'

—काव्यालङ्कार १२१२ पृ० १५०

ध्वनिकार
का मत

रुद्रट के बाद ध्वन्यालोक-प्रणेता ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने
अपने पूर्ववर्ती भामह आदि के लिखे हुए काव्य के सभी लक्षणों
को अनुपयुक्त समझ कर अपने नवीन किन्तु दृढ़मूल ध्वनि-सिद्धांत^२
द्वारा काव्य की आत्मा ध्वन्यर्थ (व्यंग्यार्थ) को ही ध्वन्यालोक
में सिद्ध किया है ।

कुन्तक का ध्वन्यालोक के बाद 'वक्रोक्तिजीवित' प्रणेता राजानक कुन्तक ने—
काव्य-लक्षण

'न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं
नाप्यर्थस्येति ।' (वक्रोक्तिजी० पृष्ठ १०)

इस वाक्य में भामहादि के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों को काव्य बतलाया
है । पर कुन्तक ने वक्रोक्ति-गर्भित^३ (उक्ति-वैचित्र्य वाले) शब्दार्थ को ही
काव्य माना है—

१ 'ननु' शब्द का प्रयोग रुद्रट ने प्रश्न के उत्तर के लिये किया है । इसकी
व्याख्या में नमिसाधु ने लिखा है—'ननु शब्दः पृष्ठप्रतिवचने ।'

२ ध्वनि और ध्वन्यार्थ की अधिक स्पष्टता आगे ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत
की गई है ।

३ वक्रोक्ति के विषय में आगे वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत विवेचन किया
गया है ।

‘शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
वन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदालहादकारिणि ।’

वक्रोक्तिजी० ११७ पृ० ७

इसके बाद धाराधीश महाराज भोज ने यद्यपि काव्य का लक्षण भोजराजा का काव्य-लक्षण स्पष्टतया नहीं लिखा है। परन्तु भोज के—

निर्देशं गुणचत्काञ्चयमलङ्घारैरलंकृतम्,
रसान्वितं कविः कुर्वन् कार्तिं प्रीतिं च विदति ।’

—सरस्वतीकण्ठाभरण १२ पृ० २

इन वाक्यों द्वारा काव्य के लक्षण के विषय में उसका यही मत समझा जा सकता है। इसमें भोज ने दोषाभाव और गुण अलङ्घार के सिवा रस का भी समावेश स्पष्ट कर दिया है।

भोजराज के अनन्तर सुप्रसिद्ध साहित्याचार्य ममट ने अपने ममट का काव्यप्रकाश में काव्य का लक्षण लिखा है—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः कापि ।

अर्थात् आचार्य ममट ने दोष-रहित, गुण एवं अलङ्घार युक्त और कहीं स्फुट अलङ्घार न भी हो ऐसे शब्द और अर्थ को काव्य बताया है।

हेमचन्द्र और विद्या-आचार्य ममट के बाद हेमचन्द्राचार्य ने—

‘अदोषौ सगुणौ सालङ्घारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।’

—काव्यानुशासन ग्रथम् अध्याय पृ० १६

और प्रतापरुद्रवशोभूषण के प्रणेता विद्यानाथ ने—

‘गुणालङ्घारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम् ।’

यह लक्षण लिखा है। हेमचन्द्र और विद्यानाथ ने ममटाचार्य का आनुसरण करते

हुए भी काव्यप्रकाश के 'अलंकृती' पद के स्थोन पर 'सालङ्कारौ' का प्रयोग किया है। वाग्मट प्रथम ने—

वाग्मट का 'साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम्,
काव्य-लक्षण स्फुटशीतिवसोपेतं काव्यंकुर्वति कीर्तये ।'

—वाग्मटालङ्कार ११२ पृ० ४

वाग्मट ने ऐसे शब्दार्थ को, जो गुण अलङ्कार से भूषित और 'रैति' एवं रस से युक्त हो काव्य बताया है। द्वितीय वाग्मट ने—

शब्दार्थैऽनिर्देषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम् ।

—काव्यानुशासन पृ० १४

इसमें प्रायः काव्यप्रकाश का अनुसरण है।

इनके बाद चन्द्रालोक प्रणेता पीयूषवर्ष जयदेव के—

जयदेव का 'निर्देषा लक्षणवती सरीतिगुणाभूषिता,

काव्य लक्षण सालंकाररसानेकवृत्तिर्बाकिाव्यनामभाक्'

चन्द्रालोक ११७

इस लक्षण में 'वृत्ति' का समावेश करके काव्य के सभी विषय रख दिये गये हैं।

जयदेव के बाद साहित्य-दर्पण में महाकवि विश्वनाथ ने अपने

विश्वनाथ का पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य का अनुसरण न करके—

काव्य लक्षण

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।' (साहित्यदर्पण ११३)

यह स्वतंत्र लक्षण लिखा है। विश्वनाथ का कहना है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है। रस शब्द का विश्वनाथ ने लड़-अर्थ केवल शङ्कारादि रस ही नहीं ग्रहण किया है किन्तु 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस शब्द के 'जो आत्मादित हो', इस यौगिक अर्थ के अनुसार भाव और भावाभास आदि का भी ग्रहण किया है। विश्वनाथ का यह लक्षण अधिकांश में शुद्धोदनि की*—

* शुद्धोदनि की कारिकाएँ हो केशव मिश्र ने अपने अलङ्कार-शेखर में लिखी हैं।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

‘काव्यं रसादिमद्वाक्यम् ।’ (अलङ्कारशेखर ११) इस कारिका पर निर्भर है । किन्तु इस कारिका में ‘रसादि’ में आदि पद द्वारा अलङ्कार आदि अन्य पदार्थों का भी ग्रहण किया गया है, पर विश्वनाथ केवल रसात्मक वाक्य को ही काव्य बतलाते हैं ।

विश्वनाथ के बाद परिणितराज जगन्नाथ ने काव्य का—
परिणितराज का ‘रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।’
काव्य-लक्षण

—रसगङ्गाधर

यह लक्षण लिखा है । इसमें रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को ही काव्य बताया गया है । परिणितराज को शब्द और अर्थ दोनों का काव्य कहा जाना स्वीकृत नहीं और न काव्य के लक्षण में दोष-रहित एवं गुण, अलंकार आदि का प्रयोग किया जाना ही । आप सारी रमणीयता का मूल-कारण केवल रस को ही नहीं मानते किन्तु आपके मत में किसी भी अर्थ के ज्ञान से आलोकिक आनन्द-वह कम हो या पर्यात-उपलब्ध हो जाय वही रमणीयता का आधारक होने से काव्य-शब्द-वाचक हो सकता है । परिणितराज ने अपने इस मत का प्रतिपादन करते हुए शब्द और अर्थ दोनों को काव्य बताने वाले भामह आदि एवं काव्य के लक्षण में ‘अदोषौ’ और ‘सगुण’ आदि का प्रयोग करने वाले मम्मट जैसे सुप्रसिद्ध आचार्यों की विस्तृत आलोचना की है । इसके विषय में आगे विवेचन किया जायगा । बस परिणितराज के समय तक ही काव्य के विवेचक सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों की अन्तिम सीमा है ।

काव्य के लक्षण पर विभिन्न आलोचनाएँ

ऊपर के विवेचन से विदित हो सकता है कि काव्य की परिभाषा समय-संयय पर विभिन्न आचार्यों द्वारा परिवर्तित होती रही है । इस विषय में कुछ आचार्यों द्वारा अपने मत को स्थापित करके लिये अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की आलोचनाएँ भी की गई हैं । पर विचारणीय यहाँ यह है कि उन आलोचनाओं में कितना तथ्यात्मक है । और इस परीक्षा में किस आचार्य की

दी हुई काव्य-परिभाषा यथार्थ उत्तीर्ण हो सकती है। अतएव इस विषय का भी यहाँ कुछ दिग्दर्शन कराया जान। उपर्युक्त होने के कारण आवश्यक है। यों तो विषय-विशेष के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण संक्षिप्त रूप में आलोचनात्मक विवेचन भामह के समय से ही मिलता है, जैसा कि इस प्रन्थ के प्रथम भाग में भामह, भट्ट और दण्डी विषयक निवन्धों में उल्लेख किया गया है। किन्तु काव्य-लक्षण के विषय में सर्वप्रथम आलोचनात्मक विवेचन का सुत्रपात हमको वामन के काव्यलङ्कार सूत्र में संक्षिप्त रूप में दृष्टिगत होता है। वामन के पूर्ववर्ती भामह आदि द्वारा काव्य के लक्षण में 'शब्दार्थों' का प्रयोग किया गया है, उसे वामन ने लाक्षणिक प्रयोग बताया है। और शब्द अर्थ को काव्य का शरीर बतला कर 'रीति' को काव्य का आत्मा माना है। अर्थात् वामन के पूर्ववर्ती भामहादिक काव्य में अलङ्कार को प्रधानता दे रहे थे किन्तु वामन ने रीति को प्रधानता दी है। पर इसके इस मत को आचार्य मण्डप ने बड़ी युक्ति-युक्त और सारगमित आलोचना द्वारा निर्मूल सिद्ध कर दिया है, जैसा कि आगे रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्पष्ट किया जायगा।

वामन के समकालीन उद्भटाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती उन साहित्याचार्यों के मत की—जिन्होंने गुणों को समवाय वृत्ति से और अलङ्कारों को संयोगवृत्ति से काव्य का शोभाकारक मानकर गुणों और अलङ्कारों में भेद बतलाया है—आलोचना करते हुए इस मत को गड्ढुलिका प्रवाह (भेदियाधसान) कह कर गुण और अलङ्कार दोनों को ही समवाय वृत्ति से काव्य का शोभा कारक माना है। भामह से वामन और उद्भट के समय तक काव्य के लक्षण में अलङ्कार और गुण का ही प्रधानतया समावेश होता रहा है अतएव काव्य में गुण प्रधान है या अलङ्कार, इसी विषय में उद्भट द्वारा यह आलोचना की गई है। किन्तु आचार्य मण्डप ने काव्यप्रकाश के अष्टमोल्लास (कारिका ६७ की वृत्ति) में उद्भट के इस मत की आलोचना में बहुत से उदाहरण दिखा कर गुणों और अलङ्कारों में स्पष्टतया भेद सिद्ध कर दिया है और काव्य के प्राणभूत अङ्गी रस के साथ गुण का और अलङ्कार का क्या सम्बन्ध है वह भी स्पष्ट

कर दिया है। इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण आगे अलङ्कर सम्प्रदाय और रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया जायगा।

वामन और उद्भट के बाद ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही काव्य के लक्षण के विषय में अपने पूर्वाचार्यों के विभिन्न मत उद्घृत करके और उस पर बहुत विस्तार के साथ आलोचनात्मक विवेचन करके 'काव्य की आत्मा ध्वन्यार्थ—व्यंग्यार्थ ही है' इस मत को दृढ़ प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है। ध्वनिकारों के ध्वनि-प्रतिपादक इस मत की राजानक कुन्तल ने अपने वकोक्ति-जीवित ग्रन्थ में और महिम भट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक ग्रन्थ में बहुत विस्तार के साथ आलोचना करके कुन्तल ने 'वकोक्ति' के और महिम ने अनुमान के अन्तर्गत ध्वनि को समावेश करने की यथेष्ट चेष्टा की है। यहां तक कि इन दोनों द्वारा लिखे गये उक्त दोनों ग्रन्थों का एक मात्र उद्देश्य ही ध्वनि सिद्धान्त को उच्छ्वसन करने का था। किन्तु कुन्तल का और महिम दोनों के ही ध्वनि-विरोधात्मक मत, दृढ़-मूल न होने के कारण परवर्ती सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने उन मतों को स्वीकार न करके उनका खण्डन और 'ध्वनि' का समर्थन किया है। इसके सिवा महिमभट्ट के इस मत की तो काव्य प्रकाश के पञ्चमोऽसास में विस्तृत आलोचना करके आचार्य मम्मट ने उसमें सर्वथा भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। इस विषय की विस्तृत विवेचना आगे ध्वनि-सम्प्रदाय और वकोक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत की जायगी। अतएव यहां इस विषय पर अधिक विवेचन अनावश्यक है।

ध्वन्यालोक के बाद आलोचना का विषय आचार्य मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश में लिखा गया काव्य का लक्षण है जिसको विभिन्न साहित्याचार्यों द्वारा की गई आलोचना का केन्द्र कहना उचित होगा। इसके प्रथम कि उन आलोचनाओं पर विवेचन किया जाय काव्यप्रकाशोक्त लक्षण का स्पष्टीकरण किया जाना उपयुक्त होगा। काव्यप्रकाश में काव्य का लक्षण—

'तददोघौ शब्दार्थौ संगुणावनलंकृतीपुनःकापि'
यह दिया गया है।

इस लक्षण में ऐसे शब्द और अर्थ को काव्य बताया गया है, जो दोष-रहित और गुण अलङ्कार सहित हों तथा कहाँ अलङ्कार स्पष्ट न भी हो। इस लक्षण में 'शब्द' के प्रयोग द्वारा तीनों प्रकार के—वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों का और 'अर्थ' के प्रयोग द्वारा तीनों प्रकार के—वाच्य, लक्ष्य और व्यञ्य अर्थों का ग्रहण किया गया है। 'वाच्यार्थ' द्वारा वन, नदी आदि वातु वर्णनात्मक और अलङ्कार रचनात्मक काव्य के चमत्कार का तथा लक्ष्यार्थ द्वारा लक्षण शक्ति के चमत्कार का समावेश हो जाता है। और व्यञ्यार्थ द्वारा अभिधा मूलाध्वनि के अन्तर्गत रस, रसाभास एवं भाव आदि असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि के और वस्तु-ध्वनि, अलङ्कार-ध्वनि आदि संलक्ष्यक्रम-ध्वनि के एवं लक्षण-मूला—अविवक्षित वाच्य-ध्वनि के अन्तर्गत अर्थान्तर संक्रमितध्वनि तथा अत्यन्तिरक्तवाच्य-ध्वनि के चमत्कार का समावेश हो जाता है। इस प्रकार काव्य के लक्षण में काव्यत्व की पतिष्ठा प्राप्त होने योग्य सभी रचनाओं का समावेश करके फिर आचार्य मम्मट ने—

'इदमुदत्तममतिशयिने व्यंगये वाच्याद्वनिर्बुधैः कथितः ।'

'अताहशि गुणोभूतव्यंग्यं व्यंगये तु मध्यमम् ।'

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंशं त्ववरं सृतम् ।'

— काव्यप्रकाश १५, ६

इन कारिकाओं द्वारा काव्य को तीन भेदों में—उत्तम, मध्यम और अधम—संज्ञा से विभक्त कर दिया है। इसके बाद फिर अष्टमोऽज्ञास में रस एवं गुण, अलङ्कार का काव्य में क्या स्थान है, यह बताते हुए काव्य में रस का सर्वोपरि प्राधान्य भी स्पष्ट कर दिया है जैसा कि संक्षेप में पहले दिखाया गया है।

काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर आलोचनाएँ और उनका खण्डन

प्रथम तो चन्द्रालोक में काव्यप्रकाशोक्त लक्षण के 'अनलंकृती' शब्द पर पीयूषवर्ष यदेव ने आक्षेप किया है, मम्मटाचार्य को मूर्ख ठहराने के लिये उनकी दिल्लभी उड़ाई है कि—

संस्कृत साहित्य का इतिहास

‘अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती,’^१
असौ न मन्यते करमादनुष्णमनलंकृती।’

—चन्द्रालोक १।८

किन्तु इस आक्षेप द्वारा स्वयं जयदेव उपहासास्पद हो गया है। क्योंकि ‘अनलंकृती’ का अर्थ स्वयं ममटाचार्य ने वृत्ति में ‘अस्फुट अलङ्कार’ स्पष्ट लिख दिया है। यह तो जयदेव भी सिद्ध नहीं कर सकता कि काव्य में सर्वत्र अलङ्कार की स्थिति स्फुट (स्पष्ट) रूप से ही रहती है—अस्पष्ट कहीं भी नहीं। अस्फुट अलङ्कार का उदाहरण स्वयं ममटाचार्य ने दिखाया ही है। काव्य में प्रायः ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें किसी अलङ्कार की स्पष्ट स्थिति नहीं होती। अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं, महर्षि वाल्मीकि का श्री रामायण के प्रारम्भ में ही—

‘मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमःशाश्वतीः समाः,
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।’

यह पद्य ऐसा है जिसमें स्पष्टतया किसी अलङ्कार की स्थिति नहीं है+।

और इस श्लोक में काव्यत्व का अभाव कहने का दुःसाहस तो जयदेव भी

१ जो विद्वान् अलङ्कार रहित शब्द और अर्थ को काव्य स्वीकार करता है, वह अग्नि को भी उषण्टा-रहित क्यों नहीं मानता है ?

+ यदि यह कहा जाय कि इस पद्य के पूर्वार्द्ध में कहे हुए वाक्य को सिद्ध करने के लिये उत्तरार्द्ध में उसका कारण कहा जाने से ‘काव्यलिङ्ग’ अलङ्कार है। तो इसका उत्तर यह है कि काव्यलिङ्ग में जो ‘कारण’ (हेतु) कहा जाता है उसका ‘कारण’ शब्द द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता—वह अर्थ द्वारा बोध हुआ करता है। कहा है—‘गम्यमानहेतुत्वकस्यैव हेतोः सुन्दरत्वेन प्राचीनैः काव्यलिङ्गताभ्युपगमात्।’ (काव्यप्रकाश की उद्योत व्याख्या) किन्तु यहाँ ‘यत्’ के प्रयोग द्वारा ‘कारण’ का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया गया है अतएव यहाँ किसी अलङ्कार की स्फुट स्थिति नहीं है।

काव्य का लक्षण

नहीं कर सकता था। इसमें करुण रस की ध्वनि होने के कारण श्री वाल्मीकीय रामायण की रचना का मूलाधार यही श्लोक है। अतएव महान् साहित्याचार्य ध्वनिकार ने ध्वनि काव्य के उदाहरण में सर्वप्रथम इसका ही निर्वाचन किया है।

जयदेव के बाद अश्वादश भाषावारविलासिनी भुजङ्ग साहित्य को दर्पण में स्पष्ट दिखाने के अभिमानी विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश के—

‘तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः कापि ।’

इस काव्य-लक्षण के प्रत्येक पद में दोष दिखाया है—

१ प्रथम तो इस लक्षण में प्रयुक्त ‘अदौषौ’ के विषय में विश्वनाथ का कहना है—“यदि दोष-रहित शब्दार्थ ही काव्य माना जायगा तो काव्य निर्विषय हो जायगा—किसी रचना को काव्य कहा ही न जा सकेगा। किन्तु—

‘न्यकारो ह्यमेव मे यदग्यस्तत्रायसौ तापसः ।

सोऽत्यत्रैव निहन्ति राज्ञसकुलं जीवत्यहो रावणः ।

धिग्धिक् शक्तिं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा ।

स्वर्गप्राप्तिराविलुण्ठनवृथोन्द्धूनैः किमेभिर्भुजैः × ।’

× यह पद्य हनुमान नाटक का है। भगवान् श्री रामचन्द्र द्वारा अहंस्य राज्ञसों का विनाश हो जाने पर अपने को धिक्कारते हुए रावण की उक्ति है कि प्रथम तो मेरे शत्रु का होना ही अपमान है (‘मे’ और ‘अरयः’ में यह ध्वनि है कि मुझ अलौकिक बल-शाली इन्द्रादि के विजेता का शत्रु होना ही बड़ा आश्चर्य है) इस पर भी वह (शत्रु) एक नहीं अनेक हैं फिर वह (शत्रु) तापस (यहाँ ‘असौ’ और ‘तापस’ में यह ध्वनि है कि वह शत्रु भी मनुष्य और मनुष्यों में भी बन में भटकते वाला, खींचियोग से दुखित तापस अर्थात् पुरुषार्थ-हीन जो हम राज्ञसों का भक्ष्य है) फिर उसका यहाँ (‘यहाँ’ में यह ध्वनि है कि मेरे समीप ही इस लङ्घा में जो समुद्र के मध्य में मेरे द्वारा सुरक्षित है) आ जाना और मुझ रावण के जीते जी राज्ञस-कुल का संहार करना (‘जीवित’ पद में काक्षात्कृति ध्वनि यह है कि क्या

संस्कृत साहित्य का इतिहास

इस पद्य में विवेयाविमर्श दोष होने पर भी इस पद्य को महान् साहित्याचार्य श्री आनन्दवर्धन ने उत्तम काव्य ध्वनि के उदाहरण में (ध्वन्या० उद्योत ३।१६ की वृत्ति में) दिखाया है । किर इसमें काव्यत्व का अभाव तो माना ही नहीं जा सकता । अतएव ऐसे काव्यों में काव्यप्रकाशोक्त लक्षण की 'अदौषी' के प्रयोग द्वारा अव्याप्ति होने के कारण इस लक्षण में 'अव्याप्ति'१ दोष है ।'

विश्वनाथ का यह आक्षेप सर्वथा निराधार है । काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में प्रयुक्त 'अदौषी' (दौष रहित) पद में ऐसे दोष का अभाव कहा गया है जो उद्देश्य की प्रतीति का प्रतिबन्धक हो२ । अर्थात् कवि का उद्देश्य जिस-जिस व्यङ्ग्यार्थ और वाच्चार्थ में वैचित्र्य (चमत्कार) दिखाने का हो उन सभी वैचित्र्यों की प्रतीति में जिसके द्वारा स्काचट होती हो । यदि कवि का उद्देश्य

मैं जी रहा हूँ, नहीं जीता हुआ ही मृतक तुल्य हूँ और 'रावण' पद में अर्थात् तर संक्रमित ध्वनि यह है कि मैं संसार को रुलाने वाला रावण, उसे यह तुच्छ तापस भयभीत कर रहा है) केवल मुझे ही नहीं इन्द्रजीत (सेधनाद) को भी धिक्कार है (ध्वनि यह कि इन्द्र को पराजित करके अपने को विश्वविजयी समझ कर मेघनाद का गर्व करना भी व्यर्थ है) और कुम्भकर्ण के जगाने का भी कुछ फल नहीं हो रहा है (ध्वनि यह कि जिस कुम्भकर्ण को निरुपम पराक्रमी समझ जरूर जगाया था वह भी कुछ न कर सका) अतएव स्वर्ग जैसे छोटे से गाँव को विध्वंस करके जिस गर्व से मैं अपनी भुजाओं को फुला रहा हूँ वह व्यर्थ ही है (ध्वनि यह कि जिन भुजाओं से मैंने कैलाश को उठा लिया था वे भुजाएँ भी हाय, इस समय कुण्ठित हो रही हैं ।)

१ जो लक्षण अपने अभीष्ट उदाहरण में व्याप्ति (धृष्टि) नहीं हो सकता है उस लक्षण में अव्याप्ति दोष होता है ।

२ कहा है—‘दोषत्वं च शुद्धेश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकत्वम् ।’ काव्यप्रकाश वामनाचार्य व्याख्या पृ० १९,३२० और देखिये सप्तमोल्लास के प्रारम्भ में प्रदीप एवं उद्योत व्याख्या पृष्ठ २४५ आनन्दाश्रम संस्करण सन् १९११ ।

व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों के वैचित्र्य में हो, वहाँ दोनों की ही प्रतीति न हो, वही रचना कव्य न मानी जायगी। जहाँ वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के वैचित्र्य में एक के वैचित्र्य में रुकावट होने पर भी दूसरे के वैचित्र्य में रुकावट न होगी तो उसमें काव्यव्वक का अभाव नहीं कहा जायगा। केवल एक अंश में दोष होने के कारण वह आंशिक दुष्ट काव्य कहा जा सकता है। उपर्युक्त 'न्यक्तारोह्यमेव' पद्म में कवि का प्रधान उद्देश्य, जो रावण द्वारा अपने विषय में दुःख का अतिशय सूचना कराना है, वह 'न्यक्तारोह्यमेव' इस पद्म के 'यदरथः' 'तत्राप्यसौतापसः' इत्यादि वाक्यों के व्यङ्ग्यार्थ द्वारा सूचित होता है। काव्यप्रकाश में इस पद्म में जो 'अविसृष्टविधेयांशः' दोष कहा गया है वह 'न्यक्तारो' और 'हाथमेव' इन पदों के पूर्वापर प्रयोग में वाक्यगत दोष बताया गया है, न कि व्यङ्ग्यार्थ में क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कार में किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती है। अतएव इस पद्म में वाक्य-गत दोष होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ का वैचित्र्य अनुरुप होने के कारण मम्मट के लक्षण की अव्यासि नहीं है। इसके सिवा मम्मट ने स्वयं—

ब्रकाद्यौचित्यवशादोषोऽपिगुणः कर्त्त्वकिञ्चोभौ ।'

—काव्यप्र० ७।५९

वह लिख कर इसकी बृत्ति में उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि बक्ता, प्रतिपाद्य, व्यंग्य, वाच्य और प्रकरण आदि के अचित्य (महत्व) के कारण कहीं-कहीं दोष नहीं भी रहता है। यही नहीं कहीं दोष भी गुण हो जाता है। इस विषय का काव्यप्रदीप में पर्यास विवेचन किया गया है।

(२) विश्वनाथ का दूसरा आनेप यह है कि काव्यप्रकाशोक्त इस लक्षण में जो 'शब्दार्थों' का 'सगुणौ' विशेषण दिया गया है, अर्थात् 'ऐसे शब्द और अर्थ जो गुण सहित हों' यह कहा गया है, वह भी ठाक नहीं। क्योंकि 'गुण' केवल रस में ही रहते हैं—शब्द और अर्थ में नहीं। स्वयं काव्यप्रकाशकार ने भी—

‘ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः ।’ †

—काव्यप्रकाश उ लादृश

इस कारिका में यही स्वीकार किया है कि जैसे चेतन आत्मा के शूरता आदि धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य के प्रधान भूत रस के ही धर्म हैं। और रस में गुणों की अचल स्थिति रहती है। ऐसी स्थिति में शब्द और अर्थ को ‘सगुणै’ (गुणयुक्त) किस प्रकार कहा जा सकता है? यदि शब्द अर्थ और रस के व्यञ्जक (प्रकट करने वाले) होने के कारण रस के द्वारा इनमें गुण की स्थिति मानी जाय तो ‘सरसौ’ (स-रस) कहना अधिक युक्त है।” इसका उत्तर यह है कि जैसा कि काव्यप्रकाशीकृत लक्षण के स्पष्टीकरण में दिखाया गया है ‘शब्दार्थै’ के प्रयोग द्वारा वाच्य, लक्ष्य और व्यञ्जन तीनों प्रकार के अर्थों का ग्रहण है। जब कि व्यञ्जयार्थ द्वारा रस का ग्रहण भी हो गया तो किर ‘सरसौ’ के प्रयोग को आवश्यकता ही कहाँ रही? अब यदि यह कहा जाय कि किर ‘सगुणै’ का प्रयोग क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि ‘शब्दार्थै’ में रस के धर्म गुणों का ग्रहण अवश्य हो गया है। परन्तु ‘शब्दार्थै’ के साथ जब तक ‘सगुणै’ न कहा जाय, गुण-व्यञ्जक शब्दार्थ का ग्रहण केवल ‘शब्दार्थै’ के प्रयोग द्वारा नहीं हो सकता। और काव्य में रस आदि वर्णनीय विषय के अनुकूल मधुर आदि गुण व्यञ्जक रचना का होना भी परमावश्यक है इसलिये वर्णनीय रस के प्रतिकूल शब्दार्थ रचना के होने में दोष माना गया है। अतएव यहाँ ‘सगुणै’ का प्रयोग गुण-व्यञ्जक शब्दार्थ के लिये किया गया है जैसा कि प्रशीपकार ने ‘सगुणै’ की व्याख्या में स्पष्ट कहा है—

‘गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकपरं गुणपदम् ।’

—प्रदीप पृ १०

† काव्य के अङ्गों (प्रधान) स्थानीय शङ्कार आदि रस के चेतन आत्मा के शूरता आदि को भाँति उत्कर्ष करने वाले और रस में अचल स्थिति रहनेवाले जो धर्म हैं वे गुण हैं।

अच्छा यह तो हुआ विश्वनाथ के इस आक्षेप का उत्तर । अब इस प्रसङ्ग में काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर आक्षेप करनेवाले विश्वनाथ से ही यह प्रश्न किया जा सकता है कि आपके—‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ इस काव्य-लक्षण में आपने रसात्मक वाक्य को ही काव्य बताया है । आपके इस लक्षण में बहुत्रीहि समास हो सकता है और बहुत्रीहि समास में अन्य पद की प्रधानता रहती ही है । आपके इस लक्षण में अन्य पद है ‘वाक्य’ । अतः ‘वाक्य’ पद प्रधान होने से इसका अर्थ यही होगा कि—‘रस है आत्मा जिसका ऐसा ‘वाक्य’ काव्य है ।’ किन्तु ‘वाक्य’ भी तो शब्द-विशेष ही है । इससे सिद्ध हुआ कि आप भी शब्द-विशेष को ही काव्य बतलाते हैं । किन्तु शब्द तो आकाश का गुण है । और रस का स्वरूप जब आप—‘सर्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय’ अर्थात् अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्त्व गुण के उद्रेक द्वारा साक्षात् होनेवाला अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाश रूप आनन्दमय और चिन्मय बतलाते हैं, तो रस के इस लक्षण के अनुसार ज्ञानस्वरूप रस का शब्द के साथ सम्बन्ध ही क्या ? यदि आप यह कहें “शब्द में रस की स्थिति नहीं” तो फिर आप वाक्य को रसात्मक किस प्रकार कह सकते हैं ? जब किसी वस्तु विशेष का जिसमें अस्तित्व ही नहीं उस वस्तु को उसकी आत्मा किस प्रकार कहा जा सकता है ? यदि आप इस आपत्ति से बचने के लिये यह कहें कि शब्द के साथ रस का उपचार (परम्परा) से सम्बन्ध कहा जा सकता है तो ऐसी परिस्थिति में फिर आपका काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में प्रयुक्त ‘शब्दार्थौ सगुणौ’ पर इतना आकाएंडताएंडव क्यों ? जब आप शब्द के साथ रस का परंपरया सम्बन्ध मानेंगे तो आपके मतानुसार शब्द के साथ गुणों का भी परम्परया सम्बन्ध मानना अनिवार्य होगा ? इसके सिवा काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में तो ‘सगुणौ’ के प्रयोग का उद्देश्य ही भन्न है जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है ।

(३) विश्वनाथ का तीसरा आक्षेप ‘अनलंकृती’ के प्रयोग पर यह है कि इस प्रयोग द्वारा अलङ्कार का भी काव्य के लक्षण में समावेश किया

गया है। किन्तु जब स्वयं ममट अलङ्कारों को लौकिक आभूषणों की भौति काव्य के बाह्य शोभाकारक बताते हैं तो जिस प्रकार आभूषणों के न होने पर भी किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार अलङ्कार के बिना काव्य का भी काव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता, फिर अलङ्कार का काव्य के स्वरूप लक्षण में सन्ति वेश किया जाना अनुचित है।”

विश्वनाथ का यह आक्षेप भी निर्मूल है। ममटाचार्य ने क्या कहा है, वह तो आपने समझा ही नहीं और खण्डन भी कर दिया। बात यह है कि काव्य-प्रकाश के अष्टमोङ्ग्रास में जहाँ यह स्पष्ट किया है कि गुण और अलङ्कार में क्या मेद है वहाँ गुण और अलङ्कार दोनों को ही रस के उत्कर्षक बतला कर इन में यह भेद बताया है कि गुण तो रस के उत्कर्ष बतला कर इन में यह भेद बताया है कि गुण तो रस के धर्म हैं। अतएव गुणों की रस के साथ अचल स्थिति रहने के कारण गुण रस के साक्षात् उत्कर्षक हैं। किन्तु अलङ्कार रस के धर्म नहीं अतः वे (अलङ्कार) रस के साक्षात् उत्कर्षक न होकर शब्दार्थ द्वारा परस्पर सम्बन्ध से रस का उत्कर्ष करते हैं। जैसे हार आदि आभूषण कठ आदि में धारण करने पर पहिले कण्ठ आदि को शोभित करते हैं, फिर कण्ठ आदि के द्वारा परम्परा सम्बन्ध से सारे शरीर को शोभित करते हैं। अतएव अलङ्कारों की रस के साथ अचल स्थिति नहीं—रस वाले काव्य में रस के साथ अलङ्कार रह कर भी कहीं शब्दार्थ द्वारा रस का उत्कर्ष करते हैं और कहीं नहीं भी करते। किन्तु ममट के इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि केवल अलङ्कार की स्थिति होने पर रस के बिना ‘काव्य’ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ‘काव्यत्व’ तो चमत्कार पर निर्भर है। और वह (चमत्कार) या तो रस आदि व्यञ्जन्यार्थ की स्थिति द्वारा या वाच्यार्थ रूप अलङ्कार की स्थिति द्वारा हो सकता है। इसीलिये ममट ने काव्य-लक्षण लिखने के बाद उसके स्वरूप को भली प्रकार समझाने के लिये काव्य को उत्तम, मध्यम और अधम तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया है। यदि केवल रस युक्त रचना को ही काव्य माना जाय तब तो नीरस रचना में जहाँ अलङ्कार की स्थिति

होगी वहाँ काव्य माना ही नहीं जायगा। किन्तु सर्वी साहित्याचार्यों ने केवल अलङ्कारात्मक रचना में भी काव्य माना है। यही नहीं—काव्य का ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ यह लक्षण लिखने वाले और मम्पट पर आक्षेप करने वाले स्वयं विश्वनाथ ने भी अलङ्कारात्मक रचना में काव्यत्व स्वीकार करके ही साहित्यदर्पण के लगभग एक चतुर्थांश भाग में (द्वादश अर्चल्लेश में) अलङ्कार विषय का निरूपण किया है।

जगर के विवेचन द्वारा ज्ञात हो सकता है कि काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर कविराज विश्वनाथ द्वारा की गई आलोचना में कितना तथ्य है; इसी प्रकार विश्वनाथ ने ध्वन्यालोक में काव्य-विषयक विवेचन के—‘काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिः……..’ इत्यादि कारिकाओं में पूर्वापर विरोध दिला वर ध्वनिकारों पर भी आक्षेप किया है। इस विषय पर विस्तार भय से अधिक न लिख वर यही कहना पर्याप्त है कि वह आक्षेप भी केवल उपादासास्पद है।

अच्छा, अब इस प्रसङ्ग में विश्वनाथ के ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ इस लक्षण पर भी, जिसको उसने पूर्वाचार्यों के लक्षणों को दूषित बताकर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति आदि दोषों से निर्लिप्त बताया है, विचार करना आवश्यक है कि वह कहाँ तक निर्देश है। विश्वनाथ काव्य के लक्षण में रसात्मक वाक्य को ही काव्य स्वीकार करता है। प्रश्न होता है कि इस लक्षण के अनुसार जो रचना, वस्तु वर्णनात्मक अथवा अलङ्कार रचनात्मक होती हैं उनकी क्या दशा होगी? आपके मतानुसार तो ऐसी रचना जिस में रस की स्थिति न हो काव्य न होगी। यदि आप यह कहें कि इस रस रहित रचना को काव्य मानते ही कब हैं तो प्रश्न होता है कि आपने साहित्यदर्पण में ध्वनि-काव्य के भेदों के अन्तर्गत वस्तु ध्वनि को क्यों स्वीकार किया? यदि आप यह कहें कि वस्तु ध्वनि में भी रसकी स्थिति, स्पष्ट न रहकर अस्पष्ट रूपमें रहती है, तो यह दलील आपकी नहीं चल सकती क्योंकि वस्तु-ध्वनि में प्रायः रस की स्थिति सर्वथा नहीं भी होती। साहित्यदर्पण में ही आपने—

त्वामस्मि वच्चिम विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमन्त्र विधेहि तत् ॥'

— साहित्यदर्पण परिच्छेद ४

इस पद्य को अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि-काव्य के उदाहरण में दिखाया है। इसमें रस की स्थिति कहाँ है? अतएव ऐसे काव्यों में आपके—‘काव्यं रसात्मकं काव्यम्’ इस लक्षण की व्याप्ति न होने के कारण आपके इस लक्षण में अव्याप्ति दोष तो है ही इसके अतिरिक्त केवल लक्षण ही नहीं—संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति ।’ के अनुसार इस लक्षण के निर्माता स्वयं आप (विश्वनाथ) भी व्याघात दोषात्मक व्याप्र से पूर्णतया ग्रसित हो रहे हैं—भगवन् त्राहि त्राहि !!! खेद है कि विश्वनाथ ने काव्य के लक्षण में काव्य को ‘रसात्मक’ कहकर भी—

‘यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवणसङ्घावादोषाभावादलङ्घारसङ्घावाच काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यवन्धसाम्याद्वौण एव ।’

— साहित्यद० परिं ।

इस वाक्य में रस रहित रचना को भी वह स्वयं गौण काव्य और काव्य में दोष का अभाव होना भी स्वीकार करता है। अर्थात् विश्वनाथ ने रस की जिस शृङ्खला में काव्य को बौधा था, उस शृङ्खला में वह जब बौधा हुआ न रह सका तो अगत्या स्वयं विश्वनाथ को ही उस (रस शृङ्खला) से काव्य को निर्मुक्त करना पड़ा। केवल यही नहीं प्रत्युत जिस मम्पट का विश्वनाथ प्रतिपक्षी हो रहा था उसी (मम्पट) का उसे अनुगामी भी होना पड़ा है। क्योंकि विश्वनाथ को भी ‘रसात्मक’ काव्य के अतिरिक्त वस्तु वर्णनात्मक काव्य का एक गौण भेद स्वीकार करना ही पड़ा ॥५॥ जिसको मम्पटाचार्य ने अपने काव्य

॥५॥ यद्यपि विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश के अनुसार काव्य के तीन भेद न मान कर दो ही उत्तम और गौण—भेद माने हैं—तीसरा भेद अधम, नहीं। पर यह भी विश्वनाथ के विवेचन में उल्लेखनीय त्रुटि है। क्योंकि गुणोभूतव्यंग्य और व्यंग्य-रहित वाच्यार्थात्मक अलङ्घारादि युक्त काव्य का अन्तर सहदय काव्य-मर्मज्ञों को प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है।

लक्षण की स्पष्टता करते हुए पहिले ही निर्दिष्ट कर दिया था। ऐसी परिस्थिति में साहित्य के न्यायालय में विश्वनाथ जी लगा रहे थे आचार्य ममट पर अभियोग किन्तु स्वयं विश्वनाथ अभियुक्त हो गये। विश्वनाथ के आक्षेप उसी की साक्षी द्वारा निर्मूल सिद्ध हो गये प्रत्युत आपका लक्षण अव्यासि दोष-पूर्ण सिद्ध हो गया। महाकवि कालिदास की—‘के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भ-यत्नाः।’ यह उक्ति चरितार्थ हो गई।

अच्छा आहिये, अब काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर परिडतराज जगन्नाथ की आलोचना भी देखिये। काव्यप्रकाश के लक्षण में प्रयुक्त ‘शब्दार्थौ’ द्वारा शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना गया है। इस पर परिडतराज जगन्नाथका कहना है कि लोक-व्यवहार में ‘काव्य उच्च स्वर से पढ़ा जा रहा है’ ‘काव्य से अर्थ समझा जाता है’ ‘काव्य सुना तो सही पर अर्थ समझ में नहीं आया’ इस प्रकार कहा जाता है इससे एक प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है—न कि अर्थ। यदि यह कहा जाय। क लोक-व्यवहार में काव्य के लिये केवल शब्द का प्रयोग लाक्षणिक समझना चाहिये, पर यह तो तभी हो सकता है, जब पहिले किसी दृढ़ प्रमाण से यह सिद्ध हो जाय कि ‘काव्य’ शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ दोनों के लिये ही होता है। किन्तु ऐसा प्रमाण ही तो हमारे हासिंगत नहीं है। यदि इसके प्रमाण में काव्यप्रकाश का ही मत आप दें तो वह तो हम किस प्रकार सान्य कर सकते हैं—जब कि उसके तो हम प्रतिपक्षी ही हैं। अतएव लोक-व्यवहार के प्रमाण द्वारा हमारे मतानुसार केवल शब्दविशेष ही काव्य सिद्ध होता है, न कि काव्यप्रकाश के मतानुसार शब्द और अर्थ दोनों। अतएव वेद, शास्त्रादिकों की भाँति काव्य के लक्षण में भी केवल शब्द का ही प्रयोग उचित है, न कि शब्द-अर्थ दोनों का।

परिडतराज द्वारा किये गये इस आक्षेप का खण्डन रसगङ्गाधर के टिप्पणी—(संक्षिप्त व्याख्या) कार श्री नागेश भट्ट ने ही संक्षिप्त में बहा उपयुक्त कर दिया है। श्री नागेश भट्ट कहते हैं “जिस प्रकार लोक-व्यवहार में ‘काव्य पढ़ा’ ‘काव्य सुना’ इत्यादि प्रकार से कहा जाता है उसी प्रकार ‘काव्य समझा’ इस प्रकार भी

लोक-व्यवहार में कहा जाता है। समझना केवल अर्थ का ही होता है—न कि शब्द का। अतएव शब्द और अर्थ दोनों को सम्मिलित रूप में काव्य कहा जाता है, न कि केवल शब्द मात्र को। वेदशास्त्रादिक भी केवल शब्द की संज्ञा नहीं है, शब्द और अर्थ दोनों की मिथित रूप में ही वेद, शास्त्र आदि संज्ञा है। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने 'तदधीते तद्देव' इस पाण्डनीय सूत्र की व्याख्या में शब्द-अर्थ दोनों को वेदादि रूप माना है।"

इसके अतिरिक्त पण्डितराज ने भी यह आक्षेप किया है कि काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में गुण और अलङ्कार का समावेश क्यों किया गया? किन्तु फिर इस विषय में स्वयं पण्डितर ज ने इस आक्षेप को निर्वल समझ कर—

'काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव।
गुणत्वालङ्कारत्वादेरननुगमाच्च ॥'

— रसगठ पृ० ७

इन वाक्यों में इस आक्षेप की उपेक्षा कर दी गई है।

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि काव्यप्रकाशोक्त काव्य-लक्षण ही आलोचना की कसौटी पर उत्तीर्ण होकर निर्दोष प्रमाणित हो सकता है।

काव्य के सम्प्रदाय

उपर्युक्त काव्य की विभिन्न परिभाषाओं के विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि रस, अलङ्कार, गुण (या रीति) और ध्वनि आदि जो काव्य के प्रधान विषय हैं, उनकी प्रधानता के विषय में साहित्याचार्यों के विभिन्न मत हैं, अतएव रस आदि सिद्धान्तों के प्रवान्य को लेकर विभिन्न सम्प्रदाय ग्रचिलित हो गये हैं, जैसा

कि इसका अर्थ यह है कि काव्य अथवा रस के धर्मों का नाम गुण और काव्य के शोभाकारक का नाम अलङ्कार माना जाय तो इनका प्रयोग काव्य-लक्षण में किया जा सकता है।

कि पहिले कह चुके हैं। इन सिद्धान्तों में अपने स्वीकृत सिद्धान्त का स्वरूप और उसकी प्रधानता आचार्यों ने किस प्रकार प्रतिपादन की है शब्द इसका विवेचन किया जाता है। काव्य के सभी सिद्धान्त स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से वस्तुतः रस-स्वाद पर ही निर्भर हैं अतएव सर्वप्रथम रस सम्प्रदाय का निर्दर्शन ही प्रकरणोपयोगी और समुचित है।

रस सम्प्रदाय

रस का महत्व

रस का महत्व अनादिकाल से प्रतिपादित है। भगवती श्रुति कहती है—

‘रसो वै सः रसर्थश्चेवायं लब्ध्वाऽनन्दो भवति।’

—तैत्तिरीय उपनिषद्

अलङ्कार शास्त्र में भी रस ही सर्वोपरि पदार्थ स्वीकार किया गया है। श्री भरतमुनि ने रस पर विवेचन करते हुए लिखा है—

‘तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः।

न हि रसाद्यते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।’

—नाथशास्त्र अ० ६

भगवान् श्री वेदव्यासजी ने भी रस को सर्वोपरि महत्व देते हुए आशा की है—

‘वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।’

—अग्निपु० ३३७।३३

साहित्याचार्यों में सर्वप्रधान ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त का मूल-तत्व रस को ही मुक्त कराठ से स्वीकार किया है। उन्होंने श्री वाल्मीकीय रामायण के—

‘मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः कामसोहितम्॥

संस्कृत साहित्य का इतिहास

इस पद्य में जो करण रस ध्वनित होता है, उसी को काव्य की आत्मा बतलाई देखें। उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा है—

‘यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव
न शोभते।’

—धर्म्या० पृ० २२।

महाकवि मंखक कहता है—

‘तैस्तैरलंकृतिशैरवतंसितोऽपि रुढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि
नूनं विना धनरसप्रसराभिषेकं काव्याधिराजपदमहर्ति न प्रबंधः’

—श्रीकण्ठचरित २१३२

एक अज्ञात काव्य मर्मज्ञ ने कहा है—

‘अस्तिचेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथा इव।

नास्तिचेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथैव हि।’

रस सम्प्रदाय के आचार्य

साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थों में रस विषयक विवेचन सबसे प्रथम श्री भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में दृष्टिगत होता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र के—
‘अन्नानुवंशयौ श्लौकौ भवतः’—(६ ३३) इत्यादि रस प्रकरण के वाक्यों द्वारा विदित होता है कि रस का विवेचन भरत के प्रथम भी अन्य आचार्यों द्वारा किया गया है, किन्तु जब कि उनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, रस सम्प्रदाय के आद्याचार्य श्री भरतमुनि ही कहे जा सकते हैं।

‘रस’ शब्द का अर्थ

प्रथम यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है कि ‘रस’ शब्द का अर्थ क्या है। घातु पाठ में कहा है—‘रस श्रास्वादे।’ अर्थात् रस का अर्थ स्वाद लेना है। और स्वाद का अर्थ है रस का ग्रहण करना—‘स्वादो रस प्रहणे।’ लौकिक

४६ देखिये धर्म्यालौक पृ० २६ काव्यमाला संस्करण।

निष्कर्ष यह कि काव्य का रस ही प्राण्य है।

रसो—मधुर आम्ल आदिकों का ग्रहण जिहा द्वारा किया जाता है। और काव्य विषयक शृङ्खारादि रसों का आस्वाद ‘रति’ आदि स्थायी भावों के रस रूप में व्यभिचक्त होने पर मन से किया जाता है।

रस की निष्पत्ति

रस की निष्पत्ति के विषय में महामुनि भरत ने रस सिद्धान्त का मूल—

‘विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः’ ।

—नाट्यशास्त्र अध्या० ६

यह सूत्र लिखा है। इसका अर्थ यह है कि विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में ‘संयोग’ श्रौर ‘निष्पत्ति’ यह दो पद बड़े महत्व के हैं। इनके वास्तविक अर्थ के विषय में बड़ा ही मतभेद है। इस सूत्र की व्याख्या के विवेचन में साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों का महत्वपूर्ण भाग है। इसके प्रथम कि इस सूत्र की व्याख्याओं का दिक्-दर्शन कराया जाय, इस सूत्र में कहे हुए विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और स्थायी भाव क्या पदार्थ हैं, यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं पर रस की निष्पत्ति निर्भर है। आचार्य मम्मट ने कहा है—

‘कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च ।

रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाळ्यकाव्ययोः ॥

विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः’ ॥

—काव्यप्र० २७, २८

लोक व्ववहार में जो कारण, जो कार्य, और जो सहकारी कारण होते हैं वे जब नाटक एवं काव्य में रति आदि स्थायी भाव के होते हैं, तब उन्हें कारण, कार्य और सहकारी कारण न कह कर क्रमशः विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहते हैं। और उन विभाव आदि द्वारा जो स्थायी भाव व्यक्त होता है, वह ‘रस’ कहा जाता है।

स्थायी भाव

विशेष प्रकार की चित्त की वृत्ति—मनोविकार को ही नाट्य और काव्य में स्थायी भाव कहते हैं। जैसे नायक और नायिका की परस्पर एक की दूसरे में रति अर्थात् प्रेम अथवा अनुराग होना एक प्रकार की चित्तवृत्ति (मनोविकार) है। उसी को शृङ्खार रस का स्थायी भाव कहा जाता है। इसी प्रकार हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्ता, विस्मय, और शम ये मनोविकार कमशः हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त रस के स्थायी भाव हैं।

विभाव

रति आदि स्थायी भावों के जो कारण होते हैं—जिनके द्वारा सामाजिक जनों के (काव्य के पढ़ने और सुनने वालों और नाटक के देखने वालों के) आत्मा में वासना की रूप से स्थित रहने वाले रति आदि स्थायी भाव (मनोविकार) उत्तेजना को प्राप्त हो जाते हैं—जागृत हो जाते हैं, उन्हें ही विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव—जिसका आलम्बन करके रति आदि मनोविकार उत्पन्न होते हैं वे आलम्बन विभाव कहे जाते हैं। जैसे शृङ्खार रस के स्थायी 'रति' के आलम्बन नायक और नायिका हैं क्योंकि ये जब परस्पर में देखते सुनते और स्मरण आदि करते हैं तब एक का दूसरे पर प्रेम उत्पन्न होता है; प्रत्येक रस के आलम्बन विभाव भिन्न भिन्न हैं।

उद्दीपन विभाव—जो रति आदि मनोविकारों को अतिशय उद्दीपन करते हैं—बढ़ते हैं, वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। जैसे वेशभूषणादि की सुन्दर रचना, पुष्पवाटिका, एकान्तस्थल, कोकिलादि पक्षियों का मधुर आलाप, चन्द्रोदय, और शीतल पवन आदि शृङ्खार रस के उद्दीपन विभाव हैं। क्योंकि

की वासना क्या वस्तु है इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

ये उत्पन्न हुए रति आदि मनोविकारों को बढ़ाने वाले हैं। यदि उत्पन्न मनोविकारों को उद्दीपक सामग्री द्वारा उत्तेजना प्राप्त न हो तो वह अनुत्पन्न के समान ही रहते हैं, जैसे उत्पन्न अंकुर को जल न मिले तो वह नष्ट हो जाता है। अतः इनको भी स्थायी भाव के कारण विभाव ही स्वीकार किया गया है। प्रत्येक रस के उद्दीपन विभाव भी पृथक् पृथक् होते हैं।

अनुभाव

‘अनु’ का अर्थ है पश्चात् अर्थात् विभाव के पीछे ये अनुभाव उत्पन्न होते हैं। ये ‘रति’ आदि उत्पन्न स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं, फलतः अनुभाव ही स्थायी भाव को बोध-गम्य बनाते हैं, क्योंकि नायिका आदि आलम्बन और चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभावों द्वारा नायक आदि के जो रति आदि मनोविकार उत्पन्न और परिवर्तित होते हैं, उन मनोविकारों का जब तक कटाक्ष और हस्त संचालन (हाथों की चेष्टाएँ) आदि न हों, स्वयं नायक नायिकादिकों को तथा समीपस्थ जनों को ज्ञान नहीं हो सकता। अनुभाव असंख्य हैं। शृङ्खार रस के मुख्य रूप अनुभाव और द सात्त्विक भाव माने गये हैं क्षैः।

व्यभिचारी भाव

यह स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं। अर्थात् नायक-नायिका के परस्पर में प्रेम होने पर उन दोनों को मिलने की अभिलाषा होती है तब उसके लिए चेष्टा की जाने पर जो चिन्ता आदि चित्त की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे व्यभिचारी भाव कही जाती हैं। यह अवस्था विशेष में (वास-खास अवपर पर) उत्पन्न होकर स्थायी भाव को सहायता करके लुप्त होते रहते हैं—स्थायी भाव की तरह रस की स्थिति तक स्थिर नहीं रहते। जिस प्रकार समुद्र में तरङ्ग कभी उठती और कभी लीन होती रहती हैं और उसका उत्कर्ष करती रहती हैं, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव भी स्थायी भाव में उत्पन्न और लीन होते हुए उसे पुष्ट

क्षैः अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों की स्पष्टता विस्तार भय से यहां नहीं की गई है। इनका विस्तृत विवेचन काव्य कल्पद्रुम के तृतीय संकरण के प्रथम भाग ‘रसमञ्जरी’ में देखिये।

करते हैं। यह विजली को तरह चमक कर लुप्त होते रहते हैं और सभी रसों में यथासंभव सञ्चार करते हैं, इसलिए इनको संचारी भी कहे जाते हैं, इनकी संख्या ३३ है।

विभावादिकों की संक्षिप्त स्पष्टता यदी है।

भरत सूत्र पर व्याख्याकारों के विभिन्न मत
अब पूर्वोक्त—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।'

इस भरतसूत्र की विभिन्न व्याख्याओं को देखिये—

(१) भट्ठ लोल्लट का आरोपवाद। भरतसूत्र के प्रथम व्याख्याकार मीमांसक भट्ठ लोल्लट का मत है कि 'शकुन्तला' के अभिनय में जो दुष्यन्त पर शकुन्तला विषयक दुष्यन्त के प्रेम का अभिनय दिखाया जाता है या काव्य में वर्णन कि या जाता है वह प्रेम यथापि मुख्यतया दुष्यन्त से ही सम्बन्ध रखता है, क्योंकि शकुन्तला विषयक प्रेम का नट के साथ सम्बन्ध ही क्या है, किन्तु सामाजिक जन (नाटक को देखने और काव्य को पढ़ने वाले लोग) दुष्यन्त के रूप में नट को देख कर उस नट पर दुष्यन्त का आरोप + कर लेते हैं—वास्तव में दुष्यन्त न होने पर भी नट को दुष्यन्त मान लेते हैं। और व्यक्ति-कला के सौन्दर्य से नट के अन्दर शकुन्तला विषयक प्रेम (वास्तविक न होने पर भी) 'है' ऐसा सामाजिकों को प्रतीत होने पर वे रस का अनुभव करने लगते हैं।

(२) श्री शंकुक का अनुमानवाद। नैयायिक शंकुक भरत सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार हैं। इनका कहना है कि भट्ठ लोल्लट ने जो नट में दुष्यन्तादि के आरोप में रसास्वाद बताया है वह ठीक नहीं, क्योंकि जिस व्यक्ति में रति आदि स्थायी भाव होगा उसी को उज्जूत रति का रसास्वाद हो सकता है। जैसे जहाँ धुंग्रा होगा वहीं अग्नि होगी, न कि धुआँ अन्यत्र और अग्नि अन्यत्र। अतएव जिनकी वास्तविक

+ आरोप का अर्थ है—किसी एक वस्तु को वस्तुतः न हुई दूसरी वस्तु मान लेना जैसे दुष्यन्त के रूपधारी नट को दुष्यन्त से भिन्न जानते हुए भी दुष्यन्त मान लेना।

रति है, उन दुष्यन्तादि से सामाजिक भिन्न है और जो दुष्यन्तादिक का अभिनय करने वाले नाटक के पात्र हैं उनसे भी वे भिन्न हैं, तब सौमाजिकों को रसास्वाद किस प्रकार हो सकता है। यदि आरोप ज्ञान मात्र से ही रसानुभव माना जाय तो शृङ्गारादि रसों के ज्ञान मात्र से—नाम सुनने और अर्थ समझ लेने से ही रसानुभव होना चाहिये—सुख के नाम मात्र से सुख भी होना चाहिये पर ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार भट्ट लोक्षण के मत का खण्डन करके श्री शंकुक ने सूत्र की व्याख्या यह की है कि वास्तविक रस दुष्यन्तादि में रहता है पर नट में उसका अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात् लौकिक में चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं—(१) सम्यक् (यथार्थ), (२) मिथ्या, (३) संशय और (४) सादृश्य जैसे—

(१) सम्यक् ज्ञान—देवदत्त को देवदत्त समझना।

(२) मिथ्योज्ञान—जो देवदत्त है उसको देवदत्त न समझना।

(३) संशय ज्ञान—यह देवदत्त है या नहीं।

(४) सादृश्य ज्ञान—यह देवदत्त के समान है।

इन लोक प्रसिद्ध चारों ज्ञानों से विलक्षण एक और भी 'चित्रतुरंग' ज्ञान है। अर्थात् घोड़े का चित्र देख कर 'यह घोड़ा है' ऐसा ज्ञान होना। बस इसी ज्ञान के अनुसार सामाजिक लोग नट को दुष्यन्त आदि अनुमान कर लेते हैं। फिर अनुमान किये गये नट में रति आदि स्थायी भाव भी अनुमान कर लिये जाते हैं। यद्यपि अन्य विषयक अनुमान में सुख का अनुभव करने से सुख नहीं मिलता, जैसे ग्रीष्म-कालिक पथिक का बट-छाया के अनुमान द्वारा न ताप मिट सकता है और न सुख ही हो सकता है। किन्तु काव्यनाटकों के सौन्दर्य के विलक्षण प्रभाव द्वारा अनुमान किया गया आनन्द भी सहृदय सामाजिकों की वासना के कारण आस्वादनीय बन जाता है। क्योंकि काव्य में विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी के संयोग से गम्य-गम्यक छोड़ भाव सम्बन्ध से और

^{३५} गम्य-गम्यक भाव भी दूँ आ और अभिन्न की भाँति व्याप्ति सम्बन्धी ही है अर्थात् जहां विभावादि हों वहां रति आदि स्थायी भाव भी अवश्य हों यह सम्बन्ध।

शिक्षित नट के कार्यकौशल से प्रदर्शित किये जाने के कारण विभावादि (वनावटी) होने पर भी काव्य के अनुसन्धान + बल से कृत्रिम नहीं समझे जाते ।

(३) भट्ट नायक का मुक्तिवाद । भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याकार सांख्य मतानुयायी भट्ट नायक का कहना है कि श्री शंकुक के मतानुसार अनुमिति ज्ञान में भी चमत्कार नहीं, प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कार है । क्योंकि अन्य के आत्मा में स्थित (दुष्यन्तादि के आत्मा में स्थित शकुन्तला विषयक) प्रेम जन्य आनन्द का अन्य के आत्मा में (अनुकरण करने वाले नटों में और सामाजिकों के आत्मा में) अनुमान कदापि नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि अन्य के (शकुन्तला-विषयक दुष्यन्तादि के) आत्मा में स्थित 'रति' की प्रतीति सामाजिकों को आत्मगतत्वेन होती है, तो उसमें अनेक दोष हैं । कहाँ वे धर्मात्मा यशस्वी सम्राट् और कहाँ वर्तमानकालिक हम जुद जीव ? शकुन्तला विषयक प्रेम का हमारे हृदय में उदय होना एक बार ही पाप-वृत्ति है । क्योंकि जिसे हम अपना प्रेम-पात्र बनाना चाहें उसमें हमारे प्रेम-पात्र होने की योग्यता होना भी आवश्यक है, केवल स्त्री होना ही पर्याप्त नहीं, स्त्री तो भगिनी आदि भी होती हैं अतः शकुन्तलादि, सामाजिकों के प्रेम का आलम्बन कदापि नहीं हो सकती । और आलम्बन के बिना रति स्थायी का आविर्भाव ही नहीं होता, तब रस का आभ्वाद कहाँ ? इस प्रकार अनुमिति ज्ञान द्वारा रसास्वाद का खण्डन करने के बाद भट्ट नायक अपने मत से सूत्र की व्याख्या यह करते हैं कि सूत्र के 'संयोग' शब्द का अर्थ भोज्य भोजक भाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ मुक्ति (भोग) है । अथवा काव्य की क्रियाएँ ही रस के उद्गोष का कारण हैं । काव्य शब्दात्मक है । शब्द के तीन व्यापार हैं—'अभिधा, भावना, और भोग—

(१) 'अभिधा' द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है ।

(२) 'भावना' का व्यापार है साधारणीकरण । इस व्यापार द्वारा किसी विशेष व्यक्ति में उद्भूत 'रति' आदि स्थायी भाव, व्यक्तिगत सम्बन्ध छोड़ कर

+ कवि के अभीष्ट अर्थ का साक्षात् करना ।

सामान्य रूप में प्रतीत होने लगते हैं। जैसे दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम का इन दोनों से (दुष्यन्त-शकुन्तला से) व्यक्ति-गत सम्बन्ध न रह कर सामान्य दाम्पत्य-प्रेम की प्रतीति होना। इस 'भावना' व्यापार द्वारा 'रति' आदि भाव साधारण हो जाने पर अगम्या होना आदि विरोधी ज्ञान हट जाते हैं; कल यह होता है कि वह 'भावना' सब पदार्थों को साधारण बना देती है अतः उनमें किसी व्यक्ति विषेश या देशकाल आदि का सम्बन्ध प्रतीत न होकर रसास्वाद का प्रतिकूला-वरण हट जाता है।

(३) 'भोग' व्यापार द्वारा भावना के महत्व से अर्थात् अपना और परायापन दूर हो जाने पर साधारणी-कृत विभावादि से सामाजिकों को रसास्वाद होने लगता है। भोग का अर्थ है †—'सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दसंविद्विश्रान्तिः' अर्थात् सत्वगुण के उद्रेक से प्रादुर्भूत प्रकाशरूप आनन्द का ज्ञान—आनन्द का अनुभव। और वह आनन्दानुभव वेच्यन्तर सम्पर्क शून्य है अर्थात् अन्य सम्बन्धी ज्ञान से रहित होता है। अतएव यह लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है, वस इसी भोग व्यापार द्वारा रस का आस्वाद होता है। भट्ट नायक के मत का निष्कर्ष यह है कि काव्य और नाटकों के सुनने और देखने पर तीन कार्य होते हैं—पहिले उसका अर्थ समझा जाता है, फिर उसकी भावना अर्थात् वित्तन किया जाता है, जिसके प्रभाव से सामाजिक यह नहीं समझ पाते कि जो काव्य नाटकों में सुना और देखा जाता है वह किसी दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है या हमारा ही है। इसके बाद सत्वगुण के उद्रेक से रजोगुण और तमोगुण दब जाने पर आत्मचैतन्य से प्रकाशित साधारणीकृत (साधारण रूप में उपस्थित) रति आदि स्थायी भावों का सामाजिक जन आनन्दानुभव करने

† सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक (प्राधान्य) से क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रकाशित होते हैं। उद्रेक का अर्थ है अपने से भिन्न दो गुणों, का तिरस्कार करके अपना प्रादुर्भाव करना। सत्वोद्रेक का स्वभाव आनन्द का प्रकाश करना है और आनन्द का अनुभव 'भोग' है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

लगते हैं, वही रस है। और वह रस जन्य आनन्दानुभव ब्रह्मानन्द का समीप-वर्ती कहा जाता है। इनमें भेद केवल यही है कि रसास्वाद 'रति' आदि विषयों से मिला हुआ रहता है और ब्रह्मानन्द विषयों से सर्वथा रहित होता है।

(४) अभिनवगुप्तपादाचार्य का व्यक्तिवाद और उसका आचार्य ममट द्वारा^१ स्पष्टीकरण—

नाट्यशास्त्र पर 'अभिनव भारती' व्याख्या के लेखक श्री अभिनवगुप्त-पादाचार्य ने उपर्युक्त भट्ठ लोक्षट, श्री शंकुक और भट्ठ नायक तीनों के मतों का खण्डन करते हुए भट्ठ नायक के मत की आलोचनात् में कहा है कि स्थायी भाव और विभावादिक में वस्तुतः व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध है अर्थात् विभावादि के संयोग से व्यञ्जना नामक एक लौकिक क्रिया उत्पन्न होती है, उसी के द्वारा रस की अभिव्यक्ति (निष्पत्ति) होती है। भट्ठ नायक ने जो भावना और भोग नाम की दो क्रियाएं मानी हैं, वे कल्पना मात्र हैं अन्ततः भावना और भोग का समावेश हमारे व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव-सम्बन्ध में—ध्वनि सिद्धान्त में हो जाता है—

'व्यंशायामपि भावनायां कारणीशो ध्वननमेव निपत्तति ।

भोगोऽपि...लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः ॥'

—ध्वन्यालोक पृ० ७०

श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है कि 'रति' आदि स्थायी भाव सामाजिकों^१ के अन्तःकरण में वासना^२ रूप से सूक्ष्मतया स्थित रहते हैं, किन्तु वह

* देखो काव्यप्रकाश 'चतुर्थ उत्तरास' ।

^१ देखो अभिनव भारती पृ० २७४ और २७८-२८० तथा ध्वन्यालोक पृ० ६८-७०

^२ अभिनवगुप्तपादाचार्य, सामाजिकों से ऐसे काव्य के पाठक या श्रोता और नाटक के दर्शकों का ग्रहण करते हैं, जो नायकनायिकादि की परस्पर की हुई चेष्टाओं द्वारा उनके प्रेमादि का तत्काल अनुभव करने में दब्ते हैं।

२ किसी व्यक्ति ने इस जन्म में या जन्मांतर में अपनी कान्ता आदि में रति

अव्यक्त (अप्रकट) रहते हैं—प्रतीत नहीं होते, जैसे मिट्ठी के बरतन में गन्ध रहता हुआ भी अव्यक्त रहता है, किन्तु जब उसके साथ जल का संयोग होता है, तत्काल वह (गन्ध) प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य के अन्तःकरण में वासनात्मक अव्यक्त रूप से स्थित रहता हुआ 'रति' आदि स्थायी भाव (मनोविकार) जब काव्य का पठन या श्रवण अथवा नाटक का प्रदर्शन होता है तब व्यञ्जना ^{३०} के अलौकिक विभावन व्यापार द्वारा जागृत हो जाता है (वह जागृति या उत्तेजना दृश्य काव्य—नाटकादि में शब्द और पात्रों की शारीरिक चेष्टाओं द्वारा और अव्यक्ताव्य में केवल शब्द द्वारा होती है) और स्थायी भाव के आनन्द का अनुभव होने लगता है, बस वही रस की अभिव्यक्ति या निष्पत्ति है ।

व्यञ्जना वृत्ति के जिस विभावन को अलौकिक व्यापार कहा गया है वही विभावादि में साधारणीकरण का चमकार है, जिसके द्वारा विभावादिकों का (दुष्यन्त शकुन्तलादि का) व्यक्ति-गत सम्बन्ध (अपना और परायापन) दूर होकर सामाजिकों में विभावाद के साथ अभिन्नता उपलब्ध होती है । निष्कर्ष यह कि इस विभावन व्यापार द्वारा अर्थात् साधारणीकरण द्वारा ही अपनी-अपनी आत्मा में ही स्थित रति आदि स्थायी भाव के रसास्वाद का चरण (अनुभव) होता है ।

आदि का कभी अनुभव किया है, उस अनुभव से उसके अन्तःकरण में एक संस्कार उत्पन्न हो जाता है । उसी संस्कार को वासना कहते हैं । उस संस्कार (वासना) के कारण पूर्वानुभूत उसी के समान किसी वस्तु को कालान्तर में देखने या सुनने पर वह संस्कार जागृत हो जाता है । और उसे वैसा ही कुछ अनुभव होने लगता है कि मानों कान्ता आदि उसी प्रकार के विद्यमान हैं और मैं उनका लाभ उठा रहा हूँ । यही वासना जब विभावादि व्यञ्जकों से अभिव्यक्त (प्रकट) होती है तब उसको रस का आस्वाद कहते हैं ।

^{३०} 'व्यञ्जना' वृत्ति की स्पष्टता आगे ध्वनि सम्प्रदाय में की जायगी ।

भट्ट नायक और अभिनवगुप्तपादाचार्य

भट्ट नायक और अभिनवगुप्तपादाचार्य के मत में भेद यह है कि रस की निष्पत्ति में साधारणीकरण का महत्व तो भट्ट नायक और श्री अभिनव-गुप्तपादाचार्य दोनों ही मानते हैं, किन्तु भट्ट नायक उस साधारणीकरण को 'भावना' का व्यापार बताते हैं और श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य उसे व्यञ्जना का व्यापार बताते हैं। यह तो हुआ रस की निष्पत्ति विषयक विवेचन।

रस का आस्वाद

रस के आस्वाद के विषय में अभिनवगुप्तपादाचार्य और ममटाचार्य कहते हैं कि रस का आस्वाद वेदान्तरसंपर्कशूल्य होता है अर्थात् किसी दूसरी वस्तु के सम्बन्ध-रहित होता है। और वह 'रस' स्वाकार + के समान अभिन्न होने पर भी विषय भूत क्षे त होता है अर्थात् रस, ज्ञान-स्वरूप होने पर भी स्वयं भी प्रकाशित होता है। रस का प्राण एक मात्र चर्वणा (आस्वाद) ही है और चर्वणा की पूर्वपर अवधि विभावादिकों पर निर्भर है। एवम्भूत रस का

[†] जिस प्रकार दर्पण के समुख कोई वस्तु हो उसका प्रतिविम्ब दर्पण पर पड़ता है तब (यदि उस वस्तु पर ध्यान न दिया जाय और दर्पण पर ही ध्यान दिया जाय तो) वह प्रतिविम्बित आकार उस दर्पण का ही प्रतीत होता है यद्यपि वह दर्पण से भिन्न (दूसरी वस्तु) है। किन्तु वह उस्तु दर्पण के सामने से हटा दी जायगी तो वह प्रतिविम्ब न रहेगा। किन्तु जब तक वह वस्तु दर्पण के सामने रहेगा, वह दर्पण की सम्पत्ति और उसीका स्वरूप समझा जायगा। उसी प्रकार आत्मा का स्वरूप ज्ञान है, वह दर्पण के समान स्वच्छ है, उसमें जो वस्तु प्रतीत होती है वह दर्पण के प्रतिविम्ब की तरह उसका आकार बन जाती है अतएव आत्मा में जबतक कोई वस्तु प्रतीत होगी, आत्मा तदाकार प्रतीत होगा इसी न्याय से रति आदि स्थायी भाव रस एवं भाव अवस्था में आत्मा के आकार से भिन्न होने पर अभिन्न प्रतीत होते हैं, अतः रस को स्वाकार के समान अभिन्न कहा गया है।

[‡] प्रश्न होता है कि 'रस' जब ज्ञान से अभिन्न है तो वह (रस)

आस्वाद पानक रस के समान है अर्थात् जिस प्रकार इलायची, मिरच, शर्करा, कपूर आदि के मिश्रण से बने हुए विशेष पेय रस का *** आस्वाद एक विलक्षण प्रकार का हो जाता है—उसमें पृथक्-पृथक् किसी वस्तु के आस्वाद का ज्ञान न होकर एक खास आस्वाद हो जाता है—उसी प्रकार स्थायी भाव की रस अवस्था में विभावादि का पृथक्-पृथक् ज्ञान न होकर इन सब का एकीभूत रस रूप आस्वाद प्राप्त होता है। वही शृङ्गारादि रस है। वह रस आस्वादित होता हुआ, समूख जैसा फुरण करता हुआ (प्रतीत होता हुआ) हृदय में प्रवेश करता हुआ जैसा, सब अङ्कों को आलिङ्गन करता हुआ जैसा, अन्य विषयों को तिरोहित करता (छिपाता), हुआ जैसा, ब्रह्मानन्द के आनन्द का अनुभव करता हुआ जैसा, अलौकिक चमत्कारक होता है।

‘रस’ कार्य और ज्ञाप्य नहीं

उपर्युक्त भरत सूत्र में विभावादि के संयोग से रस की निष्पत्ति कही गई है। अर्थात् विभावादि का संयोग ‘कारण’ और ‘रस’ उसका कार्य बतलाया गया है इस पर विवेचन करते हुए अभिनवगुप्तपादाचार्य और आचार्य ममट ने लिखा है कि वस्तुतः रस को कार्य और विभावादिकों को उसका कारण (हेतु) नहीं कहा जा सकता क्योंकि हेतु दो प्रकार के होते हैं—कारक-हेतु और ज्ञापक-हेतु। किन्तु न तो रस के विभावादि कारक-हेतु ही हैं और न ज्ञापक-हेतु, क्योंकि विभावादिकों को कारक या ज्ञापक हेतु तो तब कहा जा सकता है जब रस कार्य हो या ज्ञाप्य। किन्तु रस न कार्य हो वै और न ज्ञाप्य ही। यदि रस को कार्य रूप माना जाय तो विभावादिकों के नाश होने पर भी वह (रस) वर्तमान रहना

विषय रूप प्रतीत न होना चाहिये, इस पर कहा गया है कि नहीं, रस, विषय रूप प्रतीत भी होता है क्योंकि स्वप्रकाश मत का सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार सूर्य घट, पट आदि अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आपको भी स्वयं प्रकाशित करने में समर्थ है अतः इस सिद्धान्त के अनुसार रस स्वप्रकाश होने पर भी विषयीभूत होता है।

*** जोरे के जल आदि पीये जानेवाले पदार्थ का ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

चाहिये ! क्योंकि लौकिक में कारण के नाश होने पर कार्य वर्तमान रहता है है जैसे घट के कारण कुम्हार और उसका दण्ड-चक्र आदि के नष्ट होने पर घट बना रहता है । किन्तु रस की स्थिति विभावादि के नष्ट होने पर नहीं रह सकती अतः रस को 'कार्य' नहीं कह सकते । और यदि रस को ज्ञाप्य माना जाय तो ज्ञाप्य वस्तु की भी ज्ञापक के अभाव में स्थिति रहती है । जैसे सूर्य ज्ञापक है और घट ज्ञाप्य, सूर्य के न रहने पर भी घट की स्थिति रहती है, किन्तु विभावादि के बिना रस का वर्तमान रहना संभव नहीं, अतः रस को ज्ञाप्य भी नहीं कह सकते । यदि यह कहा जाय कि कारक और ज्ञापक से भिन्न अन्यत्र ऐसा कहा देखा जाता है, तो इसका उत्तर यही है कि 'कही' नहीं वस यही तो रस में अलौकिकता है । अतः यह रस का भूषण है, न कि दूषण । अच्छा, तो फिर प्रश्न होता है कि रस को कार्य नहीं मानते हो तो भरत सूत्र में विभावादि (कारण) द्वारा रस (कार्य) की उत्पत्ति क्यों कही गई है, उसका क्या समाधान है ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि रस सूक्ष्म स्थायी रूप से नित्य है—नित्य वस्तु की वास्तव उत्पत्ति नहीं, किन्तु चर्वणा (आस्वाद) की उत्पत्ति के साथ रस उत्पन्न हुआ सा और उस (चर्वणा) के नष्ट होने के साथ वह (रस) नष्ट हुआ सा ज्ञात होता है अतः चर्वणा की उत्पत्ति को लेकर रस का उत्पत्ति लोक व्यवहार में जो कही जाती है, वह औपचारिक^१ है । इस परिस्थिति में यदि रस को कार्य कहना चाहो तो कह सकते हो । और इसी प्रकार लोक-प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि^२ ज्ञान मित-योगी का ज्ञान एवं परिश्वव योगी का ज्ञान इन तीनों ही ज्ञानों से विलक्षण रस सहृदयों का ज्ञान है अर्थात् रस अलौकिक ज्ञान का विषय है, इस अवस्था में यदि रस को ज्ञाप्य भी कहना चाहो तो कह सकते हो । किन्तु रस को इस परिस्थिति में भी—यदि ज्ञाप्य माना जाय तो भी वह निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ही ज्ञानों का विषय नहीं कहा जा सकता ।

१ किसी वस्तु का धर्म किसी सम्बन्ध से दूसरी वस्तु में प्रतीत होना ही औपचारिक ज्ञान कहा जाता है ।

२ संसार में तीन प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं—

क्योंकि रस का ज्ञान विभावादिकों के ज्ञान से उत्पन्न होता है और विभावादिकों का ज्ञान स्वयं विशेष वस्तु विषयक होता है, यद्यां तक कि उनकी विशेषता से ही, शृंगार, हास्य, करण आदि विशेष रसों का ज्ञान होता है अतः एवंभूत संविकल्पक ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता है। और चर्षणा (आस्वाद) के समय अलौकिक आनन्दसमय वह (रस) अपने संवेदन (स्वप्रकाशत्व) मात्र से स्वयं प्रत्यक्ष होता है उस समय अन्य ज्ञान का अभाव होने के कारण रस को सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता। अच्छा, तो प्रश्न होता है कि रस-ज्ञान है क्या? इसका उत्तर यह है कि रस का ज्ञान, निर्विकल्पक और सविकल्पक उभय ज्ञान का अभाव रूप और उभयात्मक (दोनों प्रकार के ज्ञान रूप) है अर्थात् रस विशेष ज्ञान स्वरूप से स्वयं प्रकाश होता है। इस अंश में वह निर्विकल्पक ज्ञान है। और विभावादिकों की जो विभावत्व आदि रूप से प्रतीति होती है, उस अंश में वह सविकल्पक भी है। निर्झर्ष यह है कि रस निर्विकल्पक^१ और सविकल्पक^२ दोनों ज्ञानों से विलक्षण और दोनों ज्ञानों के समान भी है। अतः पूर्वोक्त कार्य और ज्ञाय की विलक्षणता के समान इसके द्वारा भी रस की अलौकिकता सिद्ध होती है।

१ लोक प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि ज्ञान।

२ मित योगी का ज्ञान जिसमें परम्पर जगत् और ईश्वर में भेद प्रतीत होता है अर्थात् ध्यान-जनित सविकल्प समाधि-जन्य ज्ञान।

३ परिपक्व योगी का ज्ञान जिसमें किसी वाद्य वस्तु का सम्पर्क न रहकर केवल स्वस्वरूप आत्म मात्र विषयक निर्विकल्प समाधिजन्य ज्ञान।

१ जिसमें घट, पट आदि किसी वस्तु की प्रतीति न हो उसे निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं और योग शास्त्र में इसी ज्ञान को 'असंप्रज्ञात समाधि' कहा गया है। इस समाधि में किसी विषय का आभास नहीं होता, केवल वद्यानन्द में लोन हो जाना ही इसका स्वरूप है।

२ जिसमें घट, पट आदि वर्तुओं की प्रतीति होती है उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। इसी ज्ञान को योग शास्त्र में 'संप्रज्ञात समाधि' कहा गया है, इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का पृथक् पृथक् अनुसंधान रहता है।

परिंडितराज का मत

परिंडितराज जगन्नाथ ने अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मट के मत को उद्भृत करके फिर अपना यह मत बताया है कि वास्तव में तो तैत्तिरीय उपनिषद् की—
 ‘रसो वै सः । रसं ह्येवायं लङ्घ्वाऽनन्दी भवति’ ।

इन श्रुतियों के अनुसार रति आदि से युक्त और आवरण-रहित चैतन्य का ही नाम रस है । और चैतन्य के आवरण का निवृत्त हो जाना अर्थात् उसका अज्ञान हट जाना ही रस की चर्वणा अर्थात् आस्वाद है । अथवा अन्तःकरण की वृत्ति का आनन्दमय हो जाना ही चर्वणा है । यह परब्रह्म के आस्वाद रूप समाधि से विलक्षण है, क्योंकि रस-जन्य आत्मानन्द आलम्बनविभावादि सांसारिक विषयों से युक्त है और समाधि-जन्य आत्मानन्द में विषय का अभाव है । रस का आस्वाद काव्य के व्यापार-व्यञ्जना द्वारा उत्पन्न होता है । यदि यह कहा जाय कि इन रसास्वाद में सुख की प्रतीति होने में क्या प्रमाण ? तो हम कहते हैं कि समाधि-जन्य मुख के भान होने में भी क्या प्रमाण है ? दोनों ही प्रश्न समान हैं । यदि यह कहो कि समाधि जन्य आनन्द के विषय में—

‘सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्’ ।

यह श्री भगवद्गीता का प्रमाण है तो परिंडितराज कहते हैं कि रस के आनन्द के लिये भी उपर्युक्त श्रुति प्रमाण है, जैसा कि उनमें कहा गया है—‘यह आत्मा रस रूप है । रस को प्राप्त होकर ही यह आनन्द रूप बनता है’ । और श्रुति-प्रमाण के अतिरिक्त सहृदयजनों का अनुभव रूप प्रत्यक्ष-प्रमाण भी है—रस के आस्वादन में जो अलौकिक आनन्द है, उसके विषय में सहृदय जनों से पूछियेगा, वे क्या कहते हैं ।

विश्वनाथ का मत

विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में रस का बहुत विवेचन किया है, पर वह अधिकांश में काव्यप्रकाश पर अवलम्बित है, अतः उसे पृथक् दिखलाना केवल

* समाधि-जन्य आनन्द बुद्धिग्राह्य है वह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है ।

विस्तार करना है। हाँ, इन्होंने रस की परिभाषा में 'व्यक्त' शब्द का प्रयोग काव्यप्रकाशोक्त—'व्यक्तः सतैः विभावाचैः' के अनुसार करके विभावादि द्वारा रस व्यक्त होना उस प्रकार बतलाया है—जैसे दूध का दही के रूप में परिणत हो जाना (बदल जाना)। वे 'व्यक्त' का अर्थ प्रकाशित होना इसलिये नहीं स्वीकार करते कि 'प्रकाशित तो वही वस्तु हो सकती है जो पहिले से वर्तमान हो—जैसे पहिले से रक्खा हुआ घट दीपक से प्रकाशित हो जाता है, किन्तु 'रस' जब कि विभावनादि की भावना के पूर्व होता ही नहीं तो न हुई वस्तु किस प्रकार प्रकाशित होगी? इसमें विश्वनाथ ने अभिनवगुप्तपादाचार्य के—

'रसाः प्रतीयन्त इतिओदनं पचतीति वद् व्यवहारः'।

—ध्वन्यालोक पृ० ६६

इस वाक्य का प्रमाण दिया है कि 'रस प्रतीत होते हैं' यह कहना उसी प्रकार का है, जैसा 'भात पकाते हैं' कहा जाता है, अर्थात् चावलों के पक जाने के बाद ही भात संज्ञा होती है—पकने के पूर्व नहीं, पर व्यवहार में लोग कहते हैं, भात पकाते हैं, इसी प्रकार रस भी प्रतीति से ही निष्पन्न होते हैं, रस प्रतीयमान (प्रतीत होने वाले) ही होते हैं—प्रतीति के पूर्व रस नहीं होते किन्तु ऐसा कहना भी पूर्वोक्त 'भात पकाते हैं' के समान है।

पूर्वोक्त व्याख्याओं का निष्कर्ष

यह तो सभी व्याख्याकारों को स्वीकार है कि रस का आस्वाद रति आदि चित्त की वृत्तियों में (स्थायी भावों में) रहता है और वह विभावादिकों द्वारा निष्पन्न होता है किन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि वे रति आदि भाव पाठकों अथवा दर्शकों के हृदय में किस प्रकार आस्वाद की विषयी अवस्था को बनाते हैं; दूसरे शब्दों में वे रति आदि चित्त वृत्तियाँ—जिनमें रति की स्थिति है—किस की हैं—काव्य में वर्णित (अथवा नाट्य के अनुकार्य) दुष्यन्त शकुन्तला आदि की हैं अथवा सामाजिकों की? (काव्य के श्रोता अथवा नाटक के दर्शकों की?) और यदि वे दुष्यन्तादि की हैं तो उनका अभिनय करते हुए देख कर सामाजिकों को उनके द्वारा किस प्रकार आगन्द प्राप्त हो

संस्कृत साहित्य का इतिहास

सकता है ? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में पूर्वोक्त व्याख्याकारों के विभिन्न मत हैं जिनका निष्कर्ष यह है—

(१) भट्ट लोछट का मत है कि वास्तविक रति आदि चित्त वृत्तियों का अथ में वर्णित दुष्प्रत्ययों में ही रहती हैं, पर सामाजिक उन चित्त वृत्तियों का नट पर आरोप कर लेते हैं—और उन आरोपित चित्त वृत्तियों के ज्ञान से सामाजिकों को आनन्द प्राप्त होता है ।

(२) शंखकुक का मत है कि दुष्प्रत्ययों की उन चित्त वृत्तियों का नट में अनुमान किया जाता है और उसी में आनन्द प्राप्त होता है ।

(३) भट्ट नायक का मत है कि किसी भी काव्य के अवण अथवा अभिनय के देखने पर तीन कार्य होते हैं । प्रथम उसका अर्थ समझा जाता है किर उसकी भावना की जाती है अर्थात् अनुसन्धान (चिन्तन) किया जाता है, जिसके प्रभाव से काव्य में सुनी हुई और अभिनय में देखी हुई वस्तुओं में हम अपना और परायापन नहीं समझ सकते, उसके बाद आत्म-चैतन्य के प्रकाशित साधारण रूप में उपस्थित रति आदि चित्त वृत्तियों के अनुभव का आनन्द प्राप्त करते हैं, यह जो भोग व्यापार है वही रस है ।

(४) अभिनवगुप्तपादाचार्य और मम्मटाचार्य का मत है कि विभाव, अनुभव और व्यभिचारी भावों के द्वारा एक अलौकिक क्रिया—जिसको विभावन कहते हैं, उत्पन्न होती है जो कि व्यञ्जना का व्यापार है—उसके द्वारा अथवा विभावादिकों के आव्यादन के प्रभाव द्वारा ही हमारे आत्म-चैतन्य का आवरण—अज्ञान रूप परदा—हट जाता है । उसके बाद हमारे हृदय में वासना रूप से रहने वाले रति आदि का उस आत्म-चैतन्य द्वारा प्रकाश होता है । उसी आनन्द रूप आत्म-चैतन्य युक्त उन रति भावों का आनन्दानुभव रस है । तात्पर्य यह है कि आत्मानन्द युक्त सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से रहने वाले रति आदि का अनुभव ही रस है ।

(५) पण्डितराज जगन्नाथ और अभिनवगुप्तपादाचार्य एवं मम्मट के मत में केवल यही मेद है कि अभिनवगुप्तपाद और मम्मट अज्ञान रूप आवरण

रहित चैतन्य से युक्त रति आदि स्थायी भाव को रस बताते हैं। और पण्डित-राज रति आदि संयुक्त आवरण-रहित चैतन्य को रस बताते हैं। अर्थात् अभिनवगुप्तपाद और ममट के मत में रस की अभिव्यक्ति में 'चैतन्य' विशेषण (गौण) और रति आदि विशेषण (मुख्य) है और पण्डितराज के मत में रति आदि विशेषण (गौण) और 'चैतन्य' विशेषण (मुख्य) है। पण्डितराज का कहना है कि रस का अनुभव आत्मानन्द रूप ही है, भेद केवल यही है कि रस-जन्य आनन्द रति आदि भावों से परिच्छिन्न होकर प्रतीत होता है और समाधि-जन्य आनन्द अपरिच्छिन्न। बस भरत सूत्र की विभिन्न व्याख्याओं का यही निष्कर्ष है।

विभाव, अनुभाव, आदि प्रत्येक स्वतन्त्र रस-व्यञ्जक नहीं

रस के विषय में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अन्य विद्वानों के भी कुछ मत दिखलाये हैं—जिनकी स्पष्टता पण्डितराज जगन्नाथ ने (रसगङ्गा० पृ० २८) इस प्रकार की है कि कुछ विद्वानों का मत है कि नट (विभाव) को अभिनय करता हुआ देख कर, उसका बार बार चिन्तन करने पर आनन्द होता है अतः रति आदि स्थायी भावों के जो आलम्बन-विभाव हैं, वही रस है—‘भाव्यमानो विभाव एव रसः इति’। दूसरे लोग कहते हैं कि नट द्वारा शकुन्तला आदि के रूप में की हुई शारीरिक चेष्टाओं का बार-बार चिन्तन करने में अर्थात् अनुभावों द्वारा आनन्द प्राप्त होता है अतः अनुभाव ही रस है—‘अनुभाव-स्तथा तथा इतीतरे’। कोई कहता है कि रस के आलम्बन विभाव का चित्त-वृत्तियां अर्थात् व्यभिचारी भाव ही रस रूप में परिणत होते हैं अतः वही रस है—

व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति इति केचित्

बहुत से कहते हैं कि किसी नाटक में नट के रूप-लावण्य और वेषभूषा एवं सुन्दर दृश्य (सीनरी) आदि विभावों द्वारा, किसी में नटों के मनोमोहक अभिनयों (कदाक, भ्रूक्षेपादि चेष्टाओं) अर्थात् अनुभावों द्वारा और किसी में उनके भनोभावों के विश्लेषण अर्थात् व्यभिचारी भावों द्वारा आनन्द प्राप्त होता

संस्कृत साहित्य का इतिहास

है अतः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन तीनों में जिसमें चमत्कार हो वही रस है—

त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसोऽन्यथा त्रयोरपि न इति बहवः' ।

किन्तु ये सभी मत सर्वथा अग्राह्य हैं, क्योंकि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन तीनों में से केवल एक अर्थात् केवल विभाव, या केवल अनुभाव अथवा केवल व्यभिचारी द्वारा रस की अभिव्यक्ति कर्दापि नहीं हो सकती । बात यह है कि इन तीनों की किसी भी एक रस में एकान्तिक स्थिति नहीं अर्थात् ये एक खास रस के नियत नहीं हैं—जो एक रस में होते हैं, वही दूसरे रस में भी हो सकते हैं । जैसे सिंह आदिक हिंसक जीव भयानक रस के आलम्बन विभाव होते हैं, वही (सिंह आदि) वीर और रद्र रस में भी आलम्बन हो सकते हैं, क्योंकि कायर पुरुष के लिये वह जिस प्रकार भय के आलम्बन हैं, उसी प्रकार दृढ़चित्त वीर पुरुष के लिये उत्साह और क्रोध के आलम्बन भी हो सकते हैं । एवं अश्रुपातार्द जैसे शृङ्गार रस में अनुभाव हो सकते हैं, उसी तरह वही कहण और भयानक में भी अनुभाव हो सकते हैं, क्योंकि अश्रु प्रेम से भी और शोक तथा भय से भी उत्पन्न हो सकते हैं । चिन्ता आदि चित्त-वृत्तियाँ व्यभिचारी भाव जिस प्रकार शृङ्गार रस के स्थावी 'रति' की पुष्टि करते हैं, उसी प्रकार वह कहण, भयानक आदि रसों में शोक, भय आदि की पुष्टि भी करते हैं, ऐसी अवस्था में केवल एक के द्वारा रस किस प्रकार ध्वनित हो सकता है । अतएव सिद्ध होता है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी स्वतन्त्र रूप में रस रूप अथवा रस के उत्पादक नहीं हो सकते ।

अच्छा, अब यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब विभाव अनुभाव और सञ्चारी इन तीन के समूह द्वारा ही रस की निष्पत्ति है—किसी एक द्वारा नहीं तो, कहीं केवल एक विभाव ही होता है कहीं केवल अनुभाव ही होते हैं तथा कहीं केवल व्यभिचारी ही होते हैं और कहीं इन तीनों में दो ही होते हैं, किन्तु ऐसे काव्यों में भी रस की स्थिति स्वीकार की जाती है, वह क्यों? इसका उत्तर यह है कि जहां विभावादि तीनों में एक ही स्पष्ट प्रतीत होता है, वहां वह

अपने व्यञ्जनीय रस का ऐसा असाधारण संचन्द्रा होता है, जो अन्य किसी दूसरे रस की उपस्थिति नहीं होने देता अतः उसके द्वारा शेष दोनों का आक्षेप हो जाता है अर्थात् वह एक अपने व्यंजनीय रस के अनुकूल शेष दोनों भावों का बोध करा देता है, तब इन तीनों के समूह से ही वहां रस व्यक्त होता है—न कि एक के द्वारा जैसे

‘वियदलिमज्जिनाम्बुगर्भमेधं मधुकरकोकिलकृजितैर्दिशांश्रीः ।

धरणिरभिनवाङुराङ्कटङ्गा प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुख्ये’ ॥५४॥

यहां केवल मानिनी नायिका आलम्बन और वर्षा-कालिक उद्दीपन विभावों का वर्णन है—अनुभाव और संचारी नहीं किन्तु मानिनी नायिका विप्रलभ शृङ्खार का आसाधारण आलम्बन विभाव है—वह किसी दूसरे रस की प्रतीति नहीं होने देता अतएव इस विभाव के कारण अंगों का वैवर्य आदि अनुभाव और चिन्ता आदि व्यभिचारियों का स्वयं आक्षेप हो जाता है । फिर इन तीनों ही के समूह से रति स्थायी भाव यहां वियोग-शृङ्खार रस के रूप में व्यक्त होता है ।

विभावादि तीनों का समूह भी रस-व्यञ्जक नहीं

यद्यपि कुछ लोगों का यह मत है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन तीनों का समूह रस है—

* मानिनी नायिका के प्रति सखी की उक्ति है—हे सुख्ये, देख तो यह कैसा रमणीय कामोदीपक समय है गगनमण्डल अमर पुञ्ज जैसे श्याम सजल मेंदों से आच्छादित है । दशों दिशाएं मधुकरों की गुञ्जार और कोकिलों की कूज से सुखरित हो रही हैं । पृथ्वी नवीन अंकुरों से व्याप्त है अतएव अब मान छोड़ कर बार-बार प्रणाम करते हुए प्रिय पर तू प्रसन्न हो । निष्कर्ष यह कि जहां दृष्टिपात निया जाय वहीं उद्दीपन सामग्रियाँ हैं ऐसे समय तेरा मान स्थिर रहना नितान्त असम्भव है अतएव यह बड़ा अच्छा अवसर है—तेरा प्रणायी तुझे पाद-यतन से प्रसन्न कर रहा है यदि अब तू इस अवसर पर प्रसन्न म होगो तो यह अवसर निकल जाने पर सम्भव है तू स्वयं उर्कंठित होकर प्रियतम से मिलने का यत्न करे ।

‘विभावादयस्थ्यः समुदिता रसाः इति कतिपये’, ।

—रसगं० पृ० २८

किन्तु केवल इन तीनों के समूह को भी रस नहीं कहा जा सकता क्योंकि रस अवस्था को रति आदि स्थायी भाव ही प्राप्त हो सकते हैं—विभावादि तीनों का समूह तो केवल स्थायी भाव को रस रूप में व्यक्त करने वाला है ।

स्थायी और व्यभिचारी भावों का भेद

यद्यपि ‘रति’ आदि & स्थायी भाव भी चित्त-वृत्तियाँ ही हैं, रति आदि भी अपने-अपने रस में ही स्थायी संज्ञा को प्राप्त होते हैं, जैसे शृङ्खार में रति, हास्य में हास, करुण में शोक, रौद्र, में क्रोध, वीर में उत्साह, भयानक में भय, वीभत्स में जुगुप्सा, अद्भुत में विस्मय और शान्त में निर्वेद ये आदि से अन्त तक उत्तमान रहते हैं । किन्तु जब ये अपने रस से अन्यत्र किसी दूसरे रस में होते हैं, तो वहाँ ये स्थायी नहीं रह कर उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं अतएव वहाँ यह भी व्यभिचारी हो जाते हैं । जैसे शृङ्खार रस में ‘रति’ अन्त तक बना रहता है अतः वहाँ यह स्थायी माना गया है किन्तु हास (जो कि हास्य रस में स्थायी होता है) शृङ्खार और वीर रस में उत्पन्न और विलीन होता रहता है अतएव वहाँ वह व्यभिचारी हो जाता है । इसी प्रकार क्रोध, जुगुप्सा और उत्साह आदि क्रमशः रौद्र, वीभत्स और वीर में स्थायी होने पर भी वीर, शान्त और रौद्र, में क्रमशः व्यभिचारी हो जाते हैं ।

अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब ‘रति’ आदि भाव भी चित्त-वृत्तियाँ हैं और यह भी अन्य रसों में व्यभिचारी की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तो फिर रति आदि स्थायी भावों को ही रस अवस्था का प्राप्त होना क्यों माना गया, निर्वेद * आदि अन्य भावों को (जिनको व्यभिचारी भाव माना गया है) क्यों नहीं ? इसका समाधान यह है कि चित्त-वृत्तियाँ तो असंख्य हैं किन्तु साहित्य-शास्त्र में उल्लेखनीय ४२ ही मानी गई हैं (यदि सात्त्विक भावों को सम्मिलित

* वैराग्य से उत्पन्न निर्वेद स्थायी होता है और इष्ट-वियोगादि जन्य निर्वेद व्यभिचारी ।

कर लिया जायः तो ५६ या ५०) जिनमें ३३ चित्त वृत्तियाँ ऐसी हैं जो किसी एक रस में आदि से अन्त तक नियत रूप से स्थिर नहीं रह सकती—सभी रसों में यथा अवसर—प्रसंगानुसार कभी कोई कभी कोई समुद्र की तरंगों के समान सञ्चार करती और लुप्त होती रहती हैं अतएव उनको व्यभिचारी भाव माना गया है । और रति आदि ६ चित्त वृत्तियाँ जिनको स्थायी भाव माना गया है, वे अपने एक-एक रस में नियम से एक-एक, आदि से अन्त तक स्थिर रूप से प्रतीत होती रहती हैं । यदि यह कहा जाय कि चित्त-वृत्तियाँ तो सभी तत्काल नष्ट हो जाने वाले पदार्थ हैं इनका स्थिर रहना बड़ा दुर्लभ है, यदि इनको वासना रूप से स्थिर माना जाय तो जिन-चित्त-वृत्तियों की व्यभिचारी भाव संज्ञा है, वे भी वासना रूप से तो अन्तःकरण में विद्यमान रहती ही हैं फिर स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव में भेद हो क्या ? इसका उत्तर यह है कि वासना रूप स्थायी भावों का बार-बार अभिव्यक्त होना और दूसरे भावों से नष्ट न होना ही यद्यां स्थिर या स्थायी पद का अर्थ है । क्योंकि वे अपने किसी विरोधी भाव से अथवा अपने अनुकूल किसी भाव से तिरोधान (छिप) नहीं हो सकते । कहा है—

‘विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमद्दमः ॥
आनन्दङ्कुरकन्दोसौ भावः स्थायी पदास्पदम्’ ।

—काठ्यप्रदीप

किन्तु व्यभिचारी भाव अपने अनुकूल भाव से इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्य प्रकाश और विरुद्ध भाव से इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे जल से अग्नि । पर स्थायी भाव इस प्रकार किसी भाव से नष्ट नहीं होते । स्थायी भाव लवणाकर (ज्वार सनुद्र) के समान है जैसे लवणाकर में खट्टी, मीठी चर्परी जो वस्तु गिरती हैं वह सभी लवण बन जाती हैं, इसी प्रकार स्थायी भाव में सभी व्यभिचारी-भाव अनुकूल हों या प्रतिकूल स्थायी भाव के तद्रूप बन जाते हैं । इसी लिए स्थायी भावों को राजा के तुल्य और अन्य भावों को साधारण-जनता के समान माना गया है—

संस्कृत साहित्य का इतिहास

‘यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह’ ॥

—नाथ्यशास्त्र ७।१२

अतएव ‘रति’ आदि स्थायी भाव ही पूर्वोक्त विभावादि के संयोग से रस अवस्था को प्राप्त हो सकते हैं, न कि व्यभिचारी भाव ।

‘रस’ वाच्य नहीं व्यङ्ग्य है

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि शृङ्गारादि रस वाच्य नहीं, अर्थात् शृङ्गार आदि शब्दों के कथन मात्र से अथवा रस-वाचक शब्दों का अर्थ समझने मात्र से आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता । यदि रस के नाम मात्र से ही आनन्द प्राप्त होना संभव होता तो कवि या नाथ्यकार द्वारा अपनी कृति पर यह विज्ञप्ति करने पर कि इसमें अमुक रस है आनन्द होना चाहिये था पर ऐसा नहीं होता, जब तक कि उस कृति में रसोद्बोधक उपयुक्त सामाग्रियां (विभावादि) न हों । अत-एव सिद्ध हुआ कि ‘रस’ विभावादि द्वारा प्रतीत हीने वाला व्यंग्यार्थ है । व्यंग्यार्थ वाच्य नहीं होता किन्तु ध्वनि द्वारा ध्वनित होता है । व्यंग्यार्थ और ध्वनि क्या वस्तु हैं इसको स्पष्टता ध्वनि सम्प्रदाय के प्रकरण में की जायगी ।

रसों की संख्या

रसों की संख्या में भी साहित्याचार्यों का कुछ मतभेद है । रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री भरतमुनि ने यद्यपि प्रारम्भ में—

‘शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्साद्वत्संज्ञौ चेत्यष्टौ नाष्ट्ये रसाः स्मृताः’ ॥

नाथ्यशास्त्र ६।१६।

इस कारिका में शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत ये आठ रस नाथ्योपयोगी बतलाये हैं । पर इनके निरूपण के पश्चात्—

“अत शान्तो नाम……। मोक्षाध्यात्मसमुत्थ……शान्त रसो नाम सम्भवति । ……एवं नवरसा दृष्टा नाथ्यज्ञैर्लक्षणान्विताः ।”

(नाथ्यशास्त्र पृ० ३२४-३३ गायकवाड संस्क०)

इन सूत्र और कारिकाओं में शान्त रस का भी निरूपण किया है। केवल यहीं नहीं, उन्होंने शान्त रस से ही रति आदि अन्य सभी भावों की उत्पत्ति और शान्त में ही सबका लय स्वीकार किया है—

‘स्वांस्वं निमित्तयासाद्य शान्ताद्वावः प्रवर्तते ।

पुनर्निमित्तापायेच शान्त एवोपलीयते ।’

(नाण्डशास्त्र ६।१०८)

और इसकी व्याख्या में श्री अभिनवगुप्तादाचार्य ने कहा है—

‘तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानोयं सर्वस्थायिभ्यः स्थयितम्’—

(अभिनवभारती पृ० ३३७)

यों तो भरत मुनि ने सर्व प्रथम चार रस ही माने हैं, शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीमत्स और इन्हीं से शेष चार रसों का प्रादुर्भाव बतलाया है—शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करण, वीर से अद्भुत और बीमत्स से भयानक। उसके बाद रस निरूपण करते हुए अन्त में शान्त की ही प्रधानता स्वीकार की है। अग्निपुराण में शृङ्गार रस से ही अन्य रसों की उत्पत्ति मानी गई है। वहां इस विषय में कहा गया है कि वेदान्तों में जिसे अक्षर, अज, चैतन्य, स्वपकाशादि ईश्वर परब्रह्म कहा गया है, वह स्वतः सिद्ध आनन्दमय है अथवा उसमें आनन्द विद्यमान है, वह आनन्द किसी समय प्रकट हो जाया करता है, उस आनन्द की जो अभिव्यक्ति है, वह चैतन्य चमत्कार अथवा रस है। उस आनन्द का प्रथम विकार अहङ्कार है, अहङ्कार से अभिमान उत्पन्न होता है जो त्रैलोक्य में व्याप्त है। उसी अभिमान से रति (प्रेम या अनुराग) उत्पन्न होती है, वही रति व्यभिचारी आदि से पुष्ट होकर शृङ्गार रस कही जाती है। और रति के हास्यादिक भेद हैं अर्थात् रति, सत्त्वादि गुणों के विस्तार से राग, तीक्ष्णता, गर्व सङ्कोच इन चार रूपों में परिणत होती है—राग से शृङ्गार, तीक्ष्णता से रौद्र, गर्व से वीर और सङ्कोच से बीमत्स रस की उत्पत्ति है। फिर

शृङ्खार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वभत्स से भयानक रस उत्पन्न होता है और रति के अभाव से शान्त रस की उत्पत्ति है।

नाव्यशाल्म और अग्निपुराण के पश्चात् उपलब्ध ग्रन्थों में भामह और दण्डा ने इस विषय पर विशेष विवेचन नहीं किया है—रसवद् अलङ्कार प्रकरण में रसों का नामोल्लेख मात्र किया है। इसके बाद रस विषयक विवेचन हम को रुद्रट के काव्यालङ्कार में मिलता है। रुद्रट ने प्राचीनों के नव रसों के अतिरिक्त एक ‘प्रेयान्’ नामक रस बतलाया है जिसका स्थायी वह स्नेह बतलाता है। कुछ विद्वानों ने, वात्सस्य, लौल्य, भक्ति, श्रद्धा आदि स्वतन्त्र रस माने हैं किन्तु साहित्य के प्रासद्ध आचार्यों ने इन को पृथक रस स्वीकार नहीं किया—किन्तु प्राचीनों के निरूपित नौ रसों के अन्तर्गत ही इन सब को बतलाया है और प्रायः सभी साहित्याचार्यों ने नौ रस ही माने हैं। कुछ आचार्यों ने शृङ्खार रस को ही प्रधान माना है। श्री भोजराज ने अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए अपने ‘शृङ्खारप्रकाश’ में तो यहां तक कहा है शृङ्खार ही एक मात्र रस है, वीर अद्भुत आदि में रस शब्द का प्रयोग केवल गतानुगतिक—अन्ध परम्परा से किया जाता है—

‘शृङ्खारवीरकरुणाद्भूतरौद्रहास्य
वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
आम्नासियुर्दशरसान्सुधियो वयं तु
शृङ्खारमेव रसदाद्रसमामनामः’ ॥
‘वीराद्भूतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटपक्षवदाविभाति ।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता—
मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमोनः ॥

—शृङ्खारप्रकाश प्रथम प्रकाश ६, ७

इसी प्रकार महाकवि भवभूति ने उत्तररामचरित के—

‘एको रसः करुणएव निमित्तभेदा-
द्विनः पृथक् पृथगित श्रयते गिरार्ताच्,
आवर्तवुद्वुदतरज्जन्मयानिवकारा-

नम्भो तथा सलिलमेवहि तत्समस्तम् ।’ ३।४७

इस पद्य में करुण रस को ही अन्य सारे रसों का मूल तत्व माना है। यद्यपि उत्तररामचरित के टीकाकार श्री वीरराधव ने इसकी स्पष्टता में कहा है कि करुण को प्रधान इसलिये माना गया है कि वह रागी (प्रेमी) और विरागी (विरक्त) सभी के लिये साधारण है—शृङ्खार रस में यह महत्व नहीं वह वेवल रागी जनों को ही आनन्दप्रद हो सकता है। किन्तु महाराज भोज और भवभूति आदि का यह विवेचन अपने अभिमत रस का महत्व प्रदर्शित करना। मात्र है; यद्यपि रस सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य श्री भरत के नाथ्यशास्त्र और अश्विपुराण में शान्त और शृङ्खार से अन्य रसों की उत्पत्ति मानी गई है। किन्तु आश्चर्य है कि रस सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि ध्वनिकार और आचार्य मम्मट आदि महान् साहित्याचार्यों द्वारा इस विषय में विशेष विवेचन नहीं किया गया है।

—:४:—

भक्ति रस

साहित्य के आद्याचार्य भरतमुनि ने शृङ्खार आदि नौ रस ही स्वीकार किये हैं और नौ रसों में शान्त रस को प्रधानता दी है। अन्य सब रसों का शान्त रस से ही प्रादुर्भाव और शान्त रस में ही लय होना बताया है (नाथ्यशास्त्र ६। १०८) यह तो पहिले दिखाया ही जा चुका है। भरतमुनि ने ‘भक्ति’ को शान्त रस के अन्तर्गत ही माना है जैसा कि नाथ्यशास्त्र ६। १०८ की अभिनवभारती व्याख्या के—

‘अतएवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे…’।

इस वाक्य में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्पष्ट किया है। प्रतीत होता है कि भरतमुनि ने निराकारोपासना और साकारोपासना दोनों का आलम्बन एक ही

संस्कृत साहित्य का इतिहास

साक्षात् सच्चिदानन्द पूर्णं ब्रह्म होने के कारण ज्ञान और भक्ति दोनों का समावेश शान्त रस में कर दिया है।

भरतमुनि के बाद साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थों में भासह ने 'प्रेय' नामक एक अलङ्कार का लक्षण न देकर केवल—

'प्रेयोगृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा ।'

यह लिख कर—

अद्य या मम गोविन्दं जाता त्वयि गृहागते ।

कालनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ॥'

—काव्यालङ्कार ३।५

यह उदाहरण दिया है। और भासह के बाद दण्डी ने 'प्रेय' अलङ्कार का—'प्रेयो प्रियतराख्यानं'। यह लक्षण लिखा है। और भासह का यही—'अद्य या मम गोविन्द...' उदाहरण दिखाकर फिर इसकी—

'इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः ।

भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः ।'

—काव्यादर्श २।२७७

यह स्पष्टता की है कि भगवान् हरि का भक्तिमात्र से ही आराध्य होने के कारण विदुर का यह वाक्य भगवान् के प्रति कहना। उचित ही है। अतः भगवान् भक्ति द्वारा जैसे प्रसन्न होते हैं वैसे अन्य—यज्ञादि कर्मों द्वारा नहीं होते।

दण्डी के बाद आचार्य उद्धट ने प्रेय अलङ्कार को—

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।

यत्काव्यं वध्यते सद्ग्रिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ।'

—अलङ्कारसारसंग्रह ४।२

इस लक्षण में रति आदि भावों का अनुभावों द्वारा सूचन किये जाने को 'प्रेय' अलङ्कार माना है। इसके द्वारा स्पष्ट है कि भरतमुनि के बाद ममट के पूर्ववर्ती

की अस्त्यन्त प्रीति सूचक वाक्य कथन करना।

भास्मह आदि ने 'भक्ति' को 'प्रेय' अलङ्कार का विषय माना है। किन्तु उसके बाद आचार्य ममट ने भरत के मतानुसार भक्ति को शान्तरस के अन्तर्गत इसलिये नहीं माना कि 'शान्त' रस का स्थायी जो 'निर्वैद' है वह भक्ति का विरोधी है। और भास्महादि के मतानुसार भक्ति को अलङ्कार का विषय इसलिये नहीं माना कि 'रति' (जो भक्ति का ही पर्यायवाची शब्द है) रसोद्घाटक प्रधान पदार्थ है। पर साथ ही ममट ने भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट रसों की संख्या की मर्यादा को उल्लंघन करना भी उचित नहीं समझ कर अगत्या भक्ति का—

'रतिर्देवादिविषया १ व्यभिचारी तथाऽङ्गितः । भावः प्रोक्तः ।'

काव्यप्रकाश ४।३५

इस कारिका द्वारा अन्य भावों के साथ 'रतिभाव' में समावेश कर दिया। और गतानुगतिक न्याय से ममट के परवर्ती आचार्य ममट का ही श्रनुसरण करने लग गये। 'भक्ति' को स्वतन्त्र रस क्यों नहीं माना जाय? इस विषय में परिडतराज जगन्नाथ ने पूर्वपक्ष उठा कर फिर केवल यही कह कर कि 'भरतमुनि द्वारा नियत की हुई रसों की संख्या मानना ही उचित है' स्वयं समाधान भी कर लिया।

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि 'भक्ति' को स्वतन्त्र रस न मानने का कारण एक मात्र साहित्यिक परिपाठी अथवा रुढ़ि है। यदि वस्तु-स्थिति पर विचार किया जाय तो शृङ्खारादि नवों रसों के अतिरिक्त—

भक्ति सर्वोपरि प्रधान रस है

क्योंकि—

'रसो वै सः' 'रस॑' लव्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।' आनन्दाद्ध्येव

^१ यहाँ 'देवादि' में 'आदि' के प्रयोग द्वारा गुरु, मुनि, विषयक रति (श्रद्धा), राजा विषयक रति (चाटुकारी), और पुत्र विषयक रति (वास्तव्य) आदि का ग्रहण किया गया है—'आदि शब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया ।' — काव्यप्रकाश ४।३५ वृत्ति ।

खलिगमानि भूताति जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दप्रथयन्त्याभिसंवशन्ति ।'

इत्यादि श्रुति प्रमाणों और भगवान् वेदव्यास के—

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम् ।

वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥

आनन्दः सहजस्तस्य व्यञ्जयते स कदाचन ।

व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाव्हया ॥

—अग्निपुराण ३४०।१,२

इत्यादि वाक्यों के अनुसार ब्रह्मानन्द को ही रस के रसत्व का मूलतत्व सभी साहित्याचार्यों ने स्वीकार किया है । अर्थात् साहित्याचार्यों का मत है कि अज्ञान रूप आवरण से रहित जो चैतन्य है उससे युक्त 'रति' आदि स्थायीभाव ही रस है । इसी आधार पर साहित्याचार्यों ने रस जन्य आनन्द को 'ब्रह्मानन्दसहोदर' बताया है । वस्तुतः देखा जाय तो साहित्याचार्यों ने शृङ्खाल आदि रसों को तो ब्रह्मानन्द सहोदर मात्र ही माना है किंतु भक्तिरस और ब्रह्मानन्द की तो केवल संज्ञा (नाम) मात्र दो हैं—वस्तुतः दोनों एक ही हैं । देखिये, भगवद्पाद श्री शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक अद्वैतसिद्धि के प्रणेता परमहंस परिवाजकाचार्य श्रीमध्युसूदन सरस्वती क्या कहते हैं—

"समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतंत्रपुरुषाथर्थत्वात् । तस्मात्
.....भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वात्वादिति निर्विचादम् ।"

—भक्तिरसायन प्रथमोद्धास पृ० ६

इसमें आपने समाधि-जन्य ब्रह्मानन्द को और भक्ति रसास्वाद को समान माना है । यह तो हुआ समाधि-सुख के अनुभवी अव्यक्तोपासकों का मत । अब देखिये, इस विषय में भक्तिरसास्वाद के अनुभवी अनन्य भक्त क्या कहते हैं—

ब्रह्मानन्दो भवदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः ।

नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमागुतुलामपि ॥'

श्रो रूपस्वामी प्रणीत हरिभक्तिरसामृत सिन्धु ११९, २०

इसमें भक्तिरसास्वाद की अपेक्षा पराद्वकाल पर्यन्त के समाधि-जन्य ब्रह्मानन्द को परमाणु के तुल्य भी नहां माना गया है। इसी प्रकार श्री ब्रुव ने—

‘या निवृत्तिस्तनुभृतां तव पादपद्म-

ध्य नाद्वन्नज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।

सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत् ।

किन्तव्यान्तकासितुलितात्पततां विमानातः ।’

—श्रीमद्भागवत ४।१।१०

इसी प्रकार अनेक प्रसंगों में श्रीमद्भागवत आदि में भक्ति-रसास्वाद को ब्रह्मानन्द से बढ़ कर बताया गया है। यही नहीं, सब प्रधान साहस्राचार्य श्री आनन्दवध्वनाचार्य ने स्वयं कहा है—

‘या व्यापारवती रसान्रसयितुं काचित्कवीनां नवा,

हृषिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।

ते द्वे आप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,

श्रान्ता नैव च लब्धमधिष्ठशयन त्वद्वक्तिरुल्यं सुखम् ।’

—ध्वन्यालोक पृ० २२७

इसके द्वारा निर्विवाद सिद्ध होता है कि भक्ति रसानन्द सर्पोपरि है। इसके अतिरिक्त अन्य रसों के साथ रसोद्वेधक पदार्थों का तुलनात्मक भी विचार किया जाय तो शृङ्खारादि अन्य रसों के स्थायी और विमावादि सभी लौकिक हैं और भक्तिरस के स्थायी और विमावादि सभी अलौकिक हैं। भक्ति रस में—

स्थायी—भगवद्विषयक अनुग्रह-रति अलौकिक है।

* हे नाथ, जो परमानन्द शरीरवासियों को आपके पदारविन्द के ध्यान द्वारा और आपके भक्तों से कथाश्रवण द्वारा उपलब्ध होता है, वह—परमानन्द ब्रह्मानन्द से भी प्राप्त नहीं हो सकता। किर कालरूपी खड़े से कट कर गिरते हुए विमान से गिरने वाले स्वर्गवासियों को वह कहां प्राप्त हो सकता है।

आलंबन विभाव— साक्षात् पूर्णव्रह्म भगवान् श्रीराम कृष्ण आदि के अखिलविश्वसौन्दर्यनिधि दिव्य विग्रह हैं, वे भी अलौकिक हैं।

अनुभाव— अनन्य प्रेम-जन्य अश्रु, रोमाञ्च आदि भी अलौकिक हैं^१।

व्यभिचारो— इर्ष, श्रौतसूक्य, आवेग, चपलता, उन्माद, चिन्ता, दैन्य, धृति स्मृति और मति आदि सभी अलौकिक ही हैं^१। अतएव कहा है—

“पराभक्तिः प्रोक्ता रस इति रसास्वदनचरणैः ।”

—भगवद्भक्ति चन्द्रिकामृतरसोल्लास

ऐसी परिस्थिति में खेद है किं जिन साक्षात्याभास नवाँ रसों में चिदानन्द के अंशांश के स्फुरण मात्र से साहित्याचाय रसानुभूति बतलाते हैं उनको साहित्य में रस की प्रतिष्ठा दी गई है एवं कान्ताविषयक रति को सर्वप्रधान शृङ्गार रस माना गया है। किन्तु—

‘एतस्यैवानन्दस्य आनन्दा मात्रानुपजीवन्ति ।’

इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित जो ब्रह्मानन्द आखिल आनन्दों का एक मात्र आश्रय है, उस साक्षात् चिदानन्दात्मक ब्रह्मानन्द से भी बढ़ कर भगवद्भक्ति-जन्य परमानन्द है उसे रस न मानकर राज विषयक रति (मिथ्याप्रशंसात्मक चाढ़कारी) एवं पुत्र विषयक रति (वात्सत्य) के समान ही ‘भाव’ मात्र माना गया है। इससे अधिक क्या आश्रय हो सकता है ! यही क्यों क्रोध, शोक, भय श्रौत वीभत्स आदि स्थायी भावों को—जो प्रत्यक्ष में सुख के विरोधी हैं—रौद्र, करण, भयानक और वीभत्स रस की प्रतिष्ठा दी गई है जबकि इनसे अमित गुण अधिक भगवद्विषयक रति का आनन्द है। यदि यह कहा जाय कि इसमें प्रमाण क्या, तो इसका उत्तर तो यही है कि अन्य रसों के आस्वाद

^१ श्रीमद्भागवत में (१३।३।३२) वसुदेवजी के प्रति योगेश्वर प्रबुद्ध के वाक्य हैं—

क्वचिद्गुदन्त्यनुत्तचिन्तया क्वचित् हसन्ति नन्दन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः, नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृत्ताः ।

के प्रमाण के लिये आप लोग सहृदयजनों से पूछने के लिये आशा करते हैं तो हमारा निवेदन है कि भक्तिरसास्वाद के विषय में आप लोग भी तदीय भक्तजनों से क्यों न पूछियेगा । ऐसी अवस्था में इस विषय में हमारे प्राचीन साहित्याचार्यों के दुराग्रह के सिवा अधिक क्या कहा जा सकता है ।

—:—

शान्तरस और नाट्य

कुछ आचार्यों का मत है कि नाट्य में शान्तरस का होना असंभव है क्योंकि शान्तरस शान्ति-साध्य है पर नट में शान्ति का होना सम्भव नहीं है, कहा है—

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात् ।

अष्टावेवरसा नाट्ये शान्तस्तत्र न युज्यते ॥

किंतु यह मत सर्वमान्य नहीं । पाण्डितराज ने इस पर कहा है कि नट में शान्ति असम्भव है यह तो हम स्वीकार करते हैं किन्तु इसके द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि नट में शान्ति न होने के कारण शान्त रस का अभिनय प्रकाशित न किया जा सके क्योंकि नट जब रौद्र या भयानक रस की अभिव्यक्ति के लिये (प्रकाशित करने के लिये) अभिनय करता है, तब क्या उसमें वास्तविक क्रोध या भय रहते हैं ? कदापि नहीं, तो फिर वह (नट) रौद्रादि रसों का अभिनय किस प्रकार कर सकता है ? ऐसी अवस्था में रौद्रादि रसों का अभिनय भी नट के द्वारा असम्भव है । यदि यह कहा जाय कि नट में क्रोधादि न होने के कारण क्रोध आदि के वारतविक कार्य—वध-वन्धनादि के उत्पन्न न होने पर भी शिक्षा और अभ्यास द्वारा कृत्रिम वध-वन्धनादि कार्य उत्पन्न होने में कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है, तो फिर यही बात शान्तरस के विषय में भी क्यों नहीं मानी जा सकती है ? दोनों ही स्थलों पर प्रश्न तो समान ही है । फिर यदि यह कहा जाय कि सामाजिकों में भी नाट्य द्वारा शान्तरस का उद्य किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि विषयों से वैराग्य होना ही शान्त

रस का स्वरूप है, और नाट्य में गीत-बाद्यादि विषय विद्यमान रहते हैं तो इसका समाधान यह है कि जो लोग नाट्य में शान्त रस का होना मानते हैं, वे गीत बाद्यादि को उसका विरोधी नहीं मानते। यदि ऐसा ही हो तो उनका फल शान्त रस का उदय ही न हो सके। फिर यदि यावनमात्र सभी विषयों के विन्दन को ही शान्त रस के विरुद्ध मान लिया जाय तो शान्त का आलम्बन संसार का अनित्य होना एवं उसके उद्दापन महाभारतादि का श्रवण, सत्सङ्ग, एकान्तस्थल, आदि भी तो विषय ही हैं अतः वे भी उसके विरोधी ही हुए, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। अतएव जो विषय शान्त रस के अनुकूल विरक्ति के साधन भगवद् भजन कीर्तन आदि हैं वे शान्त रस के अभिव्यञ्जक हो सकते हैं। इसी लिये सङ्गीतरदाकर में कहा गया है—

‘अष्टावेन रसो नाट्येभिति केचिदचूचुदन् ।
तदचारु यतः कञ्चित्त रसं स्वादते नटः’ ॥

अतएव नाट्य में भी शान्त रस का होना सिद्ध होता है और काव्य तो शान्त रस प्रधान निर्विवाद सिद्ध है—जब कि महाभारतादि में शान्त रस ही प्रधान है।

करुण और वीभत्स में रसत्व क्यों माना गया ?

अच्छा, अब एक प्रश्न यह भी उपस्थित हो सकता है कि जब आनन्दानुभव को ही रस माना गया है तो करुण, वीभत्स आदि के द्वारा तो प्रत्यक्ष दुःख और धृणा आदि उत्पन्न होते हैं न कि आनन्द, फिर वे (करुण और वीभत्स आदि) रस क्यों माने गये ? इसका उत्तर यह है कि करुण आदि रस यदि दुःख और धृणोत्पादक होते तो करुणादि रस-प्रधान काव्य नाटकों को कोई भी न सुनता और न देखता। पर प्रत्यक्ष देखा जाता है कि करुण रस प्रधान काव्य नाटकों को भी शृङ्खाल रस के काव्य नाटकों के समान ही सब लोग सुनते और देखते हैं, क्योंकि उनके द्वारा भी वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है, जैसा शृङ्खाल रसात्मक काव्य नाटकों द्वारा। इसमें सहृदय जनों का अनुभव ही

सर्वोक्तुष्ट प्रमाण है। बात यह है कि लौकिक में जो शोक के प्रसङ्ग श्रीराम-
वनवास आदि दुःख के कारण दृष्टिगत होते हैं वे जब काव्यादि में निबद्ध होकर
आते हैं, तब उनका व्यवहार 'कारण' शब्द से नहीं किन्तु 'विभाव' शब्द से
होता है अर्थात् काव्य नाय्यादि से सम्बन्ध हो जाने पर उन कारणों में विभावन
नाम का अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है अतएव उनके द्वारा सुख ही
प्राप्त होता है—चाहे वे लौकिक में दुःख के कारण ही क्यों न हों। शोकादि
के कारणों से दुःखादि उत्पन्न होने का नियम लोक-व्यवहार ही में है—काव्यादि
में नहीं। यदि यह कहा जाय कि फिर काव्य नाटकों में भी श्रीराम वनवास
एवं इरिशन्द्रादि के चरित्रों से अश्रुपातादि जो दुःख के कार्य हैं, क्यों देखे
जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि उस समय चित्त के द्रवीभूत हो जाने (पिघल
जाने) के कारण अश्रुपातादि होते हैं और चित्त के द्रवीभूत होने का कारण केवल
दुःखोद्रेक ही नहीं, किन्तु आनन्दोद्रेक भी है—आनन्द जनित अश्रुपात होना
भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। कहा भी है—

'आनन्दामर्षाभ्यां धूमाव्यजनजूभणाद्याच्छोकात् ।

अनिमेषप्रेक्षण्ठः शीताद्रोगाद्वेदास्मृ' ॥

—नाट्यशास्त्र (गायकबाड संस्क०) ७।१५१

रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत यहां रसों के लक्षण और उदाहरण दिखाना
अप्रासङ्गिक है। यह विषय रीति ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है*।

—:—

अलङ्कार सम्प्रदाय

अलङ्कार सम्प्रदाय संभवतः रस सम्प्रदाय के समकालीन ही है वेदों में

* हिंदी में इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये लेखक का काव्य
कल्पद्रुम तृतीय संस्करण का प्रथम भाग—रसमञ्जरी दृष्टव्य है।

अलङ्कारात्मक वर्णन मिलता है । नाट्यशास्त्र और अभिन्नपुराण में अलङ्कारों का निरूपण किया ही गया है । अग्निपुराण के बाद जो साहित्य के लक्षण ग्रन्थ भामह, दण्डी, वामन, उद्धट और रुद्रट द्वारा लिखे गये हैं उन सभी में अलङ्कारों का पर्यात विवेचन ही नहीं किन्तु उन ग्रन्थों के नामों में भी एक दण्डी के काव्यादर्श को छोड़ कर काव्यालङ्कार का प्रयोग किया गया है । इसके द्वारा अलङ्कारों का महत्व निस्सन्देह सिद्ध होता है । नाट्यशास्त्र और अभिन्नपुराण के बाद यद्यपि सबसे प्रथम अलङ्कारों का अधिक विवेचन इसको भामह के काव्यालङ्कार में ही मिलता है किन्तु भामह द्वारा जो अलङ्कार लिखे गये हैं वे प्रायः विभिन्न स्रोतों से एकांत्रित किये गये हैं । भामह स्वयं अपने को काव्यालङ्कार (प्रादृ) में अलङ्कार सिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं किन्तु परिपोचिक और परिवर्द्धक मात्र बताता है ।

अतएव भामह के पूर्व-कालीन विद्वानों द्वारा भी अलङ्कार विषय पर विवेचन किया जाना सिद्ध होता है । किन्तु भामह के पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं । ऐसी परिस्थिति में उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर भामह ही अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि कहा जा सकता है । भामह के पश्चात् इस सम्प्रदाय के उल्लेखनीय प्रतिनिधि दण्डी, उद्धट, रुद्रट और उद्धट के व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज हैं, जिनके द्वारा प्रारम्भिक काल में इस सिद्धान्त पर महत्वपूर्ण प्रकाश ढाला गया है । इन आचार्यों के ग्रन्थों में एक रुद्रट को छोड़ कर जिसने रस विषय पर भी विवेचन किया है—अलङ्कार विषय का ही प्राधान्य है । किन्तु यह बात नहीं कि भामहाहि, काव्य में अन्य पदार्थ—रस, भाव, गुण आदि—की आवश्यकता नहीं मानते थे, क्योंकि इन सभी आचार्यों ने रसादिक का भी न्यूनाधिक उल्लेख किया है । और भामह एवं दण्डी ने गुणों का भी निरूपण किया है । किन्तु इन आचार्यों ने काव्य में प्रधानता अलङ्कारों को ही दी है—अतएव इनके मतों के निष्कर्ष रूप में सूख्यक ने कहा है—

* वेदों में अलङ्कारात्मक वर्णन के उदाहरण प्रथम भाग में दिखाये गये हैं ।

‘अलङ्काराण काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतः ।’

—अलङ्कारसर्वम्

भामह, दण्डी और उद्धट के बाद साहित्याचार्यों का रस, अलङ्कार और रंति आदि की प्रधानता के विषय में मत-भेद होने पर भी गयः सभी आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य में महत्वपूर्ण पदार्थ समझा है और अलङ्कारों का मनोविज्ञान के आधार पर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है । अतः प्रायः साहित्य ग्रन्थों के अधिक भाग में अलङ्कार विषय का निरूपण ही देखा जाता है, यहां तक कि किसी-किसी ग्रन्थ में तो केवल अलङ्कार का विषय ही दृष्टिगत होता है । इसके द्वारा भी अलङ्कार सम्प्रदाय का महत्व स्पष्ट सिद्ध होता है । अच्छा, अब प्रथम यह स्पष्ट करना उपयुक्त होगा कि काव्य में—

अलङ्कार क्या पदार्थ है

इस विषय में संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि लौकिक में जिस प्रकार रत्नादि के निर्मित आभूषण शरीर को अलंकृत करने के कारण अलङ्कार कहे जाते हैं, उसी प्रकार काव्य को शब्दार्थ द्वारा अलंकृत करनेवाली रचना को काव्य शास्त्र में अलङ्कार कहते हैं ।

काव्य शब्द और अर्थ उभयात्मक है अतः अलङ्कार भी शब्द और अर्थ में विभक्त हैं । शब्द-रचना के वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को अलंकृत करते हैं वे अनुप्राप्त आदि शब्दालङ्कार और अर्थ-वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को सुशोभित करते हैं वे उपमा आदि अर्थालङ्कार कहे जाते हैं । महाराजा भोज ने कहा है—

‘ये व्युत्पत्यादिना शब्दमलंकर्तुभिहक्षमाः ।

शब्दालङ्कारसंज्ञास्ते ।’ (सरस्वती कण्ठाभरण २१२)

और—

‘अलमर्थमलंकर्तु यद्युत्पत्यादिवर्त्मना ।

ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञैस्तेर्थालङ्कारसंज्ञया ।’

—सरस्वती कण्ठाभरण ३१

शब्द रचना की विचित्रता प्रायः वर्णों और शब्दों की पुनरावृत्ति पर अवलम्बित है— और अर्थ की विचित्रता विभिन्न प्रकार के अर्थवैचित्र्य पर। ‘विचित्रता’ कहते हैं लोकोक्तर अर्थात् लोगों की स्वाभाविक साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा अतिशय (अत्यन्त बढ़ कर) वर्णन किया जाना। कहा है श्री अभिनव-गुप्तपादाचार्य ने—

‘लोकोक्तरेण चैवातिशयः……अनया अतिशयोक्त्या……विचित्रतया भाव्यते’^{३५} ।

जैसे—(१) बन गाय गैया के समान है, (२) क्या यह बन गाय है अथवा गैया ?, (३) यह बन गाय नहीं किन्तु गैया है, (४) बन गाय मानो गैया है। ये वाक्य लोगों की साधारण बोलचाल में कहे गये हैं, इसमें उक्ति-वैचित्र्य नहीं जिससे कुछ आनन्द प्राप्त हो। अतएव इनमें अलङ्कार की स्थिति नहीं (यद्यपि इन वाक्यों में क्रमशः उपना, सन्देह, अपहृति और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों के लक्षणों का समन्वय हो सकता है) किन्तु यदि इन्हीं उपयुक्त वाक्यों के स्थान पर (१) मुख चन्द्रमा के समान है, (२) यह मुख है या चन्द्रमा ?, (३) यह मुख नहीं किन्तु चन्द्रमा है, (४) मुख मानो चन्द्रमा है। इस प्रकार वाक्य कहे जायें तो इन वाक्यों में क्रमशः उपना, सन्देह, अपहृति और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों की स्थिति हो जाती है, क्यों? इसलिए कि ये वाक्य साधारण बोलचाल में नहीं कहे गये, इनमें लोकोक्तर अतिशय अर्थात् उक्ति-वैचित्र्य है। इस प्रकार का उक्ति वैचित्र्य ही काव्य को सुशोभित करता है। आचार्य भामह ने अतिशयोक्ति अलङ्कार के प्रकरण में कहा है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यत्तोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनयाबिना ॥

—काव्यालं० २०५

यहां ‘वक्रोक्ति’ का प्रयोग अतिशयोक्ति के लिये किया गया है, अतिशयोक्ति

* ध्वन्यालोक लोचन व्याख्या पृ० २०८ ।

का पर्याय ही वकोक्ति है—

‘एवं चात्रातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इतिबोध्यम्’

—काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका पृ० १०६

वक्रोक्ति का अर्थ है लोकोत्तर उक्ति-वैचित्र्य—

‘वक्रा वैचित्र्याधायिका लोकोत्तिशायिनी उक्तिः कथनम्’।

—काव्यप्र० बालबोधिनी टीका पृ० ६०६

आचार्य दण्डी ने भी कहा है—

अलङ्कारान्तराणामव्येकमाहुः परायणम् ।

वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥

—काव्यादर्श० २२२०

अर्थात् आचार्य भामह और दण्डी लोकोत्तर उक्ति-वैचित्र्य या अतिशयोक्ति पर ही अलङ्कारत्व निर्भर बताते हैं। और आचार्य ममट ने भी भामह की उपर्युक्त २।८५ की कारिका को विशेषालङ्कार के प्रकरण में उद्धृत किया है। निष्कर्ष यह है कि उक्ति-वैचित्र्य को ही काव्य में अजङ्कार कहते हैं। उक्ति-वैचित्र्य भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, उस विभिन्नता के आधार पर ही अलङ्कारों के विभिन्न नाम निर्दिष्ट किये गये हैं, श्री मदानन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

‘यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारमार्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुप-निवध्यमानः स्वयमेवानवधिधेत्ते पुनः शतशाखताम्’।

—ध्वन्या० पृ० २४३

काव्य में अलङ्कार का स्थान

अच्छा, अब यह विचारणीय है कि काव्य में अलङ्कारों का क्या स्थान है अर्थात् काव्य में अलङ्कारों को कितना महत्व दिया गया है और किस-किस आचार्य ने काव्य में अलङ्कारों की स्थिति अनिवार्य और किस किस ने ऐच्छिक बतलाई है। इसके लिये प्रथम यह द्रष्टव्य है कि काव्य में काव्यत्व की स्थिति किस पदार्थ पर निर्भर है। इसमें तो किसी आचार्य का मतभेद हो ही नहीं

संस्कृत साहित्य का इतिहास

सकता कि काव्यत्व चमत्कार पर ही निर्भर है। किन्तु उस चमत्कार का आधार क्या है, इस पर आचार्यों के विभिन्न मत हैं। ध्यान्यालोक के पूर्व ध्वनि या व्यञ्जयाचार्य पर तो कोई ग्रन्थ लिखा ही नहीं गया था अतएव ध्यान्यालोक के पूर्व के साहित्य ग्रन्थों में रस, गुण और अलङ्कार ही काव्य में चमत्कारक पदार्थ माने जाते थे। अतः काव्यत्व के लिये रस, गुण और अलङ्कार इन तीनों की ही स्थिति आवश्यक है अथवा एक या दो की स्थिति पर्याप्त है। इस विषय में प्रथम ध्यान्यालोक के पूर्ववर्ती आचार्यों के मत पर विचार करने पर विदित होता है कि—

(१) प्राचीनतम नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने काव्य में सर्वोपरि चमत्कारक पदार्थ रस को ही बताया है। यत्पि नाट्यशास्त्र में अलङ्कार और गुणों का निरूपण भी किया गया है, पर इनको अधिक महत्व नहीं दिया गया है। रस के महत्व के विषय में भरतमुनि ने कहा है—

‘तत्र रसानेव तावदादात्रभिव्याख्यास्यामः। न हि रसाद्वते कश्चित्पदार्थः प्रवर्तते।’

—नाट्यशास्त्र अ० ६

अतएव भरतमुनि के मतानुसार रस युक्त होना ही काव्यत्व के लिये पर्याप्त है।

(२) अभिपुराण के

‘वाग्वैद्रध्यप्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम्।’

—३३७।३३

इस वाक्य में काव्य का जीवन सर्वस्व केवल रस को बतलाते हुए भी—

अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।’

—३४५।१२

और—

‘बपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।’

—३४६।१

इन वाक्यों द्वारा अलङ्कार और गुण की स्थिति भी काव्य में आवश्यक बतलाई गई है। अर्थात् जिस प्रकार रस को काव्य का जीवनाधार बताया गया है, उसी प्रकार अलङ्कार-रहित काव्य को वैधव्य स्त्री के समान चमत्कार-हीन और गुण हीन काव्य को कुरुपा स्त्री के समान चित्ताकर्षक नहीं माना गया है। अतएव अग्निपुराण के मतानुसार काव्य में रस, अलङ्कार और गुण तीनों का ही होना परमाश्रयक है।

(३) अग्निपुराण के बाद भामह ने—अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि होने पर भी—अलङ्कार और गुण का लक्षण नहीं लिखा है। रस के विषय में—

‘युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।’

—काव्यालं० १२१

इस वाक्य द्वारा महाकाव्य में रस की स्थिति का होना आवश्यक अवश्य बतलाया है। पर रसों को—

‘रसवदर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा ।’ (काव्यालं० ३१६)

इस कारिका द्वारा रसवद् अलङ्कार के नाम से और भावों को ‘प्रेय’ अलङ्कार के नाम से अलङ्कारों के अन्तर्गत ही बतला दिया है।

(४) दण्डी ने भी अलङ्कार का कोई विशेष लक्षण न लिख कर अलङ्कार प्रकरण के प्रारम्भ में—

‘काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।’

—काव्यादर्श २।१

इस अग्निपुराण के (३४२।१७) शोकार्ध को उद्धृत करके अलङ्कारों को काव्य के शोभाकारक धर्म बताये हैं, और—

‘मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।’

—का० द० १।५१

इस कारिका में शृङ्गारादि रसयुक्त रचना को मधुर गुण वाली बतला कर और—

‘कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिद्धति ।’

— काद० १६२

इस कारिका में अलङ्कारों को रस के पोषक बतला कर अर्थात् रस को प्रधानता देकर भी रस और भाव विषय को भासह के अनुसार—

‘रसवद्रसपेशलम् ।’

(काव्यादर्श २।२७५)

‘प्रेयः प्रियतराख्यानम् ।’

(काव्यादर्श २।२७५)

इन कारिकाओं में रसवत् और प्रेय अलङ्कार का विषय बतला कर अलङ्कारों में ही रसों और भावों का समावेश कर दिया है ।

(५) भासह और दण्डी के बाद उद्घट ने भी—

‘रसवदर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसाद्यम् ।’

— काव्यालङ्कारसारसंग्रह ४।४४

इत्यादि कारिकाओं में रस और भावादि विषय को अलङ्कारों के अन्तर्गत ही माना है । अतएव भासह, दण्डी, और उद्घट के मतानुसार अलङ्कार की स्थिति ही प्रधानतया काव्यत्व के लिए पर्याप्त है किंर वह चाहे रसवत् अलङ्कार युक्त हो अथवा उपमा आदि अन्य अलङ्कार युक्त ।

गुण अलङ्कारों में भासह और दण्डी ने संभवतः कुछ भेद नहीं माना है । भासह ने भाविक अलङ्कार के लिये जिस प्रकार ‘गुण’ शब्द का प्रयोग किया है—

‘भाविकत्वमितिप्राहुः प्रवन्धविषयंगुणम् ।’

— का० ल० ३।५३

उसी प्रकार दण्डी ने भी गुण और अलङ्कार दोनों के लिये ‘मार्ग’ शब्द का प्रयोग किया है^{३८} । और उद्घट ने तो अलङ्कार और गुण में भेद माननेवाले अपने पूर्ववर्ती आचार्यों पर आक्षेप भी किया है ।

(६) उद्घट के बाद वासन ने रसों को-‘दीसरसत्वं कान्तः ।’ ३।२।१५
इस सूत्र में गुणों के अन्तर्गत माना है और गुणों को प्रधानता देते हुए ‘रीति’

^{३८} देखिये दण्डी का काव्यादर्श १।४१, १।४२, १।१०१ और २।३

को ही काव्य का आत्मा माना है। वामन के मत में किसी रचना में रस या अलङ्कार हों या न हों, केवल गुणविशिष्ट 'रोति' का होना ही काव्यत्व के लिये पर्याप्त है।

(७) वामन के बाद रुद्रट ने अलङ्कारों को शब्द और अर्थ को अलंकृत (शोभायमान) करनेवाले कहा है। और रस के विषय में रुद्रट ने—

“तस्मात्तकर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।”

—काव्यालं १२।२

यह कह कर काव्य में रस का होना परमाश्वयक चतुराया है। रुद्रट ने रस को महत्व अवश्य दिया है, पर रस को काव्य का जीवन नहीं कहा है और अलङ्कारों को अपने ग्रन्थ में प्रथम स्थान देकर तथा विस्तृत विवेचन करके अलङ्कारों को भी रस से कम महत्व नहीं दिया है। अतएव रुद्रट के मतानुसार केवल रस युक्त और केवल अलङ्कार युक्त रचना में भी काव्यत्व हो सकता है। अच्छा, अब रुद्रट के बाद ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य का ध्वन्यालोक हमारे सम्मुख आता है।

(८) ध्वनिकारों के प्रथम रस—जो काव्य में सर्व-प्रधान है, वह—क्या पदार्थ है, इस पर उपर्युक्त आचार्यों में किसी आचार्य ने ध्यान नहीं दिया था। ध्वनिकारों ने इस पर विचार करके यह स्थिर किया कि 'रस' वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ नहीं, इन दोनों से (वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से) भिन्न है और वह व्यञ्जना वृत्ति का व्यापार व्यङ्ग्यार्थ है॥। अतएव ध्वनिकारों ने रस को काव्य में सर्वोपरि पदार्थ मानते हुए भी अपने ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत रस का समावेश करके अपने अपूर्व विवेचन द्वारा रस को ध्वनि का ही एक प्रधान भेद नियत कर दिया। ध्वनिकारों के प्रथम प्रधानतया रस और अलङ्कारों पर ही काव्यत्व

* 'रस' वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ क्यों नहीं, और वह व्यञ्जना का व्यापार व्यङ्ग्यार्थ किस प्रकार है, इसका स्पष्टीकरण आगे ध्वनि सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रसङ्गानुसार किया जायगा।

निर्भर था परं ध्वनिकारों ने काव्य की आत्मा ध्वनि को निरूपण करके काव्य में सर्वोपरि स्थान पर व्यञ्जयार्थ को ही स्थापित कर दिया है। किन्तु ध्वनि को काव्य का आत्मा कहने से ध्वनिकारों का तात्पर्य व्यञ्जयार्थ का काव्य में प्राधान्य मात्र सूचन करने का प्रतीत होता है—न कि काव्य की व्यापकता को ध्वनि या व्यञ्जयार्थ में सीमित करने का। क्योंकि ध्वनिकारों ने गुणीभूतव्यञ्जय में (जिसमें व्यञ्जयार्थ और वाच्यार्थ प्रायः समकक्ष होते हैं) और वाच्यार्थ के अलङ्कारों में भी काव्यत्व स्वीकार किया है, जैसा कि उन्होंने

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यञ्जयस्य च समाश्रयात् ।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदिस्यात्प्रतिभागुणः ॥'

—ध्वन्यालोक ४।६

इस वाक्य में स्पष्ट कहा है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यञ्जयात्मक काव्यार्थ का विश्राम अर्थात् अन्त नहीं, यदि कवि में प्रतिभा हो। इसी प्रकार इसके आगे—

“शुद्धस्यानपेक्षितव्यञ्जयस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव……।”

—ध्वन्या० उल्लास ४

इस वाक्य में व्यञ्जयार्थ-रहित शुद्ध वाच्यार्थ रूप अलङ्कारात्मक काव्यार्थ की भी अनन्तता बतलाई है। यही नहीं ध्वनिकारों को स्वभावोक्ति—वन, नदी आदि के प्राकृत वर्णनात्मक रचना में काव्यत्व अभीष्ट है—

स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिवध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते ।
अलङ्कारों के विषय में भी उन्होंने स्पष्ट कहा है—

‘यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारमार्गः प्रसिद्धः……।’

—ध्वन्या० उल्लास ४

इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि ध्वनिकारों को केवल रसादि व्यञ्जयार्थ अर्थात् ध्वनि में ही नहीं किन्तु केवल वाच्यार्थ रूप अलङ्कारों की स्थिति में भी काव्यत्व अभीष्ट है।

(६) ध्वनिकारों के बाद महाराजा भोज के—

“वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाञ्छयम् ।

सर्वासु ‘ग्राहिणी’ तासु रसाक्ति प्रतिजानते ॥”

इस वाक्य में रस को प्रधानता अवश्य दी गई है, परं वक्रोक्ति अर्थात् स्वतन्त्र अलङ्कारों की स्थिति में भी काव्यत्व स्वीकार किया गया है ।

(१०) आचार्य ममट का इस विषय में क्या मत है, इसके लिये संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि हमारे विचार में ममट का मत ध्वनिकारों के ही अनुसार है । अर्थात् ममट ने जिस प्रकार केवल व्याख्य प्रधान (ध्वनि) रचना में काव्यत्व स्वीकार किया है, उसी प्रकार व्यङ्ग्य-रहित अलङ्कार युक्त रचना में भी काव्यत्व स्वीकार किया है ; यद्यपि काव्यप्रकाश के सर्व प्रधान व्याख्याकार श्री गोविन्द ठक्कुर ने अपनी ‘प्रदीप’ व्याख्या में एवं सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री नारेश भट्ट ने अपनी ‘उद्योत’ व्याख्या में काव्यप्रकाशोक्त काव्य लक्षण की व्याख्या में कहा है—

‘ममट के मतानुसार स्पष्टतया तो तीन प्रकार की—(१) सरस अलङ्कार युक्त, (२) सरस अस्फुट अलङ्कार युक्त और (३) नीरस अस्फुट अलङ्कार युक्त रचना में काव्यत्व हो सकता है, परं काव्य में चमत्कार या तो रसादि पर या अलङ्कार पर निर्भर है, जहां रस हो वहां तो अलङ्कार स्फुट न हो तो भी काव्यत्व के लिये रस की स्थिति पर्याप्त है । किन्तु जहां रस और स्फुट अलङ्कार दोनों ही न हों वहां अस्फुट अलङ्कार में चमत्कार न होने के कारण नीरस रचना में स्फुट अलङ्कार का होना आवश्यक है, अतः इस तो (अर्थात् प्रदीपकार) समझते हैं कि ममट को भी यही अभीष्ट है ॥’

किन्तु इस विषय में प्रदीपक र का यह विवेचन हमारे विचार में युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । क्योंकि ममटाचार्य ने काव्य में रस को सर्वोच्च पदार्थ मानते हुए भी काव्य के लक्षण में रस का स्वतन्त्र नामोल्लेख नहीं किया है—‘शब्दार्थौ’

* देखिये काव्यप्रकाश की प्रदीप व्याख्या में काव्यप्रकाशोक्त काव्य लक्षण को व्याख्या ।

के प्रयोग में व्यंग्यार्थ द्वारा ही रस का ग्रहण किया है। और न रस का आश्रय लेकर ममट ने काव्य का विभाग ही किया है। ममट ने तो काव्य का सामान्य लक्षण बताकर काव्य के तीन भेद—उत्तम, मध्यम और अवर (अधम) व्यंग्यार्थ के आधार पर ही विभक्त किये हैं अर्थात् व्यंग्य प्रधान काव्य को उत्तम, गौण व्यंग्य वाले काव्य को मध्यम और व्यंग्य-रहित अलङ्कारात्मक काव्य को अधम बताया है। अतएव ममट ने जब व्यंग्य प्रधान ध्वनि काव्य के मुख्य भेदों में संलच्यकमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत वस्तु से वस्तु ध्वनि वाले काव्यों का समावेश किया है तो वस्तु ध्वनि में न रस होता है और न मुष्ट अलङ्कार ही। ऐसी स्थिति में यह निर्विवाद सिद्ध है कि ममट को नीरस और असुष्ट अलङ्कार वाली रचना में भी काव्यत्व स्वीकृत है। अतः काव्यपकाश के अन्तिम (नवीन) व्याख्याकार श्री वामनाचार्य ने बालबोधिनी व्याख्या में प्रदीपकार के मत के साथ ममटाचार्य के मत का जो स्पष्टीकरण किया है, उसका खण्डन भी प्रदीपकार की आलोचना के साथ ही हो जाता है। प्रदीपकार जैसे साहित्यमर्मज्ञों के प्रतिकूल लेखनी उठाना निःसन्देह इस नगण्य लेखक का दुःसाहस है। संभव है इस लेखक का विचार ही भ्रान्त हो पर साहित्य-मर्मज्ञ विद्वानों के लिये यह विषय विचारणीय अवश्य है।

ममट ने काव्य में किस पदार्थ को मुख्य माना है, इस विषय का पहिले ‘काव्य लक्षण’ निवन्ध के अन्तर्गत काव्य प्रकाशोक्त काव्य लक्षण के विवेचन में अधिकांश में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अतः यहां अधिक उल्लेख अनावश्यक है। हाँ, गुण और अलङ्कार के विषय में ममट के मत का यहां अलङ्कार सम्प्रदाय में उल्लेख किया जाना आवश्यक है।

भामह और दण्डी ने गुणों और अलङ्कारों को संभवतः काव्य में समान स्थान दिया है। और वामन ने गुणों को (रीति गुणों पर ही निर्भर है) काव्य में सर्व प्रधान स्थान दिया है। और उद्घट के पूर्ववर्ती अशात आचार्यों ने गुणों और अलङ्कारों में भेद माना है, क्योंकि उद्घट ने गुण और अलङ्कारों में भेद बताने वाले अपने पूर्ववर्ती आचार्यों पर आक्षेप किया है। उद्घटाचार्य ने कहा है—

‘एवं च समवावृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु
गुणालङ्काराणां भेदः । ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि
समवायवृत्त्या स्थितिरिति गद्भुलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः ।’

अर्थात् उद्घट कहता है—जिन विद्वानों ने गुणों को मनुष्य में शौर्य आदि
के समान समवाय वृत्तिवाले (नित्य रहने वाले) और अलङ्कारों को हार आदि
आभूषणों के समान संयोग वृत्ति वाले (कभी साथ और कभी अलग रहने वाले)
बता कर गुण और अलङ्कारों में जो भेद माना है वह भेदियावसान मात्र है ।
क्योंकि शौर्य आदि सुण और हार आदि आभूषण लौकिक होने के कारण इन
दोनों में भेद माना जा सकता है । किन्तु काव्य में गुण और अलङ्कार दोनों ही
अलौकिक होते हैं अतः इन दोनों का समवाय (नित्य) सम्बन्ध ही है ।,,

किन्तु आचार्य ममट ने न तो उद्घट के मतानुसार गुण और अलङ्कारों को
समकक्ष ही माना है और न वामन के मतानुसार गुणों का काव्य में सर्वोपरि
प्राधान्य ही स्वीकार किया है । ममट ने उद्घट के इस वाक्य को उद्धृत करके
इसकी आलोचना में ‘इत्याभिधानमस्तु’* (यह कहना ठीक नहीं) इस प्रकार
कह कर गुण और अलङ्कार में क्या भेद है यह प्रत्यक्ष दिखादिया है । ममट ने—

‘ये रसायाङ्गितो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कषेहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।’

—काव्यप्र० दा०६६

* ममट ने काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास दा०६७ की वृत्ति में इस अवतरण को स्पष्ट उद्घट के नाम से नहीं लिखा है । पर उद्भट के ‘भामहविवरण’ का यह उद्धरण है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन विवेक में (पृ० १७) किया है और काव्यप्रकाश के व्याख्याकारों ने भी ऐसा ही लिखा है ।

+ ममट ने इस विषय को उदाहरण देकर स्पष्ट किया है । हमने भी रस-
मञ्जरी में इसके उदाहरण दिखाये हैं । यहां विस्तार भव से उदाहरण नहीं
दिखाये गये हैं ।

इसमें गुणों को काव्य में प्रधानभूत रस के धर्म, रस के उत्कर्षक और रस में अचलस्थिति से रहने वाले बताया है। और अलंकारों का सामान्य लक्षण—

‘उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥’

—काव्यप्र० दा० १७

यह लिखा है। अर्थात् काव्य में अङ्गी (प्रधान) रस है। और शब्द एवं अर्थ उसके अङ्ग है। मम्मट के मतानुसार जिस प्रकार हार आदि आभूषण मनुष्य के कण्ठ आदि अङ्गों में धारण किये जाने पर प्रथम उसके अङ्ग—कण्ठ आदि को शोभित करते हैं—चमत्कृत करते हैं, फिर उन चमत्कृत अङ्गों द्वारा मनुष्य को शोभित करते हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ के अलङ्कार प्रथम शब्द और अर्थ को शोभित करते हैं—चमत्कृत करते हैं, फिर उनके द्वारा रस को उपकृत करते हैं। और जिस काव्य में रस स्पष्ट रूप से नहीं होता है, वहाँ वे—अलङ्कार—केवल शब्द या अर्थ को ही अलंकृत करते हैं। और कहीं (किसी काव्य में) रस होने पर भी विजातीय (अनमेल) अलंकार होने के कारण उसका (रस का) कुछ उपकार नहीं करते। अर्थात् मम्मट ने गुण और अलंकार का विभाग इस प्रकार बताया है—

गुण

अलङ्कार

रस के धर्म हैं ।

रस के धर्म नहीं किन्तु शब्द
और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं ।

रस के साथ नित्य

रस के साथ नित्य नहीं रहते

रहते हैं ।

नोरस काव्यों में भी रहते हैं ।

रस के साथ रह कर रस

रस के साथ रह कर भी कभी

का अवश्य साक्षात् उप-

शब्दार्थ के द्वारा रस का उप-

कार करते हैं ।

कार करते हैं और कभी नहीं ।

मम्मट ने इस प्रकार गुण और अलङ्कार में क्या भेद है यह स्पष्ट दिखा दिया है। इसके अतिरिक्त वामन के बताये हुए गुण और अलंकारों के—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः । तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ।

—काव्यालङ्कार सूत्र ३। १.१, २

इन लक्षणों में वामन ने गुणों को काव्य के शोभाकारक धर्म और अलङ्कारों को उस गुण-कृत शोभा के उत्कर्षक बतलाये हैं । मम्मट ने इसका भी खण्डन किया है । मम्मट का कहना है—

“ऐसी भी रचना होती है जिसमें ‘गुण’ काव्य की शोभा करनेवाला नहीं होता है, केवल अलङ्कार की स्थिति द्वारा ही उस रचना को काव्य माना जाता है । जैसे—

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरयर्णिनी ।

अस्यारदच्छदरसो न्यकरोतितरां सुधाम् ॥१

—काव्यप्र० दा६७ वृत्ति

इस रचना में शृङ्गार रस है किन्तु यहां शृङ्गार रस के अनुकूल ‘माधुर्य’ गुण व्यञ्जक वर्णों की रचना नहीं है अर्थात् वामन, गुणों को काव्य के शोभाकारक बताता है वह गुण-कृत शोभा इस काव्य में नहीं है प्रत्युत यहां कठोर वर्णों की रचना होने के कारण ‘आज’ गुण-व्यञ्जक रचना है—जो कि शृङ्गार रस में त्याज्य है । और वामन, अलङ्कार को जो गुण-कृत शोभा का अतिशय-कारक बताता है वह भी यहां नहीं है । अर्थात् न यहां अलङ्कार ही गुण-कृत शोभा को बढ़ाने वाला है । क्योंकि जब यहां गुण-कृत शोभा ही नहीं है तब अलङ्कार गुण-कृत शोभा को किस प्रकार बढ़ा सकता है ? जिस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं उसका बढ़ाना कैसे संभव हो सकता है ? अतएव वामन के मतानुसार इस पद्म में काव्यत्व नहीं हो सकता । किन्तु फिर भी वामन के मतानुसार ही

१ इस श्लोक का अर्थ यह है कि रूपवतों कामिनी मनुष्य के लिये इसी देह में स्वर्ग की प्राप्ति है (क्योंकि) इसके अधर का रस अमृत का अत्यन्त तिरस्कार करता है ।

इस पद्य में विशेषोक्ति^१ और व्यतिरेक^२ अलङ्कारों की स्थिति होने के कारण इस पद्य में काव्यत्व सिद्ध होता है। अतएव ऐसी स्थिति में वामन के बताये हुए गुण और अलङ्कार दोनों के न तो लक्षण ही उपयुक्त हैं, और न गुण एवं अलङ्कार का वामन का बताया हुआ विभाग ही।”

यद्यपि वामन के इस मत की पुष्टि प्रतिहारेन्दुराज ने भी उद्घट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की व्याख्या [पृ० ८१, ८२] में की है किन्तु वामन के मत के साथ उसका भी खण्डन हो जाता है।

[११] मम्मट के बाद रथ्यक और मंखक ने काव्य का लक्षण स्वतंत्र न देकर पूर्वचार्यों के मत दिखला कर ध्वनिकार का मत मान्य किया है।

[१२] चन्द्रालोक पर्णोता जयदेव ने यद्यपि अलङ्कार का सामान्य लक्षण—
‘हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः।’

—चन्द्रा० ५।१

प्रायः मम्मट के अनुसार ही लिखा है। किन्तु जयदेव ने अलङ्कारों को यहां तक प्रवानता दी है कि काव्यप्रकाशोक्त काव्य लक्षण के—अलङ्कृती क्वापि’ इस अंश पर—

१-२ वामन के उपमेय में एक गुण की हानि की कल्पना करके शेष गुणों द्वारा साम्य (समता) की दृढ़ता की जाने में ‘विशेषोक्ति’ और उपमेय में उपमान की अपेक्षा अधिक गुण कहे जाने में ‘व्यतिरेक्त’ अलङ्कार माना है (देखो काव्यालं० सूत्र ४।३।२३,२२) इस पद्य के पूर्वांक में इसी देह द्वारा स्वर्ग प्राप्ति कथन करके दिव्य-देह (देवताओं के देह) न होने रूप एक गुण के अभाव की कल्पना करके सुखदायक आदि शेष गुणों द्वारा कामिनी की स्वर्ग के साथ सत्ता दृढ़ की जाने से विशेषोक्ति है। और उत्तरार्द्ध में अधर रस रूप उपमेय में अमृत रूप उपमान से अधिकता कही जाने से व्यतिरेक अलङ्कार वामन के ही मतानुसार है।

‘अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृतो ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।’

—चन्द्रा० १८

इस प्रकार आक्षेप करके अलङ्कार-रहित रचना को—चाहे वह रस-ध्वनि आदि युक्त भी हो—काव्यत्व नहीं माना है। पर जयदेव अपने इस मत को अपने ग्रन्थ में निभा न सका क्योंकि उसने श्रागे चलकर ध्वनि-काव्य के भेदों में मम्मटाचार्य के अनुसार ही—

अलङ्कारमलङ्कारो वस्तु वस्तु व्यनक्ति चेत् ।

७।७

इत्यादि कारिकाओं में वस्तु ध्वनि को भी स्वीकार कर किया है—जिसमें अलङ्कार की स्थिति नहीं होती। फलतः जयदेव भी ध्वनिकार और मम्मट का अनुयायी ही सिद्ध होता है।

[१३] सहित्यदर्पण प्रणेता विश्वनाथ ने यद्यपि अलङ्कार का सामान्य लक्षण तो—शब्दार्थयोरस्थिरात् । [सा० ८० १०।।] प्रायः मम्मट के अनुसार ही लिखा है। किन्तु काव्य के ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यं ।’ इस लक्षण में काव्य को एकपात्र रस में ही मर्यादित कर दिया है, पर विश्वनाथ को भी अन्त-तोगत्वा ध्वनिकार और मम्मट का अनुसरण करने के लिये वाध्य होना पड़ा है, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कारात्मक रचना में भी काव्यत्व म्बीकार करना पड़ा है। इसके मत की विस्तृत आलोचना पहिले काव्य-लक्षण के निवन्ध में की जा चुकी है।

[१४] रसगङ्गाधर प्रणेता हमारे परिण्डतराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है। रमणीयता, चमत्कार पर ही निर्भर है। अतएव परिण्डतराज के मतानुसार भी रस, रसातिरिक्त वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार प्रत्येक में स्वतन्त्र रूप से काव्यत्व माना जा समता है। परिण्डतराज के कहने की शैली भिन्न होने पर भी प्रायः ध्वनिकार एवं मम्मट के मत के अनुकूल ही है।

बस, ऊपर के विवेचन द्वारा ज्ञात हो सकता है कि किस-किस आचार्ये ने काव्य में अलङ्कारों का क्या-क्या स्थान निर्दिष्ट किया है। जो कुछ हो, यह तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों को महत्वपूर्ण माना है तथा उनके क्रम-विकास पर भामह, दण्डी, उद्घट, रुद्रट, महाराजा भोज, मम्मट, रुद्ध्यक, जयदेव, विश्वनाथ, अप्यय्य दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ ने उल्लेखनीय प्रकाश डाला है। अतएव अलङ्कार सम्प्रदाय के मुख्य परिपोषक ये ही आचार्य हैं।

अच्छा, अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रकरण में अलङ्कारों के क्रमविकास के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डाला जाना उपयुक्त ही नहीं आवश्यक भी है। क्रम-विकास के लिये प्रथम यह दिखाया जाना उचित होगा कि नाट्यशास्त्र और श्रग्निपुराण के बाद भामह आदि से पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक किस किस आचार्य द्वारा कितनी संख्या के कौन कौन अलङ्कार निरूपण किये गये हैं और अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों में परवर्ती किस किस आचार्ये ने किस किस अलङ्कार को स्वीकार किया है। इसकी स्पष्टता के लिये यहां अलङ्कार विवरण तालिकाएँ दी जाती हैं—

श्वलङ्कार विवरण तालिका संख्या ?

निम्नलिखित ५२ श्वलङ्कार ऐसे हैं जो भास्तव, दण्डी, उद्धर और वामन के समय (₹० ८००) तक निरुपित हो चुके थे । इन ५२ में कितने कितने श्वलङ्कार इन चारों ने तथा इनके बाद किस किस आचार्य ने खोकार किये हैं इसका विवरण इस प्रकार है :—

संख्या	नाम श्वलङ्कार	भास्तव	दण्डी	उद्धर	वामन	कद्रट	मोज	ममट	रुद्धक
१	अतिशयोक्ति	१	१	१	१	१	१	१	१
२	अनन्तव्य	२	२	२	२	२	२	२	२
३	अनुप्राप	३	३	३	३	३	३	३	३
४	अपन्हुति	४	४	४	४	४	४	४	४
५	अपस्तुत प्रशंसा या अन्योक्ति	५	५	५	५	५	५	५	५
६	अर्थान्तरन्यास	६	६	६	६	६	६	६	६
७	आजेप	७	७	७	७	७	७	७	७
८	आद्विति	८	८	८	८	८	८	८	८
९	आशी	९	९	९	९	९	९	९	९
१०	उद्धेका	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०
११	उम्मेदावयव	११	११	११	११	११	११	११	११
					संख्या में				

संस्कृत साहित्य का इतिहास

संख्या	नाम श्रावक्कार	भाषमह	दरणी	उत्तर	वामन	कदम्ब	भोज	ममट	ममट	रुद्धयक
१२	उदात्	११	१०	५	०	०	०	६	६	६
१३	उपमा	१२	११	१०	५	७	८	१०	१०	१०
१४	उपमारूपक	१३	रूपक में	०	संस्कृती में	०	०	०	०	०
१५	उपमेशेनमा	१४	उपमा में	११	१०	उपमा में	१२	१२	१२	१२
१६	ऊर्जस्वी	१५	१२	१२	०	०	०	०	१२	१२
१७	कामलिङ्ग	०	०	१३	०	०	०	३२	३२	३२
१८	छेकानुप्राप्त	०	०	१४	०	०	०	३३	३३	३३
१९	हुल्ययोगिता	१६	१३	१५	१२	०	१२	१४	१४	१४
२०	दीपक	१७	१४	१६	१२	८	१०	१५	१५	१५
२१	दृष्टान्त	०	०	१७	०	११	११	१६	१६	१६
२२	निदर्शना	१८	१५	१८	१३	०	११	१७	१७	१७
२३	निपुण	यह अलङ्कार केवल भट्टि ने लिखा है	१५	१८	१३	०	११	१८	१८	१८
२४	पर्यायोक्त	१९	१६	११	०	०	११	१८	१८	१८
२५	परिवृत्ति	२०	१७	२०	१४	१०	१०	१३ पर्याय १३	१३	१०

श्रावण तिथियाँ

संख्या	नाम श्रावण	भाष्मह	दरणी	उत्तर	वासन	कृद्रट	भोज	ममट	रुद्रक
२६	पुनरुक्तवदभास	०	०	२१	०	०	०	२०	२१
२७	प्रतिवर्षप्रमा	उपमासे	उपमासे	२२	१५	०	०	२१	२१
२८	प्रेय	२१	१८	२३	०	०	०	२१	२३
२९	भाविक	२२	१८	२४	०	१४	२१	२४	२४
३०	यथासंख्य या क्रम	२३	२०	२५	१६	११	१५	२२	२५
३१	यमक	२४	२१	२६	१७	१२	१६	२४	२६
३२	रसवत्	२५	२२	२३	०	१३	१७	२४	२८
३३	रुपक	२६	२६	२७	१८	१२	१०	२६	२६
३४	लाटानुप्रास	अनुप्रास मे	०	२८	०	१८	१८	०	१८
३५	तेजा	०	०	२५	०	१०	१५	१६	१७
३६	वक्रोक्ति	०	०	२७	०	२०	२०	२८	२८
३७	विभावना	२७	२८	२५	२५	२६	२७	२१	२१
३८	विरोध	२८	२८	२८	२८	२७	२८	२८	२८
३९	विशेषोक्ति	२९	२९	२९	२९	२८	२८	२८	२८

संस्कृत साहित्य का इतिहास

संख्या	नाम अलंकार	भाषा	दर्शकी	उद्दर	वापन	सद्रट	भोज	मध्यम	संस्कृत
५०	व्यतिरेक	३०	२८	२३	१८	१८	३१	३१	३४
५१	व्याजवृत्ति	३१	१९	२३	०	०	३२	३५	३५
५२	व्याजोक्ति	०	०	०	०	०	३३	३६	३६
५३	श्लोष	३२	३०	३४	२६	१८	३५	३७	३७
५४	संकर	०	०	३५	२०	०	३५	३८	३८
५५	सन्देश	३३	उपमा में	२६	२७	२१	२५	३६	३९
५६	समासोक्ति	३४	३१	३७	२८	२३	२६	३७	४०
५७	समाहित	३५	३२	३८	२६	०	२७	०	४१
५८	संसुधी	३६	३३	३८	३०	संकर में	३८	३८	४२
५९	सहोक्ति	३७	३४	४०	३१	२३	२१	३८	४३
६०	सूहम	०	३५	०	०	२४	३०	४०	४४
६१	स्वभावोक्ति याजाति	३८	३६	४१	०	३५	३१	४१	४५
६२	हेतु	०	३७	०	०	२६	२२	०	४५
		३८	३७	४१	३१	२६	३१	४१	४४

अलङ्कार विवरण तालिका संख्या २

इस तालिका में निम्न लिखित ५०१ अलङ्कार ऐसे हैं जिनको भट्टि, भामह, दण्डी, उद्घट और बामन इन पाँचों में किसी ने नहीं लिखे हैं। इन पाँचों के बाद रुद्रट, भोज, ममट और रुद्धक के समय तक नवाविष्कृत हैं। इनमें किसके द्वारा कितने अलङ्कार नवाविष्कृत किये गये और आविष्कारक के बाद किसकिस ने स्वीकार किये उसका विवरण इस प्रकार है—

संख्या	नाम अलङ्कार	रुद्रट	भोज	ममट	रुद्धक
१	अधिक	१	विरोध में	१	
२	अन्योन्य	२	२	२	२
३	अनुमान	३	१	३	३
४	अवसर	४	०	०	०
५	असंगति	५	विरोध में	४	४
६	उत्तर	६	२	५	५
७	उभयन्यास	७	अर्थान्तरन्यास में	०	०
८	एकावली	८	परिकर में	६	६
९	कारणमाला	९	हेतु में	७	७
१०	चित्र	१०	४	८	८
११	तद्गुण	११	०	८	८
१२	पर्याय	१२	५	१०	१०
१३	परिकर	१३	६	११	११
१४	परिसंख्या	१४	०	१२	१२
१५	प्रतीप	१५	साम्य में	१३	१३
१६	प्रत्यनीक	१६	विरोध में	१४	१४
१७	पूर्व	१७	०	०	०
१८	पिहित	१८	०	०	०

संस्कृत साहित्य का इतिहास

संख्या	नाम अलङ्कार	स्फट	मोज	मम्मट	स्थक
१९	आन्तिमान्	१९	७	१५	१५
२०	भाव	२०	८	०	०
२१	मत	२१	०	०	०
२२	मीलित	२२	९	१६	१५
२३	विषम	२३	विरोध में	१७	१७
२४	व्याघात	२४	०	१८	१८
२५	विशेष	२५	०	१६	१६
२६	समुच्चय	२६	१०	२०	२०
२७	सार	२७	११	२१	२१
२८	साम्य	२८	१२	०	०
२९	स्मरण	२९	१३	२२	२२
३०	अहेतु	०	१४	०	०
३१	अभाव	०	१५	०	०
३२	अर्थपिति	०	१६	०	०
३३	आसवचन	०	१७	०	०
३४	उपमान	०	१८	०	०
३५	प्रत्यक्ष	०	१९	०	१०
३६	वितर्क	०	२०	०	१०
(सन्देह में)					
३७	संभव	०	२१	०	४०
३८	समाविष्ट	०	२२	२३	२३
३९	अतदृगुण	०	०	२४	२४
४०	मालादीपक	०	०	२५	२५
४१	विनोक्ति	०	०	२६	२६

अलङ्कार सम्प्रदाय

संख्या	नाम	अलङ्कार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुद्धक
४२	सामान्य	०	०	२७	२७	
४३	सम	०	०	२८	२८	
४४	उल्लेख	०	०	०	२६	
४५	काव्यार्थपत्रिति	०	०	०	३०	
४६	परिणाम	०	०	०	३१	
४७	विचित्र	०	०	०	३२	
४८	विकल्प	०	०	०	३३	
४९	भावोदय	०	०	०	३४	
५०	भावसंधि	०	०	०	३५	
५१	भवशब्दलता	०	०	०	३६	
		२६	२२	२८	२६	
५२	तालिकासंख्या	२६	२३	४१	४५	
१ के—						
१०३	पूर्ण संख्या	५५	५४	६९	८१	

ऊपर की दोनों तालिकाओं में संख्या १ की तालिका में ऐसे ५२ अलङ्कार हैं, जो भामह दण्डी, उद्धट और वामन के समय तक (लगभग ईसा की ६ वीं शताब्दी तक) निरूपित हो चुके थे। इस तालिका द्वारा विदित हो सकता है कि भामह ने ३८, दण्डी ने ३७, उद्धट ने ४१ और वामन ने ३१ स्वतन्त्र अलङ्कार निरूपण किये हैं। और वे किस किस नाम के हैं तथा पूर्वनिरूपित किस किस अलङ्कार को परवर्ती किस किस आचार्य ने उसके सजातीय अलङ्कार के अंतर्गत माना है। और इन ५२ में उक्त चारों आचार्यों के बाद किस किस नाम के रुद्रट ने २६, भोज ने ३२, मम्मट ने ४१ और रुद्धक ने ४५ स्वीकार किये हैं।

संख्या २ की तालिका में ५१ अलङ्कार ऐसे हैं जो भामह, दण्डी, उद्धट और वामन के बाद (ईसा की ८ वीं शताब्दी के बाद) रुद्रट, भोज, मम्मट

और रुद्धक द्वारा लगभग ईसा की १३ वीं शताब्दी तक निरूपित किये गये हैं। इसके (संख्या २ के) द्वारा विदित हो सकता है कि किस किस नाम के अलङ्कार किस किस आचार्य द्वारा सर्वप्रथम निरूपण किये गये हैं और उनमें किस किस नाम के अलङ्कार पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा निरूपित परवर्ती आचार्य द्वारा स्वीकृत किये गये हैं।

इन दोनों तालिकाओं के विवरण द्वारा यह भी ज्ञात हो सकता है कि लगभग ईसा की १२ वीं शताब्दी त्रृति विभिन्न आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या कुल १०३ है। और यह भी ज्ञात हो सकता है कि इन १०३ में किसकिस नाम के रुद्रट ने ५५, भोज ने ४५, ममट ने ६९ और रुद्धक ने ८९ अलङ्कार स्वतन्त्र लिखे हैं। और अपने पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा निरूपित किसकिस अलङ्कार को परवर्ती आचार्य ने सजातीय अन्य अलङ्कारों के अन्तर्गत माना है।

इन तालिकाओं में जिन जिन आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या दी गई है उसमें और उन आचार्यों के ग्रन्थों में दी गई अलङ्कारों की किसी-किसी नामावली में कुछ न्यूनाधिक्य अवश्य दृष्टिगत होगा। जैसे भोज के सरस्वती-कण्ठाभरण में अलङ्कारों की सूची में ७२ अलङ्कारों के नाम है किन्तु उनमें कुछ अलङ्कार ऐसे हैं जिनको अन्य आचार्यों ने अलङ्कार का विषय नहीं मान कर स्वतन्त्र विषय माना है। तथा कुछ अलङ्कारों में केवल नाम भेद है, ऐसे अलङ्कारों का इन तालिकाओं में उल्लेख नहीं किया गया है। इसी प्रकार रुद्रट ने अपने निरूपित अर्थालङ्कारों को चार वर्गों में विभक्त किया है, उनकी संख्या ५८ है। किन्तु उनमें कुछ अलङ्कार एक-एक नाम के एक से अधिक वर्गों में रखकर उनकी भी रुद्रट ने पृथक् गणना की है, ऐसे अलङ्कारों की भी इस तालिकाओं में पृथक् गणना नहीं की गई है। बस, ऐसे ही अन्य कुछ कारणों से सख्या में न्यूनाधिक्य हो गया है।

यहां तक ईसा की १२ वीं शताब्दी तक के विभिन्न आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या और नामावली इन दोनों तालिकाओं में दी गई। इनके

अतिरिक्त सन् १२०० ई० के बाद लगभग ईसा की ८वीं शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रन्थों में विमिन्न लेखकों द्वारा जो अधिक अलङ्कार लिखे गये हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

१६ जयदेव	ने चम्द्रालोक में ८ शब्दालङ्कार और १८ अर्थालङ्कार सब ८८ अलङ्कार लिखे हैं जिनमें ७३ अलङ्कारं पूर्व निरूपित हैं, जिनका ऊपर की तालिकाओं में उल्लेख हो गया है, शेष निम्नलिखित १६ अलङ्कार अधिक हैं—		
१ अत्युक्ति	५ असंभव	९ पूर्वरूप	१३ विषादन
२ अनुगण	६ उन्मीलित	१० प्रहर्षण	१४ संभावना
३ अर्थानुप्रास	७ उज्ज्वास	११ प्रौढोक्ति	१५ स्फुटानुप्रास
४ अवज्ञा	८ परिकुरांकुर	१२ विकस्वर	१६ हुंकृति

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में १२ शब्दालङ्कार और ७० अर्थालङ्कार और ७ रसवदादि सब ८९ अलङ्कार लिखे हैं। जिनमें ८४ अलङ्कारं पूर्वचार्यों द्वारा निरूपित हैं शेष ५ अलङ्कार अधिक हैं—

३ शब्दालङ्कार—	२ अर्थालङ्कार—
१ श्रुति अनुप्रास	१ अनुकूल
१ अन्त्यनुप्रास	१ निश्चय

† पूर्व निरूपित ७३ अलंकारों में—

६६ मम्मट द्वारा स्वीकृत ६९ में संकर, संसृष्टी और सूचम यह तीन जयदेव ने नहीं लिखे हैं शेष ६६ मम्मट के अनुसार है जिनका नाम ऊपर की तालिकाओं द्वारा ज्ञात हो सकता है।

५ रुद्यक के आविष्कृत १ उल्लेख २ विचित्र, ३ विकल्प, ४ परिणाम और ५ काव्यार्थपत्ति।

२ आवृत्ति [दण्डी-लिखित] और पिहित [रुद्रट लिखित]

‡ पूर्व निरूपित ८२ में विश्वनाथ ने ८१ रुद्यक द्वारा स्वीकृत लिखे हैं और १ हेतु (दण्डी आदि लिखित) लिखा है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

१ भाषासम

२ वारभट द्वितीय ने काव्यानुशासन में अन्य और अपर यह दो अलङ्कार नवीन लिखे हैं।

१८ अप्पण्डि दीक्षित ने कुवलयानन्द में ७ रसवद आदि, ९ प्रमाणादि और १०२ अर्थालङ्कार सब ११८ अलङ्कार निरूपण किये हैं। शब्दालङ्कार दीक्षितजी ने नहीं लिखे हैं। अर्थालङ्कारों में ८४ + अलङ्कार पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित हैं और शेष निम्नलिखित १८ अलङ्कार अधिक हैं—

१ अनुज्ञा	६ प्रस्तुनाङ्कुर	११ रसावली	१५ विशेषक
२ अल्प	७ प्रतिषेध	१२ ज्ञालित	१७ व्याजनिन्दा
३ गूढोक्ति	८ मिथ्याध्ववसिति	१३ लोकोक्ति	१८ कारकदीपक
४ छेकोक्ति	९ मुद्रा	१४ विधि	
५ निरुक्ति	१० युक्ति	१५ विवृतोक्ति	

३६ शोभाकर का अलङ्काररत्नाकर प्रायः आपाप्य है। उसमें सब किनते अलङ्कार लिखे हैं, यह अज्ञात है। नीचे लिखे ३६ अलङ्कार पूर्वाचार्यों से अधिक हैं जिनका परिचय कविराजा मुरारिदान के जसवन्तजसोभूषण द्वारा मिलता है—

१ अचिन्त्य	२ अतिशय	३ अनादर	४ उदाहरण
५ अनुकृति	६ अवरोह	७ अराक्ष्य	८ आदर
८ आपत्ति	१० उद्देद	११ उद्रेक	१२ असम
१३ क्रियातिपत्ति	१४ गूढ	१५ तत्र	१६ तुल्य

* पूर्व निरूपित ८४ अलङ्कार दीक्षित ने लिखे हैं जिनका विवरण—

७९ जयदेव द्वारा लिखिव ८९ में दीक्षित ने ८ शब्दालकार १ हुक्ति यह ९ तो नहीं लिखे और १ अनुमान दीक्षित ने प्रमाणालंकारों के अन्तर्गत लिखा है।

५ पूर्वाचार्यों के निरूपित १ लेश, २ संकर, ३ संसृष्टि, ४ सूचम और ५ हेतु जो जयदेव ने नहीं लिखे थे वे दीक्षित ने लिखे हैं।

१७ निश्चय	१८ परमाग	१६ प्रतिप्रसवं	२० प्रतिमा
२१ प्रत्यादेश	२२ पत्यूह	२३ प्रसङ्ग	२४ वर्ष्मानक
२५ व्यासि	२६ व्यासङ्ग	२७ संदेहाभास	२८ सजातीय
			व्यतिरेक
२९ विकल्पाभास	३० विद्याभास	३१ विनोद	३२ विपर्यय
३३ विवेक	३४ वैधर्म्य	३५ व्यत्यास	३६ समता
८ यशस्क का अलङ्कारोदाहरण भी प्रायः अप्राप्य है। उसमें नीचे लिखे			
८ अलङ्कार नवीन हैं, जिनका परिचय भी जसवंतजसोभूषण द्वारा मिलता है—			
१ अङ्ग	३ अप्रत्यनीक	५ अभ्यास	७ तत्सद्शाकार
२ अनङ्ग	४ अभ्यास	६ तात्पर्य	८ प्रतिबन्ध
२ भानुदत्त ने २ अलंकार नवीन लिखे हैं जिनका परिचय भी जसवन्त-जसोभूषण द्वारा मिलता है अनाध्यवसाय और भज्ञी।			
१ परिंडतराज ने रसगङ्गावर में १ तिरस्कार अलंकार अधिक लिखा है।			
पूर्ण संख्या ८८			
इन ८८ अलङ्कारों के साथ उपर की तालिकाओं के १०३ अलङ्कार मिला देने पर कुल संख्या १९१ होती है।			

अलङ्कारों का क्रम विकास

अलङ्कारों के क्रम-विकास पर दृष्टिपात करने पर विश्लिष्ट होता है कि महामुनि भारत के नाथ्यशास्त्र में सबसे प्रथम चार और उसके बाद अग्रिपुराण में १६ अलङ्कारों की संख्या अलङ्कारों के आंशिक क्रम विकास की प्रथमान्तर्था सूचन करती है, जैसे कि प्रारम्भिक काल में होना स्वाभाविक है। उसके बाद लगभग इसा को छठी शताब्दी के पूर्व के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, फिर भी इस मध्यवर्ती समय में अलङ्कारों का क्रम-विकास अवश्य हुआ है। क्योंकि भामह और भद्वि के ग्रन्थों में जो अलंकारों की संख्या ३८ है, वह भामह या भद्वि द्वारा ही

१ देखिये, प्रथम भाग।

परिवर्द्धित नहीं की गई है। किन्तु भामह द्वारा काव्यालङ्कार में किये गये पूर्ववर्ती बहुत से अशात् एवं ज्ञात नामा आचार्यों के मर्तों के उल्लेख से^१ स्पष्ट है कि भामह के पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों द्वारा—जिनका समय अशात् है—अलंकारों का क्रम-विकास शनैः शनैः होता रहा है। भाद्र और भामह के बाद (ईसा की लगभग छठा शताब्दी के बाद) दण्डी, उद्धय और वामन के समय [ईसा की आठवीं शताब्दी] तक अलङ्कारों की संख्या लगभग ५२ हो गई है। यद्यपि यह परिवर्द्धित संख्या महस्त्वपूर्ण नहीं है, तथापि विषय विवेचन द्वारा क्रम-विकास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। अतः भाद्र भामह से वामन तक [ईसा की ८ वीं शताब्दी तक] अलंकारों के क्रम-विकास का द्वितीय काल है। उसके बाद ईसा को नवीं शताब्दी के रुद्रट से लेकर महाराजा भोज, आचार्य ममट और रुद्यक इन चारों आचार्यों के समय तक [सन ११५० ई० तक] अलंकारों की संख्या १०३ तक पहुंच गई है। अलंकारों के क्रम-विकास का मध्यवर्ती यही काल महत्व-पूर्ण है। उसके बाद जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित तथा कुछ अन्याय लेखक और पडितराज जगन्नाथ के समय तक [ईसा १८ वीं शताब्दी तक] अलङ्कारों की संख्या यद्यपि लगभग १९१ तक पहुंच जाती है, किन्तु इस संख्या में बहुत से अलङ्कार ऐसे भी कुछ आचार्यों ने स्वतन्त्र लिख दिये हैं जिनमें विलक्षण चमत्कार न होने के कारण उनका अन्य अलङ्कारों के अन्तर्गत समावेश हो जाता है। इसी प्रकार कुछ अलङ्कार ऐसे भी हैं जिनमें चमत्कार सर्वथा न होने के कारण सुप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा वे स्वीकार नहीं किए गए। ऐसे अलङ्कारों का नाम रुद्यक के समय तक का तो ऊपर की तालिकाओं द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। उसके बाद जयदेव के हुंकृति-अर्थानुपास, स्फुटानुपास; विश्वनाथ के पांचों वामट के दोनों, यशस्क के आठों, भानुदत्त के दोनों, शोभाकार के ३६ में २४ * केवल इन लेखकों के ग्रन्थों तक

* शोभाकर का 'उदाहरण' और असम दो अलङ्कार पण्डितराज ने स्वीकार किया है।

ही सीमित रह गये—इनके परवर्ती किसी लेखक ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। इनके सिवा जयदेव और अप्यय द्वारा नवीन निरूपित अलंकारों को भी काव्यप्रकाश के उद्योत व्याख्याकार नागेश भट्ट ने मम्मट निरूपित अलङ्कारों के अन्तर्गत दिखाने की चेष्टा की है। अस्तु अब यहाँ अलङ्कार-विषयक एक और भी ज्ञातव्य बात का उल्लेख किया जाना आवश्यक है, और वह है अलङ्कारों का वर्गीकरण।

अलङ्कारों का वर्गीकरण

यह पहिले कहा गया है कि प्रत्येक अलङ्कार में उक्ति-वैचित्र्य अर्थात् वर्णन करने की शैली विभिन्न रहती है। ऐसा होने पर भी अलङ्कारों के कुछ मूल-तत्व ऐसे हैं जिनके आधार पर सजातीय अनेक अलङ्कारों का एक समूह अपने मूल-तत्व पर अवलभित है। उन मूल-तत्वों के आधार पर अलङ्कारों को भिन्न-भिन्न समूह में विभक्त किया जा सकता है। इस विषय पर रुद्रट के (ईसा की नवी शताब्दी के) प्रथम किसी आचार्य ने लक्ष्य नहीं किया। सबसे प्रथम रुद्रट ने अपने निरूपित अर्थालङ्कारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार मूल-तत्वों पर चार श्रेणियों में विभक्त किया है। रुद्रट का वर्गीकरण मूल-तत्वों के आधार पर होने पर भी महत्व-पूर्ण नहीं है, क्योंकि मूल-तत्व का विभाजन यथार्थ नहीं हो पाया है। अतएव यहाँ उनका विस्तृत विवरण देकर विस्तार करना अनुपयुक्त है। रुद्रट के पश्चात् रुद्रयक ने अलंकारसर्वस्व में जो अलंकारोंका वर्गीकरण किया है वह मूल-तत्वों के आधार पर यथार्थ होने के कारण अधिक स्पष्ट और उपयुक्त है।

रुद्रयक ने अपने निरूपित अर्थालङ्कारों में निम्नलिखित अलङ्कारों को सात वर्गों में इस प्रकार विभक्त किया है—

१ इसका स्पष्टीकरण लेखक ने अपने काव्य कल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के द्वितीय भाग अलंकारमञ्जरी की भूमिका में किया है।

२८ अलङ्कार सादृश्य-गर्भ या उपमागर्भ^१

४ भेदाभेद तुल्य प्रधान^२—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्त्रय और स्मरण।

८ अभेद प्रधान^३—

६ आरोप-मूल—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपहृति।

२ अध्यवसाय मूल—उत्पेक्षा और अतिशयोक्ति।

१६ गम्यमान औपम्य^४—

२ पदार्थगत^५—तुल्ययोगिता और दीपक।

१ इन २८ अलंकारों का वीजभूत मूल-तत्त्व साधर्म्य (उपमा) है। साधर्म्य का वर्णन तीन प्रकार से होता है—भेदाभेद तुल्य प्रधान, अभेद प्रधान और भेद प्रधान। साधर्म्य कहीं शब्द द्वारा स्पष्ट कहा जाता है और कहीं गम्य [छिपा हुआ] रहता है। अतएव जिस-जिस अलंकार में जिस-जिस प्रकार का साधर्म्य रहता है, उसके अनुसार इनका अवान्तर वर्गीकरण भी किया गया है।

२ इन चारों अलंकारों में उपमेय और उपमान के साधर्म्य में भेद और अभेद कुछ नहीं कहा जाता है, तुल्य प्रधान साधर्म्य रहता है।

३ इन आठों अलंकारों में उपमेय और उपमान के साधर्म्य में अभेद कहा जाता है। इनमें भी रूपक आदि ६ में उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है अतः आरोप मूल सादृश्य होता है और उत्पेक्षा में अनिश्चित रूप एवं अतिशयोक्ति में निश्चित रूप से उपमेय में उपमान का अध्यवसाय किया जाता है, अतः अध्यवसाय-मूल सादृश्य होता है।

४ इन १६ अलंकारों में उपमेय-उपमान भाव या सादृश्य शब्द द्वारा नहीं कहा जाता किन्तु गम्य (छिपा) रहता है।

५ इन दोनों में उपमेय या उपमानों का या दोनों का सादृश्य एक पद में कहा जाता है अतः पदार्थ गत गम्य सादृश्य रहता है।

३ वाक्यार्थगत^१—प्रतिवस्तुपमा, दृष्टान्त और निर्दर्शना ।

१ भेद प्रधान^२—वैचित्रेक, सहोक्ति और विनोक्ति^३ ।

२ विशेषण वैचित्रय^४—समामोक्ति और परिकर ।

१ विशेषण विशेष्य वैचित्रय^५—श्लेष ।

१ अप्रस्तुतप्रशंसा (समासोक्ति के विरुद्ध होने के कारण)

१ अर्थान्तगत्याम [अप्रस्तुतप्रशंसा का सजातीय होने के कारण]

३ पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप—गम्यत्व-वैचित्रय होने के कारण
इसी वर्ग में रखें गये हैं ।

१२ विरोध मूल—इनका मूल-करण विरोधात्मक वर्णन है—

विरोध, विमावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष,
व्यावात, अतिशयोक्ति^६ (कार्यकारण पौर्वापश्यं विपर्यय) असङ्गति
और विषम ।

४ शृङ्खला बन्ध मूल—इनमें शृङ्खला [तांकल] की भाँति एक पद या
वाक्य का दूसरे पद या वाक्य के साथ संबंध रहता है ।

कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार,

१—इन तीनों में वाक्य के अर्थ में गम्य सादृश्य रहता है ।

२ इन तीनों में उपमेय उपमान के सादृश्य में भेद पूर्वक गत्य सादृश्य
रहता है ।

३ विनोक्ति को, सहोक्ति के विरोधी होने के कारण इस वर्ग में रखा
गया है ।

६ इन दोनों में विशेषण-वैचित्रय-गत गम्यसादृश्य रहता है ।

१ श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों के वैचित्रय में गम्य सादृश्य
रहता है ।

२ स्थयक ने अतिशयोक्ति को २ वर्गों में रखा है एक तो अध्यवसाय-मूल
वर्ग में और दूसरे विरोध-मूल वर्ग में ।

३ न्याय मूल—ये तर्क न्याय के आश्रित हैं—

काव्यलिङ्ग और अनुमान

८ काव्य न्याय मूल—

यथासंख्य, पर्याय, परिचुत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि ।

७ लोकन्यास—

प्रथमनीक, प्रतीप, भोलित, सामान्य, तदगुण, अतदगुण और उत्तर ।

३ गूढार्थ प्रतीति—यह गूढ अर्थ की प्रतीति पर निर्भर है—

सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति

इनके अतिरिक्त नीचे लिखे अलंकारों को किसी वर्ग में विभक्त नहीं किया है—

२ मिश्रित—संकर और संसृष्टि ।

३ स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त ।

७ रस, भाव संबन्धीय—रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भाव-सन्धि और भाव-शवलता ।

अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण

इत विषय में भी संस्कृत के प्राचीन आचारों का प्रायः मतभेद है। अत-एव इस विषय पर भी संस्कृत के कुछ सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में महत्वपूर्ण आलोचनात्मक विवेचन किया गया है जिसमें पणिडतराज का रसगङ्गाधर विशेषतया उल्लेखनीय है। हिन्दी भाषा के प्राचीन या आधुनिक साहित्य ग्रन्थों में इस विषय पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। इन पंक्तियों के लेखक के हिन्दी के अलङ्कारमञ्चरी ग्रन्थ (काव्यकल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के द्वितीय भाग) में इसी के आलोचनात्मक शैली द्वारा इस विषय का भी विस्तृत विवेचन किया गया है।



रीति सम्प्रदाय

‘रीति’ शब्द रीड़ धातु से बना है—‘रीड़ गतौ’। काव्य में ‘रीति’ शब्द मार्ग का पर्याय माना गया है। महाराजा भोज ने कहा है—

‘वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इतिस्मृतः।

रीड़गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।’

—सरस्वतीकण्ठा० २।२७

इसकी व्याख्या में कहा है—

‘रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति करणसाधनोऽयं रीतिशब्दो मार्गपर्यायः।’

रीति सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि वामन ने ‘रीति’ का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

‘विशिष्टापदरचना रीतिः।’ ‘विशेषो गुणात्मा।’

—काव्यालङ्कारसूत्र १।२।७-८

अर्थात् विशेष प्रकार की माधुर्य आदि गुणयुक्त पदों वाली रचना को रीति कहते हैं। अतएव ‘रीति’ गुणों पर भी अवलम्बित इने के कारण प्रथम गुणों के विषय में विवेचन किया जाना आवश्यक है।

गुणों का महत्व

गुणों का निरूपण तो प्रायः सभी साहित्य ग्रन्थों में है, किन्तु कुछ ग्रन्थों में गुणों का महत्व भी प्रदर्शित किया गया है। अग्निपुराण में कहा है—

‘अलंकृतमपि प्रीतयै न काव्यं निगुणं भवेत्।

बपुष्यलिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।’^१

—आध्याय० ३।४।६।१

^१ अलंकार युक्त भी काव्य गुण-रहित हो तो प्रीति-जनक [मनोरथक] नहीं हो सकता, जैसे कुरुपा द्वी के हार आदि आभूषण के वज्र भार रूप होते हैं।

आचार्य वामन ने गुणों का महत्व प्रदर्शित करते हुए कहा है—

‘युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।

विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्घारविकल्पकल्पनाभिः ।’^१

यदि भवति वचश्चयुतं गुणेभ्योवपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।

अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ।’^२

—काव्यालंकारसूत्र ३।१।२

महाराज ओज ने भी कहा है—

अलंकृतमपि शब्दयं न काव्यं गुणवर्जितम् ।

गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्घारयोगयोः ।^३

—संरस्वतीक० १।५९

१ युवती के रूप के समान काव्य, अलंकार रहित (युवती पच में हार आदि आभूषण और काव्य-पच में उपमा आदि अलंकार रहित) भी केवल गुण युक्त (युवती पच में शालीनता आदि और काव्य-पच में ‘ओज’ आदि गुण युक्त) रसिक जनों के चित्त का आकर्षक होता है । और वह गुण युक्त (काव्य या छी का रूप) अलंकारों से युक्त होने पर अत्यन्त आकर्षक हो जाता है ।

२ अनेक सुन्दर आभूषणों से युक्त भी जिस प्रकार कामिनी का शरीर यदि शालीनता आदि गुणों से रहित हो तो दुर्भग होता है, उसी प्रकार उपमा आदि अलंकारों से युक्त भी काव्य यदि ओज आदि गुणों से वर्जित हो तो दुर्भग (अनादरणीय) होता है ।

३ अलंकारों से युक्त भी गुण-रहित काव्य चित्ताकर्षक नहीं होता। अतः काव्य का गुण और अलंकारों के सम्बन्ध में गुणों से युक्त होना परमावश्यक है । अर्थात् अलंकार चाहे न भी हों पर गुण अवश्य होने चाहिये ।

गुणों का लक्षण

अच्छा, अब यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि काव्य में 'गुण' किसको कहते हैं। नाट्य शास्त्र में गुणों का लक्षण न लिख कर दोषों के विपर्यय को गुण बताया गया है। और अग्निपुराण में गुण का लक्षण यह लिखा है—

'यः काव्ये महर्तीं छायामनुगृह्णायसौ गुणः।'

—३४६।३

गुण वह है जो काव्य में अत्यन्त शोभा को अनुगृहीत करता है। अर्थात् काव्य को अत्यन्त शोभित करता है वह गुण है। अग्निपुराण के बाद भामह, दण्डी और उद्धट ने गुण का लक्षण नहीं बताया है। और न गुण और अलङ्कार में कुछ भेद हाँ बताया है, जैसा कि अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत दिखाया गया है। अग्निपुराण में गुण को काव्य का शोभाकारक बताया गया है। और दण्डी ने अलंकारों को भी काव्य को शोभित करने वाला धर्म बताया है। दण्डी ने कहा है—

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।'

—काव्याद० २।१

जब गुण और अलङ्कार दोनों ही काव्य के शोभाकारक माने गये तो प्रथम होता है कि इनमें भेद ही क्या रहा? फिर इनके पृथक्-पृथक् नाम क्यों रखे गये? किन्तु आश्चर्य है कि इस प्रश्न पर उपलब्ध ग्रन्थों में वामन के प्रथम किसी साहित्याचार्य ने लक्ष्य नहीं किया है। सर्वप्रथम वामन ने ही काव्यालंकारसूत्र में गुणों और अलङ्कारों में क्या भेद है इस विषय में अपना मत प्रकट किया है।

वामन का मत

वामन ने—

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।'

'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।'

—काव्यालङ्कारसूत्र ३।१।१,२

इन दो सूत्रों में गुणों को काव्य के शोभाकारक धर्म और अलङ्कारों को उस गुण-कृत शोभा का उत्कर्षक [बढ़ाने वाले] बताया है। और इन दोनों सूत्रों की—

‘ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः । ते चौजः-प्रसादादयः । न यमकोपमादयः । केवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात् । ओजः प्रसादादीनां तु केवलनामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति ।’

इस वृत्ति में कहा है कि ‘केवल गुण काव्य के शोभाकारक हैं—केवल अलंकार नहीं’। अर्थात् वामन दो बात कहता है—एक तो यह कि जिस रचना में केवल ‘गुण’ हीं वह काव्य माना जा सकता है, और दूसरी बात यह कि जिस रचना में केवल अलङ्कार हीं वह काव्य नहीं माना जा सकता। इन दोनों बातों में वामन की दूसरी बात के विषय में अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत यह दिखाया जा चुका है कि वामन का यह मत सर्वथा निःसार है। अब वामन की प्रथम बात का भी निःसारता आगे के विवेचन द्वारा काव्य-ममज्ञों को ध्वं विदित हो जायगी।

वामन के इस मत की आलोचना के लिये अब क्रमशः वामन के गुण विषयक सभी मार्गों पर विवेचन किया जाता है—

गुणों की संख्या

गुणों की संख्या के विषय में भी मतभेद है। महामुनि भरत ने १० गुण निरूपण किये हैं—(१) श्लोष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) समाधि, (५) माधुर्य, (६) ओज, (७) पद, सौकुमार्य, (८) अर्थव्यक्ति, (९) उदारता और (१०) कात्ति। अग्निपुराण में शब्द के ७, अर्थ के ६ और शब्दार्थ उभय के ६ इस प्रकार १९ गुण निरूपण किये गये हैं। आचार्य दण्डी ने गुणों के नाम और संख्या तो भरतमुनि के अनुसार ही लिखी है किन्तु गुणों के क्रम और लक्षणों में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया है। वामन ने शब्द के १० और अर्थ के

१० गुण बताये हैं और महाराजा भोज ने शब्द के २४ और अर्थ के २४ गुणों का निरूपण किया है।

एक श्रेष्ठी के आचार्यों ने गुणों की संख्या में जब कि इस प्रकार वृद्धि की है, तो दूसरी श्रेष्ठी के भास्म श्राद्ध ने केवल 'माधुर्य' 'ओज' और 'प्रसाद' यहीं तीन गुण बताये हैं।

गुणों की इस विभिन्न संख्या के विषय में आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती अन्थों में स्वतन्त्रता का सम्मान्य प्रतीत होता है। इस विषय पर संभवतः प्राचीनाचार्यों द्वारा गम्भीर विचार नहीं किया गया है। वस्तुतः ध्यान पूर्वक देखा जाय तो नाव्यशास्त्र और दण्डों के निरूपित गुणों का अधिकांश में जिस प्रकार वामन के निरूपित १० गुणों में समावेश हो जाता है उसी प्रकार महाराजा भोज द्वारा निरूपित गुणों का भी प्रायः अधिकांश में वामन के निरूपित गुणों में समावेश हो जाता है—केवल नाम मात्र का भेद रह जाता है अतएव आचार्य मम्मट ने वामन के मत को ही आलोचना की है। मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न मतों पर विचार कर के भास्मह के मत को सारभूत समझ कर उसी के अनुसार केवल तीन ही गुण माधुर्य, ओज और प्रसाद स्वीकार किये हैं। और वामन के बताये हुए शब्द के (१) ओज, (२) प्रसाद, (३) श्लेष, (४) समता, (५) समाधि, (६) माधुर्य, (७) सौकुमार्य, (८) उदारता, (९) अर्थव्यक्ति और (१०) कानिंत इन दश गुणों में बहुत से तो मम्मट ने अपने स्वीकृत तीन (माधुर्य ओज और प्रसाद गुणों के अन्तर्गत और शेष, दोष के अभावरूप एवं दोष रूप स्पष्ट सिद्ध कर के दिखा दिये हैं। मम्मट का कहना है कि वामन के बताये हुए श्लेष, समता, उदारता, प्रसाद और ओज इन पांचों का हमारे स्वीकृत ओज को ध्वनित करनेवाली रचना में अन्तर्भाव हो जाता है। और 'माधुर्य' हमारे स्वीकृत माधुर्य की अभिव्यञ्जन-रचना है। और वामन ने जो 'समग्र' नाम का गुण माना है वह दोष रूप है, न कि गुण, क्योंकि समता की सर्वत्र स्थिति अनुचित है—प्रतिपाद्य विषय की उद्घटना और अनुद्घटना के अनुसार एक ही पथ

में भिन्न-भिन्न शैली का प्रयोग किया जाना आवश्यक है—न कि सर्वत्र समता । और वामन ने जिनको 'कान्ति' और 'सुकुमारता' गुण बताया है, वे ग्राम्यत्व और कष्टत्व दोषों के अभाव मात्र हैं, न कि गुण, क्योंकि काव्य में उक्त दोनों दोषों को दूर कर देने पर कान्ति और सुकुमारता का स्वति स्वयं हो जाती है । अब यह 'अर्थव्यक्ति' सो हम 'प्रसाद' गुण को मानते हैं, तब उसकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है—अर्थव्यक्ति का अर्थ है अर्थ का स्पष्ट सुगमता पूर्वक शान होना वही, तो प्रसाद गुण है ।'

इसी प्रकार वामन ने अर्थ के भी १० गुण बताये हैं, जिनके नाम शब्द के गुणों के अनुसार ही हैं किन्तु आचार्य मम्मट कहते हैं—

"वामन के निरूपित अर्थ के गुणों में श्लेष और ओज के प्रथम चार भेद तो विचित्रता मात्र हैं, अतः इनको गुण नहीं कह सकते, यदि ऐसी विचित्रता को ही गुण मान लिया जाय तो अर्थ वैचित्र्य तो प्रत्येक श्लोक में रहता है—उन सभी को गुण स्वीकार कर लेने में तो गुणों की संख्या की गणना ही न हो सकेगी । और वामन ने अधिक पद न होने को 'प्रसाद' गुण (प्रयोजक-मात्रपरिग्रहः प्रसादः—का० ल० सूत्र ३।२।३), उक्ति वैचित्र्य को माधुर्य ('उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ३।२।११), कठोरता न होने को सौकुमार्य (अपारुद्धं सौकुमार्यम् ३।२।१२), ग्राम्यता न होने को 'उदारता' ('अग्राम्यत्वोदारता ३।२।१३), विषमता न होने को समता—('अवैष्यम्यं समता' ३।२।५) और पदों का सामिप्राय होना 'ओज' गुण का पांचवाँ भेद—(सामिप्रायत्वमेवच ३।२।२) बताया है, किन्तु यह सब क्रमशः अधिकपदत्व, अमङ्गल रूप अश्ली-लत्व, ग्राम्यत्व भवप्रक्रमत्व और अपुष्टार्थत्व रूप दोष के अभाव मात्र हैं, अर्थात् उक्त दोष न होना ही इनका स्वरूप है, तब ये दोष के अभाव ही कहे जा सकते हैं—न कि गुण । और वामन ने स्वभाव के स्पष्ट वर्णन करने को अर्थव्यक्ति माना है—('वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः ३।२।१४) किन्तु यह स्वभा-व्यक्ति अलंकार है—न कि गुण । वामन ने जो रस के स्पष्टतया प्रतीत होने में

‘कान्ति’ गुण माना है—[‘दीसरसत्वं कान्तिः’ ३।२।१२] वह रस, ज्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य रसवत् अलंकार आदि का विषय है—न कि गुण । और जो ‘समाधि’ गुण बतलाया है, वह कवि के अन्तःकरण में रहने वाली ज्ञान रूप वस्तु है अतः वह काव्य का कारण है—न कि गुण, अतएव वामनोक्त अर्थ के दशों गुण, गुण नहीं माने जा सकते” ।

आचार्य ममट के प्रतिपादित इस मत का महत्व और इसकी सर्व-मान्यता क, सर्वोपरि प्रमाण यह है कि हेमचन्द्र, विश्वनाथ जैसे सुप्रसिद्ध आलोचक और साहित्याचार्यों ने ममट के स्वोकृत तीन गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद ही स्वीकार किये हैं । यह तो हुआ गुणों की संख्या का विवेचन अब यह विवेचनीय है कि—

काव्य में गुण क्या पदार्थ हैं

ममटाचार्य ने गुणों का सामान्य लक्षण—

‘ये रस्यस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।’

—काव्यप्रकाश दा. ६६

यह लिखा है । अर्थात् ‘गुण’ रस के धर्म, रस के उत्कर्ष के हेतु और रस में अचलस्थिति से रहने वाले हैं । गुणों को रस के धर्म इसलिये कहा है कि जिस प्रकार शूरता आदि जीवात्मा के धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य के आत्मा स्थानीय रस के ही धर्म हैं [रस में हाँ रहते हैं] न कि वर्ण रचना में । तथा उत्कर्ष के हेतु इस लिये कहा है कि जिस प्रकार शूरता आदि गुण आत्मा में अन्य अशूर पुरुषों की अपेक्षा वीर पुरुषों का महत्व प्रकट करते हैं, उसी प्रकार गुण भी काव्य के मुख्य तत्व रस में उत्कर्ष करते हुए रस-रूपत रस की अपेक्षा सरस काव्य का महत्व प्रकट करते हैं । और गुणों को रस में अचलस्थिति वाले इसलिये कहा है कि गुण रस के साथ निरन्तर रहते हैं— जहाँ रस होगा वहाँ गुण अवश्य होगा । यदि गुणों को केवल रस के उत्कर्षक

मात्र कहा जाता। तो गुणों के लक्षण की अलंकारों में अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि रस के उत्कर्षक तो प्रायः अलंकार भी होते हैं, किन्तु सर्वत्र नहीं*। और यदि गुण रस के केवल धर्म कहे जाते तो रस में शृङ्खारत्व आदि धर्म भी रहते हैं, इसलिये गुणों के लक्षण में 'रस के उत्कर्षक', 'रस के धर्म' और 'रस में अचलस्थिति वाले' यह तीनों बात कही गई है। गुणों के इस लक्षण द्वारा गुण और अलंकार का भेद भी स्पष्ट हो जाता है।

ममट ने गुणों के सामान्य लक्षण के बाद अपने स्वीकृत तीन गुणों में 'माधुर्य' गुण का लक्षण—

‘आहादकत्वं माधुर्यं शृङ्खारे दृतिकारणम् ।
करुणे विप्रलभ्मेत्तच्छ्रान्ते चातिशयान्वितम् ।’

—का० प्र० दा८८-६९

यह लिखा है। अर्थात् जिसके कारण चित्त द्रुत हो जाता है—आर्द्धप्राय हो जाता है—पिघल सा जाता है—उस अहाद विशेष† का नाम माधुर्य गुण है। और वह [माधुर्य] सम्मोग शृङ्खार से करुण रस में, करुण रस से विप्रलभ-शृङ्खार में, और विप्रलभ-शृङ्खार से शान्त रस में अतिशय युक्त रहता है क्योंकि

* इसका स्पष्टीकरण उदाहरण देकर लेखक ने अपने काव्यकलपद्रुम के तृतीय संस्करण के प्रथम भाग—रसमञ्जरी में किया है।

† यहाँ 'आहादविशेष' इसलिये कहा गया है कि आहाद रूप तो सभी रस हैं किन्तु शृङ्खार, करुण और शान्त रसात्मक जिस आहादविशेष से चित्त त्रवीभूत हो जाता है, वह माधुर्य गुण है। काव्यप्रकाश की इस कारिका में जो 'आहादक' शब्द है उसका अर्थ यहाँ आहाद करने वाला नहीं लिया जा सकता क्योंकि 'रस' स्वयं आहाद रूप हैं—न कि आहाद के कारण अतएव यहाँ 'आहादक' पद है वह वार्थ में 'क' प्रत्यय होने के कारण आहाद का ही वाचक है।

करण, विप्रलंभ और शान्त रस में मधुर्य द्वारा चित्त क्रमशः अधिकाधिक द्रुत हो जाता है। और 'ओज' गुण का लक्षण—

'दीप्त्यात्मविस्तृते हेतु रोजो वीररसस्थिति ।'

'वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥'

—का० प्र० दा०६८-७०

यह लिखा है। अर्थात् वीर रस में जो उद्दीपकता रूप एक धर्म रहता है, जिसके कारण चित्त ज्वलित जैसा हो जाता है, उसका नाम ओज गुण है। और उस (ओज) की वीर रस में स्थिति रहती है और वह (ओज) वीर रस से अधिक वीभत्स रस में, और वीभत्स रस से अधिक रौद्र रस में रहता है। और प्रसाद गुण का लक्षण—

'शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत् सहसैव यः ।'

'व्याप्तोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥'

—का० प्र० दा०७०-७१

यह लिखा है। अर्थात् जो सूखे इंधन में अग्नि की भाँति (रौद्रादि रसों में) तथा स्वच्छ वस्त्र में जल की भाँति (शृङ्खागादि कोमल रसों में) चित्त को सहसा रस से व्याप्त कर देता है, उस विकास रूप रस के धर्म को प्रसाद गुण कहते हैं और इस (प्रसाद गुण) की सभी रसों में स्थिति रहती है।

इन लक्षणों द्वारा स्पष्ट है कि ममटाचार्य गुणों को रस के धर्म मानते हैं न कि वर्ण-रचना के।

किन्तु वामन गुणों को रस के धर्म न मान कर—'ओजः प्रसादश्लेष'... (का० स० ३।१।४) इस सूत्र में गुणों की स्थिति पद-रचना में बताता है। अर्थात् विशेष-विशेष वर्णों (अक्षरों) के प्रयोग और छोटे बड़े समास आदि की रचना में गुणों का रहना बताता है। किन्तु इसका स्वरूप करते हुए ममट कहते हैं कि गुणों का वास्तविक संबन्ध रसों के साथ है, न कि वर्णात्मक रचना के साथ। क्योंकि मधुर गुण के कारण तो चित्त द्रवीभृत हो जाता है। मधुर वर्णों की रचना

को ही यदि माधुर्य गुण माना जाय तो मधुर वर्णों की रचना तो 'वीर' आदि रसों में भी हो सकती है, किरणी रचना के वीर रस आदि के काव्य द्वारा चित्त द्रवीभूत क्यों नहीं होता ? इसी प्रकार कठोर वर्णों की रचना शृङ्खार रस के काव्य में भी कहीं कहीं देखी जाती है किन्तु उसके द्वारा चित्त दीप-ज्वलित जैसा नहीं होता, अतएव सिद्ध होना है कि गुणों की वास्तविक स्थिति वर्ण रचनादि में नहीं। आचार्य हेमचन्द्र आदि भी मम्मट के मतानुसार गुणों का वास्तविक संबन्ध रसों के साथ ही मानते हैं^३। यदि यह कहा जाय कि वर्णों के साथ गुणों का संबन्ध वास्तविक नहीं है तो किरणी क्यों कहते हैं कि 'इस काव्य में मधुर वर्ण हैं' 'यह रचना मधुर है' 'यह पदावली ओजपूर्ण है' अर्थात् वर्णों के साथ गुणों का संबन्ध क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि गुणों का वर्ण, समास और रचना के साथ औपचारिक संबन्ध है। अर्थात् यह लाक्षणिक प्रयोग है। जैसे शूरवीर होना मनुष्य के आत्मा के धर्म है, तथापि लोग कहते हैं कि 'इसका आकार शूरवीर है' किन्तु आकार तो जड़ है—आकार में शूरता कहां, केवल कल्पना मात्र है। अतएव औपचारिक संबन्ध से विशेष वर्ण समुदाय, समास और रचना को गुणों की व्यञ्जकता मम्मथाचार्य को भी स्वीकृत है। क्योंकि रस को अपनी व्यक्ति के लिये शब्द और अर्थ भी अपेक्षित हैं—शब्दार्थ द्वारा ही रस अभिभ्यक्त होता है। अतएव शब्द और अर्थ रस के संबन्धी हैं और अपने संबन्धी रस के संबन्ध द्वारा शब्द और अर्थ भी परम्परा या गौण संबन्ध से गुण, शब्द और अर्थ में भी रहते हैं। इसी से कोमल वर्णों वालों मधुर रचनाएँ

^३ देखिये हेमचन्द्र का काव्यानुशासन पृ० १६

किसी वस्तु के धर्म का किसी विशेष संबन्ध के कारण दूसरी वस्तु में प्रतीत होना उपचार कहा जाता है।

५ टवर्ग के चार वर्ण ट, ठ, ड, ढ, छोड़ कर 'क' से 'म' तक वर्णों वाली छोटे समास या समास के अभाव वाली वर्ग के अन्त्याचर (ड, ज, ण, न, म,) युक्त—सानुस्वार वर्णों वाली मधुर रचना होती है।

माधुर्य गुण को कठोर वर्णों वाली रचना और गुण को और जिसके सुनते ही अर्थ की सहज प्रतीति हो ऐसी बोधन-गम्य रचना प्रसाद गुण को व्यक्त करती है।

ममट पर विश्वनाथ की आलोचना

ममट ने माधुर्य गुण का लक्षण जो—

‘आहादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।’

यह बताया है, उस पर विश्वनाथ ने—

“केनचिद्रुक्तं —‘माधुर्यं द्रुतिकारणम् तत्र’ ।

इत्यादि वाक्य द्वारा ममट पर यह आक्षेप किया है कि माधुर्य को द्रुति का कारण कहा है वह ठीक नहीं। क्योंकि द्रुति यदि किसी का कार्य हो तभी उसका कोई कारण हो सकता है किन्तु द्रुति तो स्वयं रस रूप आलंहाद से अभिन्न है अतएव जैसे 'रस' कार्य नहीं उसी प्रकार द्रुति भी कार्य नहीं। और जब द्रुति कार्य नहीं तो फिर उसका कारण कौन हो सकता है! किन्तु विश्वनाथ का यह आक्षेप निराधार है। क्योंकि द्रुति और माधुर्य अभिन्न (एक) नहीं है। द्रुति सामाजिकों के अनुभव सिद्ध सुकुमार चित्त की एक प्रकार की अवस्था है और वह शृङ्गार आदि मधुर रसों के आस्वाद से—मन के काठिन्य आदि के हट जानेपर उत्तम होती है। और माधुर्य द्रुति का प्रयोजक (जनक) है। कहा है—

† वर्ग के पहिले और तीसरे वर्णों का दूसरे और चौथे वर्णों के साथ क्रमशः योग 'क' 'च' आदि का 'ख' 'छ' आदि के साथ सम्बन्ध (जैसे 'च्छ' 'त्थ' 'फ्फ') और 'ग' 'ज' आदि का 'घ' 'झ' आदि के साथ योग (जैसे 'ध्व' 'न्नक') और 'र' का नीचे ऊपर योग (जैसे 'थं' 'क्क' 'द्व') और 'ण' के विना टवर्ग [ट, ठ, ड, ङ] की अधिकता वाली एवं बहुत से पदों के लम्बे समास वाली कठोर रचना होती है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

“सामाजिकानुभवसिद्धः सुकुमारचित्तस्यावस्थाविशेषोद्गुतिः । स च
मधुररसास्वादादेव (मनः काठिन्याद्यपंगमे) जायते, न तु माधुर्य-
मेव स इति ।”

—वालबोधिनी व्याख्या पृ० ५७४

इसके अतिरिक्त परिंडतराज जगन्नाथ ने भी माधुर्य को द्रुति का प्रयोजक
बतलाया है—

‘द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम् …… माधुर्यादिकमस्तु ।’

—रसगङ्गाधर पृ० ५५

यही नहीं, स्वयं विश्वनाथ भी—

‘द्रवी भावस्च स्वाभाविकानाचित्तत्वात्मककाठिन्य……रत्याद्या-
कारानुविद्धानन्दोद्गोवेन सहदयचित्ताद्र्वं प्रायत्वम् ।’

—सा० द० दा२ वृत्ति

इस बाक्यमें रस आदिके स्परूप से अनुगत, आनन्दके उद्बोध द्रुति का
कारण कह रहा है । अर्थात् द्रुति को कार्य रूप बता रहा है । फिर विश्वनाथ
के इस निर्मूल आक्षेप पर अधिक विवेचन अनावश्यक है, यद्यपि इस पर
बहुत कुछ वक्तव्य है । विश्वनाथ स्वयं गुणके लक्षण और विवेचन में बुरी
तरह विचलित हो गया है विश्वनाथ ने गुणका सामान्य लक्षण तो ममट
के अनुसार—

‘रसस्याङ्गित्वमापस्य धर्माः शौर्यादयो यथा । गुणाः ।’

—सा० द० दा२

इस प्रकार लिख कर गुणों को रस के धर्म बताया है फिर आगे दूसरी—

‘चित्तद्रवीभावमयोहादी माधुर्यमुच्यते ।’

इस कारिकामें आहाद को ‘द्रुति’ नामक चित्त वृत्ति रूप बता दिया है । फिर
विश्वनाथ स्वयं द्रवीभावी के—

‘रत्याद्याकारानुविद्धानन्दोद्गोवेन……’

इस लक्षण में हेतु तृतिया से आनन्द (आलहाद) और 'द्रुति' में परस्पर कार्य-कारण भाव स्थृष्ट स्वीकार कर रहा है । अर्थात् अपने आजीव्य आचार्य मम्मट के कहे हुए जिस 'कार्य-कारण भाव' पर विश्वनाथ ने आक्षेप किया है, उसी 'कार्य-कारण भाव' को अन्ततोगत्वा विश्वनाथ ने स्वयं स्वीकार किया है । देखिये, विश्वनाथ का यह विवेचन कितना बदतोव्याधात दोष से ग्रसित हो रहा है— किमाश्चर्यमतः परम् ।

रीति

रीति गुणों पर ही निर्भर होने के कारण पहिले गुणों का विवेचन करने के बाद अब 'रीति' के विषय में आचार्यों के विभिन्न मतों का उल्लेख किया जाता है—

रीतियों की संख्या

जिस प्रकार गुणों की संख्या के विषय में आचार्यों का मतभेद है उसी प्रकार रीतियों की संख्या में भी उनके विभिन्न मत हैं । अग्रपुराण में पाञ्चाली, गौड़ीय, वैदर्भी, और लाटी इन चार रीतियों का निरूपण किया गया है (अ० पु० ३४० ११) भामह ने गौड़ीय और वैदर्भी दो रीतियों का ही उल्लेख किया है और इन दोनों में भी वह विशेष भेद नहीं बताता है—प्रत्युत इन दोनों में भेद मानने वाले अपने पूर्ववर्ती विद्वानों को उसने आलोचना भी की है (काव्यालं० १।३२) । दण्डी यद्यपि काव्य के अनेक मार्ग (रीति) बताता है किन्तु उनके नामोल्लेख न करके इन्हीं दोनों—वैदर्भी और गौड़ी—को प्रधान मानता है । और वह भामह के विरुद्ध इन दोनों में स्पष्ट अन्तर भी दिखाता है । दण्डी ने अपने स्वीकृत 'श्लेष' आदि दशों गुणों का वैदर्भी रीति में होना बताया है । और वैदर्भी के विपरीत रचना हो, उसे दण्डी ने गौड़ीय रीति बताया है । (काव्याद० १।४२) । वामन ने वैदर्भी, गौड़ी, और पाञ्चाली यह तीन रीति मानी है । और वैदर्भी में अपने स्वीकृत दशों गुणों की, गौड़ीय में ओज और कान्ति गुणों की और पाञ्चाली में माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों की स्थिति होना बताया है । रुद्रट ने अग्रपुराण

संस्कृत साहित्य का इतिहास

के अनुसार वैदर्भी, गौड़ीय, पाञ्चाली और लाटी यह चार रीतिमानी है (काव्यालं० २ ४, ५)। राजशेखर वामन के अनुसार तीन रीति बताता है (काव्यमी०-पृ० ८, ६) और वाग्मण भी वामन का ही अनुसरण करता है । भोजराज ने ६ रीति निरूपण की हैं जिनमें वामन की तीन—वैदर्भी, गौड़ीय एवं पाञ्चाली और रुद्रट की स्वीकृत लाटी के अतिरिक्त आवन्ती और मागधी यह दो अधिक निरूपण की हैं । आचार्य उद्धट और मम्मट ने रीतियों के स्थान पर उपनागरिका, परुषा और कोमला[॥] यह तीन वृत्ति लिखी हैं ।

रीतियों के नाम

रीतियों के वैदर्भी आदि जो नाम हैं, वे विदर्भ आदि प्रान्तों के कवियों द्वारा की गई काव्य में जिस प्रकार की रचना-शैली उपलब्ध हुई उसी के अनुसार रीतियों के नाम प्रान्तीय रचना-शैली के सूचक हैं । यह बात दण्डी के उल्लेख द्वारा भी ज्ञात होती है और वामन ने तो—

‘विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या’ ।

इस सूत्र की—

‘विदर्भगौडपाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथा-
स्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या ।’

इस वृत्ति में स्पष्ट कहा है । अतएव विदर्भ (वराड) प्रान्त से वैदर्भी, गौड़ पूर्वीय प्रान्त से गौड़ीय, पाञ्चाल (पंजाब) से पाञ्चाली, लाट (गुजरात) प्रान्त से लाटी, आवन्ती (मालव) प्रान्त से आवन्ती और मगध प्रान्त से ‘मागधी’ यह प्रान्तीय सम्बन्ध सूचक नाम है । जिस ‘रीति’ को वामन व्यापक रूप में काव्य का आत्मा बताता है, उस (रीति) को स्वर्य वामन केवल प्रान्तीय रचना-शैली

[॥]मम्मट आदि ने माधुर्य गुण व्यञ्जक वर्णों की रचना को उपनागरिका, ओज गुण व्यञ्जक वर्णों की रचना को परुषा और इन दोनों में प्रयुक्त वर्णों के अतिरिक्त वर्णों को रचना को कोमला या ग्राम्या वृत्ति की संज्ञा प्रदान की है ।

बतलाता है। प्रान्तीय-रचना-शैली को काव्य में इतना महत्व दिया जाना कहाँ तक युक्ति-युक्त है, यह अवश्य ही विचारणीय है। फिर रचना शैली के साथ विशेष प्रान्त का सम्बन्ध नियत भी नहीं है। महाकवि कालिदास और दण्डा विदर्भ प्रान्त के होते हुए भी उनकी रचना में वैदर्भी रीति का साम्राज्य है। अतएव रचनाशैली का सम्बन्ध किसी प्रान्त के साथ न रख कर इनके 'उपनाग-रिका' आदि नाम ही रचनाशैली के अनुसार उपयुक्त हैं, जैसा कि उद्भट और ममट ने लिखा है।

वामन के रीति-सिद्धान्त का खण्डन

यद्यपि गुण और रीतियों का निरूपण अग्निपुराण के समय से ही देखा जाता है; किन्तु रीति सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि वामन ही है, क्योंकि वामन ने 'रीति' को काव्य में बड़ा उच्च स्थान प्रदान किया है। वामन काव्य का जीवनाधार 'रीति' को ही बतलाता है—'रीतिरात्मा काव्यस्य' (काव्यालं० सू० १।३।६) किन्तु वामन का यह मत सर्वथा अग्राह्य है। प्रथम तो इस मत को आलोचना ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक (३।५।२) में की है। इसके बाद आचार्य ममट ने वामन के इस मत की बड़ी सारगमित यह आलोचना की है कि 'यदि गुण (या रीति) को ही काव्य का आत्मा मानते हो अर्थात् एक मात्र रीति पर ही काव्यत्व निर्भर बताते हो तो प्रश्न होता है कि तुम सारे गुण जिस रचना में हों उसे काव्य मानते हो या कुछ गुणों के होने पर ही ? यदि सारे गुणों के होने पर ही काव्यत्व मानते हो तो गौड़ीय और पाञ्चाली रीति में तो दो दो गुण ही तुम स्वीकार करते हो, वहाँ काव्यत्व न होगा, यदि कुछ गुणों के होने पर ही काव्यत्व स्वीकार करते हो तो जिस रचना में केवल 'ओज' आदि गुण ही हों—रसादि न हों, उसको भी तुम्हारे मत में काव्य माना जाना चाहिये, जैसे—'इस पर्वत पर बड़ी भारी अग्नि प्रज्वलित हो रही है और यह बहुत ही धुआँ निकल रहा है' इस वाक्य की यदि—

‘अद्रावत्रप्रवल्लत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यनुल्लसत्येषधूमः’।

इस प्रकार रचना की जाय तो इसमें ओज गुण तो तुमको स्वीकार करना ही पड़ेगा क्योंकि इसमें गाढ़ रचना है। अतः इसे भी काव्य माना जाना चाहिये क्योंकि जिस गुण को तुम काव्य का आत्मा मानते हो वह (ओज गुण) यहाँ है ही। किन्तु हम पूछते हैं कि ऐसी रचना को कौन सहृदय काव्य स्वीकार कर सकता है ?

अतएव मम्मटाचार्य के इस विवेचन द्वारा सिद्ध है कि गुण या रीति, काव्य का आत्मा नहीं माना जा सकता क्योंकि इन पर काव्यत्व निर्भर नहीं। हाँ, यह बात आचार्य मम्मट ने भी अवश्य स्वीकार की है कि काव्य में गुणों का महत्व अलङ्कारों की अपेक्षा अधिक है, जैसा कि पहिले काव्यप्रकाश के गुणों के लक्षण की स्पष्टता में दिखाया गया है।

यद्यपि राजशेखर के ‘इति वामनीयाः’ (काव्यमी० पृ० १४, २०) इत्यादि वाक्यों द्वारा विदित होता है कि वामन के मतानुयायी कुछ अन्य विद्वान् भी थे। किन्तु उपलब्ध ग्रन्थों में ‘अभिधावृत्ति-मातृका’ का लेखक एक मुकुल भट्ठ ही—जो मम्मट के पूर्व ईसा की दशबीं शताब्दी में हुआ है—ऐसा है, जिसका परिचय वामन के रीति सिद्धान्त के परिपोषक रूप में हमको वामन के काव्यालङ्कार सूत्र के व्याख्याकार सहदेव के—

“वेदिना सर्वशास्त्राणां भट्ठोभून्मुकुलाभिधः,
लब्ध्वा कुतश्चिदादशं भ्रष्टाम्नायं समुद्दृतम्।
काव्यालङ्कारशास्त्रं यत्तेनैतद्वामनोदितम्,
असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः कचित् ॥”

३४ देखो इस ग्रन्थ का प्रथम भाग मुकुल भट्ठ के विषय का उल्लेख पृ० १८२ ।

इन वाक्यों द्वारा मिलता है। फिर भी यह बात तो सहदेव के इस उल्लेख द्वारा भी स्पष्ट है कि वामन का रीति सिद्धान्त प्रारम्भ-वस्था में ही शिथिल हो चला था। यदि वामन के प्रतानुयायी कुछ विद्वान् थे भी तो वे आचार्य ममट के पूर्वकालीन ही थे। वानम का रीति सिद्धान्त आचार्य ममट की उपर्युक्त आलोचना द्वारा लुप्त प्राय हो गया। क्योंकि ममट के बाद वामन के इस सिद्धान्त को मानने वाला हमारे परिचित सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों में कोई भी दृष्टिगत नहीं होता है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय (School)

वक्रोक्ति का प्रयोग विभिन्न साहित्याचार्यों और महाकवियों द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ में किया गया है। भास्म हने वक्रोक्ति का लक्षण यद्यपि स्वतन्त्र नहीं लिखा है। पर भास्म हने के वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि वह वक्रोक्ति को कोई एक विशेष अलङ्कार नहीं, किन्तु व्यापक रूप में वाक्य का भूषण अथवा अलङ्कार बतलाता है। और काव्य का वक्रोक्ति-गमित होना परमावश्यक भी बतलाता है—

‘वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ।’

—काव्यालङ्कार १।३६

‘वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते ।’

—काव्यालङ्कार ५।६६

इसके अतिरिक्त ‘अतिशयोक्ति’ अलङ्कार के प्रकरण में भास्म हने वक्रोक्ति की और भी स्पष्टता कर दी है। अतिशयोक्ति संज्ञा के एक विशेष अलङ्कार के लक्षण में प्रथम भास्म हने—

‘निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्ति तामलङ्कारतया यथा’ ॥

—का० लं० २।८१

इस प्रकार लोकातिक्रान्त अर्थात् अलौकिक वर्णन को अतिशयोक्ति नाम का अलङ्कार बता कर फिर कहा है—

‘सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्क्येत् तां यथागमम् ॥
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्रोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया बिना’ ॥

—का० लं० २।८४, ८५

इसमें जिस लोकातिकान्त वर्णन को भामह ने अतिशयोक्ति बताया है, उसी को वह—‘सैषा सर्वैव वक्रोक्ति’ इन वाक्यों से ‘वक्रोक्ति’ बताता है*। और वक्रोक्ति को वह यहाँ तक मढ़त्व देता है कि इसके बिना किसी अलङ्कार को अलङ्कारता ही प्राप्त नहीं हो सकती। भामह की इस कारिका (२।८५) को ध्वन्यालोक की वृत्ति में उद्भृत करके श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है—

‘तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारभितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्यत्वलङ्कारमात्रैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररूपेत्ययमेवार्थोऽवगत्तव्यः’।

—ध्वन्या० पृ० २०८

इस अवतरण की व्याख्या में श्री अभिनवगुप्तगदाचार्य ने (ध्वन्या० लो० पृ० २०८) भामह की उपर्युक्त १।३६ की कारिका उद्भृत करके ‘वक्रोक्ति’ शब्द से भामह द्वारा सम्पूर्ण अलकारों का सामान्यतया निर्देश किया जाना एवं अलङ्कारों में लोकोत्तर-अतिशय वर्णन की आवश्यकता बताया जाना, स्पष्ट किया है। अतएव स्पष्ट है कि भामह ने वक्रोक्ति का अतिशय उक्ति अर्थात् लोकोत्तर चमत्कारक वर्णन के अर्थ में प्रयोग किया है और वह वक्रोक्ति को अलङ्कारों का परमावश्यकीय मूल-तत्व बतलाता है।

भामह के बाद दण्डी भी भामह के इस मत से पूर्णतः सहमत दृष्टिगत होता है। दण्डी ने अतिशयोक्ति अलङ्कार के—

‘विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनी ।

असाधतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा’।

—काव्यादर्श २।२।१४

*भामह ने ‘वक्रोक्ति’ और ‘अतिशयोक्ति’ का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है—‘एवं चात्रातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्’ (काव्यप्र० वालबोधिनी दीका पृ० ९०६)।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

इस लक्षण में सर्वथा भामह का अनुसरण किया है—भामह ने ‘लोकातिरिक्त-गोचर’ लिखा है और दण्डी ने ‘लोकसीमातिवर्तिनी’। इनमें केवल शब्द परिवर्तन मात्र है—अर्थ दोनों का ही समान है। यही नहीं, भामह जिस अतिशयोक्ति के अभाव में किसी भी अलङ्कार में अलङ्कारत्व नहीं स्वीकार करता है, दण्डी उसी अतिशयोक्ति को सम्पूर्ण अलङ्कार वर्ग का एक मात्र परम आश्रयस्थान बताता है—

अलङ्कारान्तराणामध्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥

का० द० २१२२०

इसके अतिरिक्त भामह जिस प्रकार वक्रोक्ति की संपूर्ण अलङ्कारों में व्यापकता बताता है और जिसका अलङ्कारों की सामान्य संज्ञा के लिये भी प्रयोग करता है। दण्डी भी—

‘र्खेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।’

—का० द० २१३६३

इस कारिका में ‘वक्रोक्ति’ का प्रयोग सामान्यतया सारे अलङ्कारों की संज्ञा के लिये करता है। इस कारिका की दृश्यंगम टीका में भी यही व्यञ्जया की गई है—

‘वक्रोतिशब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलङ्कारा उच्चन्ते’ ।

अतः स्पष्ट है कि वक्रोक्ति के विषय में भामह और दण्डी दोनों का एक ही मत है।

ध्वन्यालोक-वृत्ति में श्री आनन्दवर्घनाचर्य ने—

‘यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालंकृति-
द्युर्योपन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्’ ॥

—ध्वन्या० पृ० ६

यह पद्य उद्भृत किया है। इस पद्य को श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने श्री आनन्द-वर्धनाचार्य के समकालीन मनोरथ का बताया है। इस पद्य की व्याख्या में श्री अभिनव ने वक्रोक्ति की यह स्पष्टता की है—

‘वक्रोक्तिरस्त्वष्टा संघटना……वक्रोक्तिशून्यशब्देन सर्वालङ्घाराभावश्च उक्तः’ ।

अतएव इस प्राचीन पद्य में भी वक्रोक्ति का प्रयोग भास्मह और दण्डी के मतानुसार ही किया गया है।

उपर्युक्त प्राचीन साहित्याचार्यों के अतिरिक्त प्राचीन महाकवियों के कव्यों में भी ‘वक्रोक्ति’ का प्रयोग किया गया है। उनमें वक्रोक्ति का प्रयोग एक विशेष प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य के अर्थ में देखा जाता है। वहाँ अलङ्घारों के साथ इसका स्पष्टतया कुछ सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। जैसे कविराज* ने—

‘सुबन्धुर्वाणभट्टश्च कविराज इतित्रयः।

वक्रोक्तमार्गनिपुणाश्रुर्थो विद्यते न वा’॥

—रघवपाण्डवोय १।१४।

इसमें वक्रोति के प्रशंसनीय निपुण कवि सुबन्धु, वाण भट्ट और स्वयं अपने को (कविराज को) बताया है। संभवतः इसमें चमत्कारात्मक विचित्र-रचना के लिये ही ‘वक्रोक्ति’ का प्रयोग है। महाकवि वाण भट्ट के—

‘वक्रोक्तनिपुणोनाख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण’।

—काढम्बरो पृ० १०६ निर्णयसा० संस्क०

इत्यादि वाक्यों में वक्रोक्ति का प्रयोग क्रीड़ालाप और चातुर्यगर्भित उक्ति के लिये किया गया है। इसी प्रकार अमरुकशतक के—

* कविराज का समय ईसा की ८ वीं शताब्दी के लगभग माना गया है। देखो मि० मेकडानल कृत संस्कृत साहित्य के इतिहास का गुजराती अनुवाद पृ० ४२२

संस्कृत साहित्य का इतिहास

**‘सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्।’**

इस पद्य में संभवतः वक्रोक्ति का प्रयोग वक्र-उक्ति अर्थात् कुछ व्यंग्यगमित उक्ति के अर्थ में प्रतीत होता है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भाभह, दरडी, श्री आनन्दवर्धनाचार्य और अभिनवगुप्तपदाचार्य आदि का वक्रोक्ति के विषय में एक ही मत है अर्थात् वे वक्रोक्ति को सारे अलङ्कारों का मूल-तत्त्व बतलाते हैं। और उपर्युक्त सुवन्धु, वाण, कविराज और अमरुक आदि महाकवियों द्वारा वक्रोक्ति का प्रयोग सामान्यतया अलङ्कार संज्ञा के लिये नहीं किन्तु चातुर्युक्त या व्यङ्ग्य-गर्भ विचित्र उक्ति के लिये किया गया है।

अच्छा, तीसरी घण्टी के कुछ साहित्याचार्य वे हैं, जो भामह के सिद्धान्तानुसार वक्रोक्ति की सब अलङ्कारों में व्यापकता के विषय में तो मौन हैं—कुछ नहीं कहते हैं। किन्तु वक्रोक्ति को एक विशेष अलङ्कार बतलाते हैं। वक्रोक्ति नामक एक शब्दालङ्कार का सर्व प्रथम हमको अग्निपुराण में उल्लेख मिलता है—

‘वक्रोक्तिर्भु भवेऽङ्ग्या काकुस्तेनकृता द्विधा।

—अग्निपु० ३४२।३३

यद्यपि अग्निपुराण में इसकी स्पष्टता उदाहरण देकर नहीं की गई है, किन्तु भोजराज द्वारा सरस्वतीकण्ठाभरण में—जिसमें प्राथः अग्नि-पुराण का अनुसरण किया गया है, जो उदाहरण दिखलाये गये हैं, वे अग्निपुराण के मातानुसार हैं। और वहां एक उदाहरण—‘कि गौर मां प्रति रुषा’ इत्यादि पद्य रुद्रट का भी लिया गया है। रुद्रट ने वक्रोक्ति के विषय में पूर्णतः अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए वक्रोक्ति को शब्दालङ्कारों का एक विशेष भेद निरूपण किया है। और भोज ने वक्रोक्ति के श्लेष-वक्रोक्ति एवं काकु-वक्रोक्ति यह दो भैरव भी अग्निपुराण

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

के अनुसार दिखलाये हैं। भोजराज और रुद्रट ने वक्रोक्ति के यौगिक अर्थ के अनुसार ही वक्रोक्ति का लक्षण लिखकर उदाहरण प्रदर्शित किये हैं। भामह और दण्डी ने वक्रोक्ति को लोकातिरिक्त वर्णनात्मक बतला कर जिसे सारे अलंकारों का प्राण-भूत व्यापक तत्व बताया था, रुद्रट ने अग्निपुराण के अनुसार उसका यौगिक अर्थ—वांकी या टेढ़ी उक्ति अर्थात् ‘वका जिस अभिप्राय से वास्त्र कहे उसका अन्य द्वारा अन्यार्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाय’ यह अर्थ-ग्रहण करके वक्रोक्ति को एक विशेष अलंकार में मर्यादित कर दी है। और रुद्रट के पश्चात् आचार्य मम्मट ने भी रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार स्वीकार किया है। यही नहीं रुद्रट और मम्मट ने शब्दालंकारों में सबसे प्रथम वक्रोक्ति को ही लिख कर प्राधान्य दिया है, जिस प्रकार अर्थालंकारों में सर्व प्रधान उपमा को सर्व प्रथम स्थान दिया जाता है। यद्यपि मम्मट ने भामह के वक्रोक्ति विषयक व्यापक सिद्धान्त को भी मान्य किया है*। अर्थात् मम्मट ने वक्रोक्ति का उक्ति-वैचित्र्य अर्थ ग्रहण करके भामह के मतानुसार वक्रोक्ति की सभी अलंकारों में व्यापकता भी स्वीकार की है और वक्रोक्ति का टेढ़ी उक्ति अर्थ ग्रहण करके रुद्रट के मतानुसार उसे एक विशेष अलङ्कार भी स्वीकार किया है। मम्मट का वक्रोक्ति-विषयक विवेचन उसी प्रकार का है जिस प्रकार भामह और दण्डी ने अतिशयोक्ति नाम का एक विशेष अलङ्कार भी माना है।

यद्यपि अग्निपुराण के पश्चात् वक्रोक्ति का एक विशेष अलंकार के रूप में सर्व प्रथम निरूपक रुद्रट ही नहीं है, रुद्रट के प्रथम वामन ने भी वक्रोक्ति को अर्थालंकारों में एक विशेष अलंकार निरूपण किया है। किंतु वामन ने वक्रोक्ति अलंकार का ‘साहश्यालक्षण वक्रोक्तिः।’ (का० ल० स० ४।३।८) यह लक्षण लिखकर उसके उदाहरण—

‘उन्मिमीलं कमलं सरसीनां कैरवं च निमिमीलं मूहूर्तात्।’

* देखिये काव्यप्रकाश विशेषालङ्कार प्रकरण।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

इत्यादि उदाहरण दिये हैं। अर्थात् वामन ने सादृश्यलक्षणा (इसके व्याख्याकार गोपेन्द्रनिपुहर भूगाल के अनुसार साध्यवसाना लक्षणा*) को वक्रोक्ति अलंकार बताया है जिसको ममट आदि ने अनिशयोक्ति अलंकार का एक भेद माना है। वामन का वक्रोक्ति विषयक यह विवेचन भामह और रुद्रयादि सभी से विचित्र है। किंतु रुद्रट और ममट के परबर्ती दोनों वारभट्टे हेमचंद्र, जयदेव और विश्वनाथ आदि सभी सुप्रसिद्ध आचार्यों ने वक्रोक्ति को रुद्रट के मतानुसार ही एक विशेष अलंकार निरूपण किया है। रुद्यक भी ममट के अनुसार वक्रोक्ति को एक विशेष अलंकार निरूपित करता हुआ भामह के सिद्धांत को भी स्वीकार करता है और लिखता है—

‘वक्रोक्तिशब्दशालंकारसामान्यबचनोऽरीहालंकारविशेषे संज्ञतः’

—अलंकारसर्वस्व पृ० १७७ काव्यमाला

रुद्यक के स्वीकृत वक्रोक्ति अलंकार की स्पष्टता में विमर्शिणीकार ने कहा है—

‘वाक्छ्लात्मकत्वेनोक्तेः कौटिल्यात्।’

—अलंकारस० पृ० १७७

अर्थात् विमर्शिणीकार वक्रोक्ति का अर्थ वाक्छ्लात्मक उक्ति का कौटिल्य बताता है। संभवः उपर्युक्त अमरुक के पद्य में भी वक्रोक्ति का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।

इनके सिवा हरविजय नामक प्रसिद्ध महाकाव्य के प्रणेता सुप्रसिद्ध महाकवि रत्नाकर ने—जो नवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुआ है—वक्रोक्तिपञ्चाशिका लिखी है, जिसमें भगवान् श्री रामकर और गिरिजा की परस्पर परिहासोक्ति में वक्ता के अभिप्राय को अन्यार्थ में कल्पना करके उत्तर प्रति उत्तर हैं, जैसा कि रुद्रट द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति अलंकार के उदाहरणों में दृष्टिगत होता है।

* साध्यवसाना लक्षणा में विषय (उपमेय आदि) का निर्गीर्ण होकर केवल विषयी (उपमान आदि) का ही कथन होता है।

बक्रोक्ति सम्प्रदाय

ऊपर के विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि आशपुराण से आदि लेकर भामहादि सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों एवं महाकवियों द्वारा बक्रोक्ति की सीमा लोकोत्तर चमत्कार वर्णनात्मक उक्ति-वैचित्रय या वाक्-छलात्मक उक्ति अथवा यों कहिये अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही सीमा-वद्ध कर दी गई थी। वामन भी बक्रोक्ति को एक अलङ्कार ही स्वीकार करता है यद्यपि वामन का वताया हुआ बक्रोक्ति का लक्षण रुद्रट से भिन्न है।

बक्रोक्ति और कुन्तल

राजानक कुन्तल (या कुन्तक) ने अपने 'बक्रोक्ति जीवित' ग्रन्थ में बक्रोक्ति का एकचार ही रूप परिवर्तन कर दिया अथवा यों कहना उपयुक्त होगा कि उसने बक्रोक्ति को काव्य में सर्वोत्तम स्थान पर स्थित करने का महान् प्रयत्न किया। यद्यपि जिस लोकोत्तर वर्णन के व्यापक उक्ति वैचित्रय के अर्थ में भाम-हादिक ने बक्रोक्ति का प्रयोग किया था, उसी अर्थ में कुन्तक ने भी बक्रोक्ति का प्रयोग किया है। कुन्तक ने बक्रोक्ति की परिभाषा में यही कहा है—

'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्रयसिद्धये ।
बक्रोक्तिरेववैदृग्ध्यभङ्गी भणितिस्त्वयते' ॥

बक्रोक्तिजी ० ११०

इसकी व्याख्या में वह स्वयं कहता है—

'वैदृग्ध्यं विदृग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्यविच्छङ्गिः तया भणितिः
विचित्रैव अभिधा बक्रोक्तिः' ।

बक्रोक्ति जीवित—पृ० २२

अर्थात् कवि की रचना चारुर्य से शोभित विचित्र उक्ति को वह बक्रोक्ति बताता है। श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने भी विच्छिन्नि और वैचित्रय का प्रयोग समानार्थ

संस्कृत साहित्य का इतिहास

में ही किया है। और इसी प्रकार अभिनवगुप्तदाचार्य ने भी*। कुन्तक ने यह परिभाषा संभवतः राजशेखर की पढ़ी अवन्तिसुन्दरी के—

‘विद्वधभणिति भङ्गनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावं’।

—काव्यमी० पृ० ४६

इस वाक्य के आधार पर निर्माण की है।

यद्यपि कुन्तक के वकोक्ति सिद्धान्त का मूल-श्रोत भामह का वकोक्ति विषयक व्यापक सिद्धांत ही है। किन्तु भामह ने वकोक्ति की व्यापकता केवल समूर्ण अलङ्कारों तक ही मर्यादित रखी थी। जो वकोक्ति के सामर्थ्य के अनुकूल थी। अतएव उस सिद्धान्त को उसके बाद के सुप्रसिद्ध सभी आचार्यों ने स्वीकार कर लिया। परन्तु कुन्तक ने अपने मूलाधार के बलावल पर पूर्णतया विचार न करके उस पर एक असद्य भार का विशाल-भवन निर्माण कर दिया—उसने वकोक्ति को ही काव्य का एक मात्र जीवन-सर्वस्व सिद्ध करने की असंभव चेष्टा की, जैसा कि ऊपर दी हुई वकोक्ति की परिभाषा में वकोक्ति के आगे ‘एव’ के प्रयोग द्वारा स्पष्ट है। जयरथ ने इसकी स्पष्टता में कहा है—

‘एवकारोऽन्यस्य काव्यजीवितत्वव्यवच्छेदकः। काव्यजीवितमिति काव्यस्यानुप्राणकम्। तां विना काव्यमेव न स्यादित्यर्थः।’

—श्रलं० सं० पृ० ८

और कुन्तल ने अपनी इस परिभाषा के अनुसार वकोक्ति के—

‘कविध्यापारवक्त्वप्रकाराः संभवन्ति षट्।

प्रत्येकं वहवो भेदास्तेषां विच्छिन्निशोभिनः॥

—वक्रो० जी० ११८ पृ० २६

इस प्रकार वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता आदि भेद बता कर, अनुप्रासादि शब्दालंकारों को—

* देखिये ध्वन्यालोक व्याख्या पृ० ५,८।

‘एतदेत वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरंतनेष्वनुप्राप्त इति प्रसिद्धम्’

—वक्रोक्तिजी० पृ० ३०

‘यमकं नाम कोप्यस्याः प्रकारः परिहृश्यते ।

स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते’ ॥

—वक्रोक्तिजी० २७ पृ० ८६

ऐसा कह कर वर्ण विन्यास वक्रता के अन्तर्गत और—

‘वाक्यस्य वक्रभावोन्यो भिद्यते यः सहख्यधा ।

यत्रालंकारवर्गाऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति’ ॥

वक्रोक्तिजी० १२० पृ० ४०

इसके अनुसार उपमादि सब अर्थालंकारों को वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत बता दिया है। इसी प्रकार गुण और वृत्तियों का भी वक्रोक्ति में समावेश कर दिया है। केवल अलंकार और गुण ही नहीं, रस, भाव और ध्वनि के संपूर्ण भेदोप-भेद काव्य के सभी विषय कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत समावेश करके वक्रोक्ति की निर्मर्यादि व्यापकता प्रतिपादन करने की पर्याप्त चेष्टा की है। कुन्तक द्वारा यह दुःसाहस ध्वनि-सिद्धांत को निर्मूल करने की लालसा से—ध्वनिकार के विपक्ष में उनके साथ स्पर्श करके उनकी महान् प्रतिष्ठा अपने वक्रोति-सिद्धांत द्वारा ग्रस लेने के लिए किया गया था। क्योंकि कुन्तक ने स्वयं ध्वनि को स्वीकार किया है, किन्तु वह कहता है कि काव्य का जीवन व्यंग्यार्थ पर नहीं किन्तु एक मात्र वक्रोक्ति पर ही अवलम्बित है, जो अभिधा का विचित्र वाच्यार्थ है—

‘वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा’ ।

—वक्रोक्तिजी० पृ० २२

कुन्तक के मत के निष्कर्ष रूप में रुद्धक ने स्पष्ट यही कहा है—

संस्कृत साहित्य का इतिहास

‘उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपश्चः स्वीकृतएव केवलमुक्तिवैचि
द्यजीवितं काव्यं न व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्’।

—अलं० सर्वस्व पृ० द त्रिवेदम् संस्क०

किन्तु कुन्तक के इस प्रयत्न का फल सर्वथा विपरीत हुआ—वक्रोक्ति सिद्धांत द्वारा ध्वनि सिद्धान्त कुछ भी विचलित न हो सका, किसी भी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत कुन्तक के इस मत की आलोचना में सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने इसका निरादर किया है। प्रथम तो स्वयक और रुद्यक के टीकाकार जयरथ ने (अलं० सर्वस्व पृ० द) और समुद्रवंध ने (अलं० सर्वस्व पृ० द त्रिवेन्द्र०) इस पर आलेप किया है। फिर विश्वनाथ ने भी निरादर किया है। अस्तु ऐसी परिस्थिति में हमारे विचार में कुन्तक के वक्रोक्ति विषयक विवेचन को केवल विशेष सिद्धांत मात्र ही कहना उपयुक्त है, वस्तुतः देखा जाय तो भामह के प्रतिपादित वक्रोक्ति के व्यापक सिद्धांत के अन्तर्गत होने के कारण ‘वक्रोक्ति’ का अलंकार साम्रादाय में समावेश हो सकता है न कि स्वतंत्र संप्रदाय। क्योंकि संप्रदाय की उपाधि का अधिकार तो उसी अवस्था में प्राप्त हो सकता है, जब कि कोई भी सिद्धांत परंपरा रूप से स्वतंत्र प्रचलित हो जाय। किन्तु कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धांत केवल उसके ‘वक्रोक्ति-जीवित’ ग्रन्थ में ही नाम मात्र को शेष रह गया है।

ध्वनि सम्प्रदाय (School)

ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्व प्रथम ग्रन्थ रूप में आज्ञातनामा ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा (जो कि क्रमशः ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति के प्रणेता हैं) किया गया है । यद्यपि उनके—

‘काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समान्तात्पूर्वः’ ।

—ध्वन्या० ११ पृ० २

इत्यादि वाक्यों द्वारा विदित होता है कि ध्वनिविषय का निरूपण इनके पूर्व भी विद्वानों द्वारा किया गया है ; किन्तु उपर्युक्त कारिकांश की व्याख्या में आभिनव-गुप्तपादाचार्य के

‘विनाऽपिविशिष्टपुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः’ ।

—ध्वन्या० ल० ० पृ० ३

इस वाक्य द्वारा स्पष्ट है कि ध्वनि-सिद्धान्त का स्वतंत्र ग्रन्थ रूप में ध्वनिकार के प्रथम किसी भी आचार्य द्वारा प्रतिपादन नहीं किया गया था । अतएव ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक ‘ध्वनिका’ और श्री आनन्दवर्धनाचार्य ही माने जा सकते हैं ।

सबसे पर्यम यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है—

ध्वनि क्या पदार्थ है

संक्षिप्त में यह कह सकते हैं कि काव्य में वाच्य-अर्थ और लक्ष्य-अर्थ के अतिरिक्त एक तीसरा अर्थ—जिसकी व्यग्रार्थ संज्ञा है, वह-व्यंग्रार्थ जहाँ वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) की अपेक्षा प्रधान होता है उसी काव्य को ध्वनि कहते हैं । वाचक और लक्षक शब्द एवं इनका वाच्यार्थ (या मुख्यार्थ) और लक्ष्यार्थ तथा इनको बोध कराने वाली अभिधा और लक्षणा शक्ति (या वृत्ति) का तो न्याय और वेदान्तादिक प्रायः सभी शास्त्रों में स्वीकार किया गया है । और व्याकरण शास्त्र में यद्यपि व्यञ्जक शब्द, व्यंग्रार्थ एवं व्यञ्जना शक्ति का भी स्वीकार किया गया

है, पर व्याकरण शब्द-प्रधान शास्त्र होने के कारण व्याकरण में व्यंग्यार्थ और व्यञ्जना वृत्ति को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है; किन्तु ध्वनिकारों ने काव्य में व्यञ्जक-शब्द और उसका व्यञ्जय अर्थे एवं उसको बोध कराने वाली व्यञ्जना शक्ति को परमावश्यक बतला कर व्यञ्जना का प्राधान्य स्थापन किया है। क्योंकि काव्य में मुख्य पदार्थ रस है, और रस की विभाव, अनुभाव और व्यभिचार भावों द्वारा ही अभिव्यक्ति होती है—जैसा कि 'रस' संप्रदाय के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है—किन्तु वह अभिव्यक्ति वाच्यार्थ * और लक्ष्यार्थ † द्वारा नहीं हो सकती। क्योंकि रस और भाव आदि न तो शब्द द्वारा उनके नाम कहने मात्र से ही अभिव्यक्त हो सकते हैं, और न उन नामों के वाच्यार्थ समझने मात्र से ही। यदि शृङ्खारादि रसों के नाम कह देने मात्र से वे—शृङ्खारादि रस—अभिव्यक्त हो सकते तो उनके नाम मात्र के सुनने से ही आनन्द प्राप्त हो सकता था, किन्तु प्रत्यक्ष है कि शृङ्खार-शृङ्खार चाहे हजार बार पुकारा जाय, किसी को कुछ आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता है, इसी से ध्वनिकारों ने कहा है—

* वाच्यार्थ वह होता है, जिसका शब्द के सुनने मात्र से सरलता से बोध हो जाता है। इसको मुख्यार्थ, अभिव्येत्यार्थ भी कहते हैं।

† 'लक्ष्यार्थ' होता है, वह वाच्यार्थ की तरह के शब्द के पढ़ने मात्र से उपस्थित नहीं हो सकता किन्तु जब मुख्यार्थ का वाध्र अर्थात् जब मुख्यार्थ असंभव हो या मुख्यार्थ द्वारा वक्ता का अभिप्राय न निकलता हो, तब रूढ़िया प्रयोजन के कारण वह (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है। और लक्ष्यार्थ वही ग्रहण किया जा सकता है; जिसका मुख्यार्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध हो। जैसे 'गङ्गायां धोषः'- 'गङ्गा में धोष'। इसका मुख्यार्थ तो गङ्गाजी की धारा में धोष का होना असंभव है, इसलिये यहां इस मुख्य अर्थ का बाध है, अतएव यहां 'गङ्गा' शब्द के 'प्रवाह' अर्थ का बाध होने के कारण 'गङ्गाजी का तट' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, क्योंकि तट पर ही धोष का होना संभव है। और 'तट' रूप लक्ष्यार्थ का 'प्रवाह' रूप मुख्यार्थ के साथ सामीप्य (प्रवाह के

‘नहि केवल शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावांद प्रतिपादनरहिते
काव्ये मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति’।

—ध्वन्या० पृ० २५

इसी प्रकार शृङ्गार आदि शब्दों के वाच्यार्थ के ज्ञान द्वारा भी कुछ आनन्द प्रस नहीं हो सकता। अतएव सिद्ध है कि वाचक शब्द या अभिधा शक्ति के व्यापार वाच्यार्थ द्वारा रस की प्रतीति नहीं हो सकती, और न लक्ष्यार्थ द्वारा ही, क्योंकि लक्ष्यार्थ तो तभी उपस्थित हो सकता है, जब मुख्यार्थ का बाध अर्थात् तात्पर्य की अनुपपत्ति भी हो। किंतु रस की प्रतीति में मुख्यार्थ का बाध अर्थात् तात्पर्य की अनुपपत्ति भी नहीं अतः रस की प्रतीति लक्षणा के व्यापार लक्ष्यार्थ द्वारा भी नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि रसादि की प्रतीति जिसके द्वारा हो सकती है, वह अभिधा के वाच्यार्थ और लक्षणा के लक्ष्यार्थ से भिन्न कोई अन्य ही अर्थ है। और वह व्यञ्जना-वृत्तिके व्यंग्यार्थ के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं हो सकता।

समीप होना) संबन्ध है। और प्रयोजन यहां यह है अर्थात् ऐसा प्रयोग इस लिये किया गया है कि वक्ता को अपने निवास स्थान की पवित्रता और शीतलता का आधिक्य सूचन करना अभीष्ट है। क्योंकि जैसी शीतलता और पवित्रता ‘गङ्गा’ कहने से सूचित होती है, वैसी ‘तट’ कहने से सूचित नहीं हो सकती। बस यहां जो यह प्रयोजन बतलाया गया है, वही व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्यार्थ अर्थात् ‘पवित्रता और शीतलता का आधिक्य सूचन करना’ न तो वाक्यार्थ द्वारा ही बोध हो सकता है और न लक्ष्यार्थ द्वारा जाना जा सकता है किन्तु वह केवल व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ध्वनित होता है अतः वह व्यंग्यार्थ कहा जाता है। इसकी अथिक स्पष्टता हमने काव्यकल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के प्रथम भाग रसमञ्जरी में की है।

व्यञ्जना का शब्दार्थ

व्यंग्यार्थ को बोध कराने वाली शक्ति को व्यञ्जना इसलिये कहते हैं, कि 'अञ्जन' शब्द के 'वि' उपसर्ग लगाने से 'व्यञ्जन' बनता है। जिस प्रकार नेत्रों के लगाने का अञ्जन अस्फुट (अप्रकट) वस्तु को स्फुट (प्रकट) करता है, उसी प्रकार यह व्यञ्जना (एक प्रकार का विशेष अञ्जन) है, यह अभिधा और लक्षण द्वारा बोध नहीं होने वाले अस्फुट अर्थ व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति है। बस, इसलिये ध्वनिकारों ने व्यंग्यार्थ और व्यञ्जनानृति का काव्य में स्वीकार किया जाना आवश्यक बतलाया है।

काव्य में सारभूत आनन्द-प्रद पदार्थ रस ही है अतएव रस को अभिव्यक्त करने वाले व्यंग्यार्थ को ही ध्वनिकारों ने सर्वोच्च स्थान दिया जाना उचित समझा और ऐसा ही समझा जाना उचित भी था। यद्यपि भरत-सूत्र के व्याख्याकार भट्ट नायक ने रस की निधत्ति 'भावना' और भोग व्यापार द्वारा बतलाई है, किन्तु भावना और भोग का अन्ततोगत्वा ध्वनि-सिद्धान्त में ही समावेश हो जाता है। भट्ट नायक के मत की आलोचना में श्री अभिनवगुप्तगदाचार्य ने

भोगीकरणव्यापारश्च…………भावकत्वमपि…………इति व्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वनन्तमेव निपतति। भोगोपि…………लोकोत्तरोधननव्यापार एव मूर्धभिषिक्तः

— ध्वन्या० लोचन पृ० ७०

* शब्द के अर्थ को बोध कराने वाली शक्ति को 'वृत्ति' कहते हैं। कारण जिसके द्वारा कार्य करता है वह 'व्यापार' कहा जाता है—जैसे घट के बनाने में मिठी, कुम्हार, दण्ड और चाक कारण है, घट कार्य है और 'अभि' (चाक को मण्डलाकार फिराने की किया) व्यापार है। इसी प्रकार 'शब्द' कारण है अर्थ का बोध कराया जाना कार्य है और अर्थ का बोध कराने वाली अभिधा, लक्षण और व्यञ्जना व्यापार हैं।

व्यंग्यार्थ की प्रधानता प्रतिपादन करते हुए श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने स्पष्ट कहा है—

‘ठयंग्यव्यञ्जकाभ्यामेव हि सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवी-
नाम् न वाच्यवाचकरचनामात्रेण’ ।

ध्वन्या० पृ० ३१

इस प्रकार व्यंग्यार्थ का महत्व प्रतिपादन करके उन्होंने व्यंग्यार्थ को ध्वनि संज्ञा इसलिये प्रदान की कि व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमार्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ क्षै ।

व्यञ्जकः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

ध्वन्या० ११३ पृ० ३३

व्यञ्जयार्थ भी कहीं तो वाच्यार्थ से प्रधान होता है और कहीं गौण अतः जहाँ वाच्यार्थ से व्यञ्जयार्थ प्रधान होता है, वहाँ ही उसे ‘ध्वनि’ की संज्ञा प्राप्त हो सकती है—

‘मुख्यतया प्रकाशमानो व्यंग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा’ ।

ध्वन्या० पृ० ६४

वस, ध्वनि के स्वरूप की संक्षिप्त में यही स्पष्टता है

ध्वनि की व्यापकता

ध्वनि-सिद्धान्त ने साहित्य क्षेत्र में एक बार ही नवीन युग परिवर्तन कर दिया । इसके प्रथम काव्य में सर्वोच्च स्थान के विषय में रस, अलङ्कार, रीति (अथवा गुण) सम्प्रदायों में जो परस्पर संघर्षण हो रहा था—विभिन्न आचार्य

क्षै जहाँ वाक्यार्थ और वाचक शब्द अपने अर्थों को गौण (अप्रधान) बना कर उस अर्थ को (व्यंग्यार्थ को) ध्वनित करते हैं वह ध्वनि है ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

अपने-अपने सिद्धान्त की प्रधानता स्थापन करने की यथेष्ट चेष्टा कर रहे थे, किन्तु ध्वनि-सिद्धान्त ने अपने महत्व से उन सभी को पराभूत कर दिया। ध्वनिकारों ने ध्वनि के भिन्न-भिन्न भेद और उनके उपभेद विषय-क्रम से निरूपित करके अपने पूर्व के प्रचलित सभी सिद्धान्तों का ध्वनि-काव्य में समावेश करते हुए काव्य के विशाल क्षेत्र में एक मात्र ध्वनि का ही सर्वत्र समाज्य स्थापन कर दिया — अन्य सिद्धान्तों को प्रायः मारण्डलिक राजाओं के समान ध्वनि के आश्रित एवं परिमित सीमा-बद्ध बना दिया। उन्होंने अपने इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का सामाज्य किस प्रकार गम्भीर विवेचन के साथ स्थापन किया है, उसका भी संक्षिप्त दिक्कर्दर्शन यहां कराया जाना हम आवश्यक समझते हैं।

ध्वनि की व्यापकता और उसके भेद

शब्द की अभिधा और लक्षणा जो पूर्वे प्रचलित वृत्तियाँ थीं, उन्हीं के अनु-सार ध्वनिकारों ने ध्वनि को प्रथम दो प्रधान भेदों में विभक्त किया है—अभिधा-मूला ध्वनि और लक्षणा-मूला-ध्वनि। अर्थात् विवक्षित अन्य परवाच्य-ध्वनि, और अविवक्षित-वाच्य ध्वनि। इनमें लक्षणा-मूला-ध्वनि के अन्तर्गत, लक्षण में जो प्रयोजन रूप चमत्कार रहता है उसे प्रत्यक्षतया अकाव्य युक्तियों द्वारा व्यङ्ग्यार्थ सिद्ध करके, उसका समावेश कर लिया और अभिधा-मूला ध्वनि के दो भेद निरूपण किये—एक असंलग्नकमव्यङ्ग्य-ध्वनि और दूसरा संलग्नकमव्यंग्य-ध्वनि—

‘स च वाच्यार्थपेक्षया कश्चिदलग्न्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित् क्रमे-ऐति द्विधा मतः’।

इन दोनों में पहिले भेद—

ध्वन्या पृ० ६४

असंलग्नकमव्यङ्ग्य-ध्वनि

में ऐसी काव्य-रचना का समावेश किया गया है जिसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पूर्वाग्रह क्रम न जाना जाय। अर्थात् इस ‘ध्वनि’ के अन्तर्गत रस,

भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति और भावशब्दता आदि सभी रस-विषय का समावेश किया गया है—

‘रसभावतदाभासतप्रशान्त्वादिरक्षमः ।

ध्वनेरात्माङ्गभावेन भासमानो व्यवस्थितः’ ।

—ध्वन्या० ३।३

रस विषय को असंलङ्घक्रम व्यङ्ग्य इसलिये माना गया कि विभावादि द्वारा जो रस की प्रतीति होती है, उसमें पूर्वापर का क्रम प्रतीत नहीं होता । यद्यपि प्रथम विभाव तदनन्तर अनुभाव एवं व्यभिचारियों की प्रतीति के बाद ही रस की प्रतीति होती है अतः पूर्वापर क्रम तो वहां भी है, पर रस के आनन्दानुभव में वह—पूर्वापर क्रम शतपत्र-पत्र-भेदन न्याय के अनुसार प्रतीत नहीं हो सकता अर्थात् जिस प्रकार कमल के एक सौ पत्तों पर सूई से छिद्र किये जाने पर, वे पत्ते यद्यपि क्रमशः—एक के बाद दूसरे—सूई से छेदन होते हैं, पर वह कार्य इतना शीघ्र होता है, जिससे उनका पूर्वापर क्रम जाना नहीं जा सकता इसी प्रकार रसास्वाद के समय भी विभावादि का क्रम प्रतीत नहीं हो सकता । यदि इसमें सर्वथा क्रम न होता तो यह अक्रम-व्यङ्ग्य कहा जाता, न कि असंलङ्घक्रम व्यङ्ग्य । असंलङ्घक्रम कहने का तात्पर्य ही यह है कि क्रम अच्छी प्रकार न जाना जाय । इस प्रकार ध्वनिकारों ने काव्य के सर्वोपरि आस्वादनीय पदार्थ रस विषय का तो अभिधान-मूला ध्वनि के प्रथम भेद असंलङ्घक्रम व्यग्र्य में समावेश कर दिया । और रीति-सिद्धान्त तो ध्वनि के अन्तर्गत स्वयं मिद्द है, क्योंकि रीतियाँ गुणों पर निर्भर हैं और गुण रस के धर्म हैं और रस व्यग्र्यार्थ हैं ही । इसीलिये ध्वनिकारों ने रीति-सिद्धान्त के प्रवर्तकों की आलोचना भी की है * । और दूसरे भेद—

* देखिये ध्वन्यालोक ३।५२, ५३ की कारिका और वृत्ति पृ० २३१ ।

संलङ्घक्रमव्यञ्जन ध्वनि

में काच्य की ऐसी रचना का समावेश किया गया है जिसमें वाच्यार्थ और व्यञ्जनार्थ का पूर्वपर क्रम जाना जाय अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ का प्रथम ज्ञान होने के बाद व्यञ्जनार्थ की प्रतीति होती हो, जैसे घडावल के बजने पर प्रथम जोर का टंकार होता है, फिर उसमें से भक्तार निकलती है—मधुर-मधुर ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार घडावल के टंकार के समान प्रथम वाच्यार्थ का बोध हो जाने के बाद व्यञ्जनार्थ की ध्वनि निकलती है। इस—संलङ्घक्रम व्यंग्य के उन्होंने प्रधान दो भेद निरूपण किये हैं—अलङ्कार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि। अलङ्कार ध्वनि में अलङ्कारों का समावेश किया गया है। ध्वनिकारों ने अलङ्कारों की दो अवस्था स्पष्ट की है—एक तो वाच्यार्थ से बोध होने वाले अलङ्कार—जैसा कि ध्वनिकारों के पूर्ववर्ती भामहादिकों ने जिस स्वरूप में अलङ्कार प्रदर्शित किये हैं। और दूसरी अवस्था वह, जहाँ वाच्यार्थ में अलङ्कार बोध न होकर व्यञ्जनार्थ द्वारा ध्वनित होते हैं जैसे—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।

तस्यामेव रथोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥

—रघुवंश

‘दक्षिण दिशा में जाने पर (दक्षिणायन होने पर) सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है, किन्तु उसी (दक्षिण) दिशा में रघु का प्रताप पांड्य देश के राजाओं से न सहा गया’। इस पद्य के वाच्यार्थ में कोई अलङ्कार नहीं, किन्तु इस वाच्यार्थ के बोध होने के बाद इसमें यह ध्वनि निकलती है कि रघु का प्रताप सूर्य के ताप से भी अधिक है अतः यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार ध्वनित होता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ द्वारा ध्वनित होने वाले अलङ्कारों को तो ध्वनि का विषय माना ही गया है। इसके सिवा ध्वनिकारों ने वाच्यार्थ-भूत अलङ्कारों का भी अधिक चमत्कार ध्वनि के आश्रित ही बतलाया है—

‘वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां विभ्रल्लक्ष्ये तिरीक्ष्यते’ ॥

—ध्वन्या० ३।३७ तृ० २०७

अच्छा, रस और अलङ्कारों के अतिरिक्त अब रहा ऐसा काव्य, जिसमें रस और अलङ्कार स्थृतया न हो, उसका ध्वनिकारों ने उपर्युक्त वस्तु ध्वनि में समावेश कर दिया है। निष्कर्ष यह है कि ध्वनि-कारों ने काव्य में सर्वत्र ध्वनि की व्यापकता सिद्ध कर दी है। उनके विषय प्रतिगदन से स्पष्ट है कि काव्य का न्यूनाधिक महत्व व्यङ्ग्यार्थ के न्यूनाधिक्य पर ही उनको स्वीकृत है। यहाँ यह बात भा॒ ध्यान देने योग्य है कि यों तो प्रायः प्रत्येक वाक्य में किसी न किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ निकल सकता है, किन्तु सर्वत्र ध्वनि-काव्य नहीं कहा जा सकता, अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है—

‘तेन सर्वत्रापि न ध्वननसद्वावेऽपि तथा व्यवहारः’ ।

—ध्वन्या० लोचन पृ० २८

किन्तु जिस व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार हृदयग्राही हो वही ध्वनि-काव्य कहा जा सकता है। व्यंग्यार्थ का अनुभव व्याकरणादि शास्त्रों के ज्ञान मात्र से नहीं हो सकता किन्तु उसका आनन्दानुभव काव्य-मर्मज्ञ सदृश्य जन ही कर सकते हैं *। ध्वनिकारों ने सर्व प्रथम ध्वनि के उदाहरण में श्री मद्भाल्मीकीय रामायण के—

‘मां निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतोः समाः ।

यत् कौञ्चित्थुनादेकमवधीः काममोहितम्’ ॥

इस पद्य का निर्वाचन किया है। और इसमें जो व्यंग्यात्मक करण रस है, उसी को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है—

छ देखो ध्वन्यालोक कार्तिक १।७ पृ० २० ।

‘काव्यस्मात्मा स एवार्थस्तथा चादिक्रवेः पुरा ।
क्रैश्चद्विवियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः’ ॥

—ध्वन्या० १५

इस श्लोक का—‘शोकः श्लोकत्वमागतः’ यह अंश महाकवि कालिदास के—
‘श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः’ । (खुवंश १४७०) इस वाक्य का संक्षिप्त रूप है । विदित होता है कि इस वाक्य द्वारा महाकवि कालिदास ने ध्वनि सिद्धान्त का मार्ग पहिले ही प्रदर्शित कर दिया था ।

रस के अतिरिक्त ध्वनि के भेदों में उपर्युक्त वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि का भी अन्ततोगत्वा रस में ही पर्यवसान है ४४ । यही क्यों श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने स्पष्ट कह दिया है कि श्रेष्ठ कवियों को रस से असंच्छ द कविता की रचना ही शोभा-प्रद नहीं † कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वनिकारों ने ध्वनि-सिद्धान्त में रस को ही मुख्य स्वीकार किया है । ध्वनि सिद्धान्त का मूल-तत्व यद्यपि अधिकांश में रस पर अवलाभ्यत है किन्तु ध्वनि-सिद्धान्त का रस-सिद्धान्त में समावेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि ध्वनि का विषय केवल रस ही नहीं किन्तु वस्तु और अलङ्कार ध्वनि भी है, जैसा कि ऊपर के विवेचन द्वारा स्पष्ट है ।

यद्यपि यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब ध्वनिकारों ने काव्य का आत्मा ध्वनि को बताया है, तो किर उन्होंने—

‘प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंगस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तचित्रमभिधीयते’ ।

—ध्वन्यालोक ३१४२

इस कारिका में ध्वनि और गुणीभूतव्य ड्रव्य के अतिरिक्त चित्र अर्थात् वाच्यार्थ रूप अलङ्कारों का एक तीसरा भेद क्यों स्वीकार किया ? इसका समाधान यह है कि

* देखो ध्वन्या० पृ० २७ ।

† देखो ध्वन्या० पृ० २२१ ।

ध्वनिकारों को ध्वन्यात्मक काव्य के लिये ही मुख्यतया 'काव्यत्व का व्यवहार अभीष्ट है। उपर्युक्त कारिका की वृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि वाच्यार्थ रूप अलङ्कारात्मक रचना का काव्य मुख्य नहीं। ध्वनिकारों का कहना है कि—

'रसभावादिविषयविवक्षा विरहे' सति ।

अलङ्कारनिवन्धो यः स चित्रविषयो मतः?

ध्वन्यालोक पृ० २२३

अर्थात् अलङ्कारात्मक रचना में भी रस आदि वशङ्गव्ययार्थ की स्थिति रहती है किन्तु ऐसी रचना में कवि का उद्देश्य रस आदि व्यञ्जन्यार्थ के चमत्कार पर नहीं रहता किन्तु वाच्यार्थ के अलङ्कारों का चमत्कार प्रदर्शित करना ही कवि को अभीष्ट होता है। अतएव अलङ्कारात्मक रचना में नीरसता केवल कल्पना मात्र है।

ध्वनि सिद्धान्त और आचार्य ममट

ध्वनिकार के स्वाकृत सभी सिद्धान्तों को उनके परवर्ती प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने मान्य किया है। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक सुप्रसिद्ध ध्वनिकार और आनन्दवर्धनाचार्य के बाद ध्वनिसम्प्रदाय के प्रबान प्रतिनिधि श्री अभिनव-गुप्तपादाचार्य, आचार्य ममट, हेमचंद्र, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ उल्लेखनीय हैं। इनमें भी मुख्यतया आचार्य ममट का स्थान सर्वोच्च है। यद्यपि ममट का ध्वनि-विषयक विवेचन ध्वन्यालोक और उसकी व्याख्या लोचन पर अवलम्बित अवश्य है, किन्तु काव्यप्रकाश की गवेषणा-पूर्ण विवेचन शैली ऐसी महत्वपूर्ण है, जो ध्वन्यालोक से भी किसी अंश में अधिक उपयोगी कही जा सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त पर किये गये आचेपों का यदि काव्यप्रकाश में अकाव्य और प्रामाणिक युक्तियों द्वारा पर्याप्त खण्डन न किया जाता तो संभव था कि बाद के सुप्रसिद्ध साहित्याचार्य ध्वनि-सिद्धान्त से ऐसे प्रभावान्वित न हों।

संस्कृत साहित्य का इतिहास

सकते, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि वाद के आचार्यों के ग्रन्थों में काव्य-प्रकाश का ही अनुसरण प्रायः दृष्टिगत होता है।

ध्वनि सिद्धान्त के विरोधियों का खण्डन

प्रायः विषय-विशेष के नवीन सिद्धान्तों के आविष्कार तो होते ही रहते हैं, पर वे कहाँ तक उपयुक्त और दृढ़-मूल हैं, इसका निर्णय तभी हो सकता है, जब वे परीक्षा की कसीटी पर कसे जाते हैं। कहा है—

‘हेमः संलद्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा ।’

अतएव ध्वनि - सिद्धान्त भी यदि परीक्षोत्तीर्ण न हुआ होता तो उसे एतादृश सर्व-मान्य प्रतिष्ठा कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। ध्वनिसिद्धान्त का इसके कड़र विरोधियों के साथ और संवर्षण ही केवल नहीं हुआ, किन्तु विरोधी विद्वानों द्वारा इसका सर्वथा मूलोच्छेद करने के लिये इस पर बहुत से प्रखर कुठाराधात भी किये गये थे। जैसा कि विमर्शनीकार जयरथ ने—

“तात्पर्यशक्तिरभिघातक्षणानुमिती द्विधा ।

अर्थोपात्तिः क्वचित्तत्र समासोत्तक्यायलंकृतिः ॥

रसस्य कार्यता भोगो व्यापारन्तरवाधनम् ।

द्वदशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः” ॥

— अलङ्कारसर्वस्व विमर्शनी टीका पृ० ९

यह उद्धरण देकर बताया है। प्रथम तो भट्ट नायक ने—उसी भट्ट नायक ने जिसका मत—

‘विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।’

इस भरत सूत्र के चार व्याख्याकारों की तीसरी संख्या में काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है—हृदयदर्पण ग्रन्थ में रस विषयक अपने मत के प्रतिपादन में ध्वनि-सिद्धान्त को विधंश करने की चेत्रा की है। यद्यपि हृदयदर्पण अप्राप्य है किन्तु ध्वन्यालोक पर श्री अभिनवगुप्तगादाचार्य को लोचन व्याख्या में और हेम-

चन्द्र के काव्यानुशासन १ एवं अलङ्कारसर्वस्व पर जयरथ कृत विमर्शनी २ में भट्ट नायक के ध्वनि-विरोधी बहुत से उद्धरण हृदय-दर्पण से उद्भृत करके उनका खण्डन किया गया है जिनके द्वारा विदित होता है कि भट्ट नायक ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपक्षी था। भट्ट नायक ने रस-ध्वनि स्वीकार की है और वस्तु-ध्वनि का खण्डन किया है, लोचनकार श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने लिखा है—

‘किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुप्राह रुःसमर्थ्यत इति सुष्टु-
तरां ध्वनिधर्वं सोयम्।’

— ध्वन्यालोक लोचन पृ० २०

इस वाक्य के बाद लोचनकार ने भट्ट नायक पर मृदु-कटाक्ष करते हुए लिखा है—

‘क्रोधोऽपि देवस्य वरेण्युल्यः।’

— लोचन पृ० २०

भट्ट नायक के इस मत की श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य और मम्मट ३ आदि ने सयुक्तिक आलोचना करके उसके मत को निःसार प्रमाणित कर दिया है।

भट्ट नायक के बाद उद्धटाचार्य के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की व्याख्या में प्रतिहारेन्दुराज ने भी ध्वनि को अलङ्कारों के अन्तर्गत बता कर ध्वनि-सिद्धान्त पर आक्षेप किया है ४। फिर राजानक कुन्तल ने तो वक्रोक्ति-जीवित में अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादन में ध्वनि-सिद्धान्त को ग्रस लेने की पूर्णतः चेष्टा की है। जयरथ ने कुन्तल के मत ५ के निष्कर्ष में कहा है—

१ देखिये काव्यानुशासन पृ० ६४-६६

२ देखिये अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शनी पृ० ९-१२

३ मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चमोळास में ध्वनि—व्यञ्जना का प्रतिपादन करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त के सभी विरोधियों के मत का खण्डन किया है किन्तु नामोल्लेख किसी का भी नहीं है।

४ देखिये काव्यालङ्कारसंग्रह भंडारकर पूना संस्करण पृ० ८४-९२

५ कुन्तक के मत पर अधिक विवेचन आगे वक्रोक्ति सम्प्रदायके अन्तर्गत

संस्कृत साहित्य का इतिहास

‘उपचारवक्रतादीनामेव मध्ये ध्वनिरन्तर्भूतः सर्वोऽपि ध्वनिप्रपञ्चा
वक्रोक्तिभिरेव स्वीकृतः ।’

—अलङ्कारसर्वस्व विमर्शनी पृ० ८

कुन्तक के बाद व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट ने अपने अनुमान सिद्धान्त में
ही इसे समावेशित करने का दुःसाहस यहाँ तक किया है कि उसने भी व्यक्ति-
विवेक नामक ग्रन्थ ही ध्वनि सिद्धान्त के विरुद्ध लिख डाला है। और उसमें
उसने यह प्रतिज्ञा की है—

‘अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वरूपैव ध्वनेःप्रकाशयितुम् ।

✓ व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमापरां वाचम् ॥

महिम भट्ट का मत यह है कि ध्वनि-सिद्धान्त का शिला-भवन जिस व्यञ्जना के
मूलाधार पर निर्माण किया है, यह व्यञ्जना कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, किन्तु
पूर्व-सिद्ध ‘अनुमान’ ही है। अनुमान में साधन * से साध्य का † अनुमान
किया जाता है। जैसे पर्वत पर धूँआ होने पर वहाँ आग का अनुमान किया
जाता है। उसमें पर्वत पर आग होना सिद्ध करने में धूँआ ही साधन है अर्थात्
कारण है। क्योंकि जहाँ धूँआ होता है, वहाँ आग अवश्य होता है। महिम भट्ट
कहता है कि इसी प्रकार जिसे ‘व्यञ्जन’ कहा जाता है (जिसके द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ
की प्रतीति होना चाहाया जाता है) वह उसी प्रकार, व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का
कारण है, जिस प्रकार ‘धूँआ’ आग के अनुमान का कारण है। और जिसे

किया गया है।

* साधन कहते हैं हेतु (या लिङ्गन) को अर्थात् जिसके द्वारा अनुमान
सिद्ध होता है।

† साध्य (या लिङ्ग) उसे कहते हैं, जो अनुमान के ज्ञान का विषय हो
अर्थात् जिसका अनुमान किया जाय!

‘व्यङ्ग्यार्थ’ कहा जाता है, वह उसी प्रकार अनुमान का विषय है, जिस प्रकार आगि। वस इसी युक्ति के आवार पर महिम भट्ट ने ध्वनिकार द्वारा प्रदर्शित ध्वनि के अनेक उदाहरणों में ‘अनुमान’ प्रतिपादन किया है। एक उदाहरण देखिये—

‘भ्रम धार्मिक विश्रब्दः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीकच्छनिकुञ्चवासिना दृप्तसिंहेन’ ॥

एक कुलया ल्ली का गोदावरी तट पर एकान्त कुज्ज में संकेत स्थान था। वहाँ एक धार्मिक पुरुष पुष्प लेने को आया करता था। उसके वहाँ आने से कुलया के संकेत में विघ्न होने के कारण, वह उस धार्मिक को तंग करने के लिये एक कुत्ता उसके पीछे लगा दिया करती थी, पर फिर भी उस धार्मिक व्यक्ति ने वहाँ आना न छोड़ा, तब उस कुलया ल्ली ने उसको एक दिन उपर्युक्त पद्य में यह कहा है कि—‘हे धार्मिक, तू अब निर्भय हो कर यहाँ भ्रमण कर; क्योंकि जो कुत्ता तुझे तंग किया करता था, उस कुत्ते को आज गोदावरी तट के निकुञ्ज में रहने वाले सिंह ने मार डाला है’। इस पद्य के इस वाच्यार्थ में यदि सिंह द्वारा कुत्ते का मारा जाना बता कर उस कुलया ने उस व्यक्ति को वहाँ पर निर्भय भ्रमण करने को कहा है। किन्तु इस पद्य के वाच्यार्थ से जो ध्वनि निकलती है उसके द्वारा उस धार्मिक को वहाँ भ्रमण करने का निषेध है। क्यों कि कुत्ते से डरने वाले उस धार्मिक को वह कुलया वहाँ सिंह का होना कह रही है। इसलिये ध्वनिकार ने इस पद्य को अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि के उदाहरण में लिखा है। महिम भट्ट कहता है कि यहाँ जिस वाच्यार्थ में धार्मिक को वहाँ निःशङ्का भ्रमण करने को कहा गया है, वही (वाच्यार्थ) वहाँ पर उस धार्मिक को भ्रमण न करने को कहने का ‘हेतु’ है। अर्थात् जिस ‘भ्रमण’ के निषेध को यहाँ व्यङ्ग्यार्थ कहा गया है, वह व्यञ्जना का व्यापार व्यङ्ग्यार्थ नहीं, किन्तु अनुमेय है अर्थात् उसका (भ्रमण के निषेध का) यहाँ व्याच्यार्थ द्वारा अनुमान हो जाता है। जिस प्रकार पर्वत पर अग्नि का अनुमान करने का वहाँ

धूंआ होना कारण है, उसी प्रकार यहाँ धार्मिक को भ्रमण के निषेच करने के अनुमान करने का वहाँ सिंह का होना कारण है। यह तो हुई महिम भट्ट की दलील। अब आचार्य मम्मट ने ऐसी दलीलों के खण्डन में जो सारांभित युक्तियाँ दी हैं, वह भी देखिये, आचार्य मम्मट कहते हैं कि इस पद्म में—‘भ्रमण के निषेच’ रूप अनुमान का हेतु जो वहाँ सिंह का होना बतलाया जाता है वह हेतु अनैकान्तिक है—व्यभिचारी है, किन्तु अनुमान का हेतु निश्चयात्मक होता है। जैसे पर्वत पर धूंआ का होना जो हेतु है, वह निश्चयात्मक है, क्योंकि वहाँ निश्चित रूप में धूंआ होगा वहीं अग्नि होगी। किन्तु ‘कुलद्य स्त्री द्वारा उस स्थान पर सिंह का होना बताया जाना’ यह हेतु उस धार्मिक मनुष्य के वहाँ भ्रमण न करने का निश्चयात्मक हेतु नहीं, क्योंकि गुरु या स्वामी की आज्ञा से या अपने प्रेमी के अनुराग से अथवा ऐसे ही अन्य किसी विशेष कारण से डरपोक मनुष्य भी भयवाले स्थान पर जा सकता है। अतएव यह हेतु नहीं, किन्तु हेतु का आभास है। इसके सिवा धार्मिक और वीर मनुष्य स्पर्शभय से कुत्ते से डरता हुआ भी वीरत्व के कारण सिंह से नहीं डरता है अतः यहाँ विरुद्ध हेतु भी है। फिर वहाँ पर सिंह होने का कोई दृढ़ प्रमाण भी नहीं—उसे बतलाने वाली एक कुलद्य स्त्री है, जिसका वाक्य (सत्यवादी ऋषियों का वाक्य) नहीं—वह अपने एकान्त-स्थल में विनान होने के लिये भूठें भी सिंह का वहाँ होना कह सकती है (जैसा कि उसने कहा है) अतः सिंह वहाँ पर है या नहीं? यह भी अनिश्चित है अतएव यह हेतु असिद्ध है और जब हेतु ही असिद्ध है, तब ऐसी अवस्था में अनुमान का यहाँ सिद्ध होना सर्वथा असंभव है। इसी प्रकार मम्मट ने महिम भट्ट के आक्षेपों का समुचित खण्डन करके यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि ‘व्यडग्यार्थ’ अनुमान का विषय किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु वह (व्यडग्यार्थ) व्यज्ञना शक्ति का व्यापार है।

निष्कर्ष यह है कि ध्वनि-सिद्धान्त इन आक्षेपों से अपने सर्वोच्च स्थान से कुछ भी विचलित नहीं हो सका, प्रत्युत इसके प्रमाण से विरोधी विद्वानों के मत

नाम मात्र शेष रह गये। और कुन्तक और महिम भट्ट की सूचक (अलं० स० पृ० ८, १० त्रिवेन्द्रम) और विश्वनाथ (साहित्यदर्पण प्रथम और पंचम परिच्छेद में) जैसे काव्यमर्मज्ञों ने बड़ी तीव्र आलोचना की। अतएव सिद्ध होता है कि ध्वनि-सिद्धान्त प्रखर आलोचनाओं के आधारों से किञ्चित् मात्र भी विचलित न होकर साहित्य-संसार में अद्यावधि सर्वोच्च महान् स्थान पर स्थित हो रहा है।

यद्यपि कालक्रम के अनुसार वक्रोक्ति सम्प्रदाय के पथम ध्वनि सम्प्रदाय विवेचनीय है। किन्तु वक्रोक्ति सम्प्रदाय का अस्तित्व न रहने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय का सिद्धान्त रूप में सबके बाद विवेचन किया जाना ही उपयुक्त है।

काव्य-दोष

काव्य का दोष-रहित होना परमावश्यक है। इसीलिये अधिकांश आचार्यों ने काव्य के लक्षण में ही 'दोष-रहित' होना कहा है, जैसा कि 'काव्य का लक्षण' निवन्ध में पहिले उद्धृत किये गये काव्य लक्षणों द्वारा स्पष्ट है। अब यह विवेचनीय है कि काव्य में सामान्यतया 'दोष' किसको कहते हैं। अग्रिपुराण में तो केवल यही कहा गया है—'उद्वेगजनको दोषः।'—दोष उद्वेग-जनक है। किन्तु इसके द्वारा यह स्पष्ट नहीं होता है कि उद्वेग-जनक दोष का सामान्य स्वरूप क्या है। इस विषय में आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों के उपलब्ध ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगत नहीं होता। संभवतः आचार्य मम्मट ने ही प्रथम दोष का सामान्य लक्षण देना आवश्यक समझा, क्योंकि सामान्य को जाने बिना विशेष के जानने की इच्छा नहीं होती है। अतएव मम्मट ने—

दोष का सामान्य लक्षण

‘मुख्यार्थहतिदोषो ।’ (काव्यप्रकाश उल्लास ७०।४६) यह लिखा है। अर्थात् मुख्य अर्थ का जिससे अपकर्ष हो उसे दोष कहते हैं। उद्देश्य की प्रतीति का विवातक होना ही मुख्यार्थ का अपकर्ष है—

उद्देश्यप्रतीतिविवातको दोषः ।

कान्यप्र० वामनाचार्य व्याख्या पृ० ३२०

अर्थात् जिस काव्य में जो उद्देश्य हो उसकी प्रतीति में रुक्षावट होना। वस दोष का सामान्य लक्षण यही है *।

दोषों की संख्या

दोषों की संख्या के विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। नाथ-साम्राज्य में भरतमुनि ने १० काव्य-दोष लिखे हैं। अग्निपुराण में मुख्य तीन दोष और उनके कुछ उपभेद निरूपण किये गये हैं। भामह ने ११ और दण्डी ने १० दोषों का उल्लेख किया है। वामन ने दोषों का निरूपण कुछ अधिक किया है जिसको मम्मटाचार्य ने भी स्वीकार किया है। मम्मट ने दोषों पर बहुत गम्भीरता पूर्वक विचार किया है—काव्यप्रकाश के सबसे बड़े भाग सप्तमोल्लास में दोषों का ही विस्तृत विवेचन किया गया है, जिसमें कालिदास आदि सुप्रसिद्ध अनेक महाकवियों के पद दोषों के उदाहरणों में उद्धृत किये गये हैं। विश्वनाथ ने भी साहित्यर्दर्पण में अधिक विवेचन किया है किन्तु वह काव्यप्रकाश पर ही अवलम्बित है। अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में भी न्यूनाधिक दोष विषयक निरूपण प्रायः काव्यप्रकाश के आधार पर ही किया गया है। ध्वन्यालोक में रस विषयक

* इस विषय पर अधिक विवेचन पहले ‘काव्य का लक्षण’ निबन्ध में काव्यप्रकाशोक्त ‘काव्य लक्षण’ के अन्तर्गत किया गया है।

दोषों के निरूपण में 'दोष' शब्द के स्थान पर 'अनौचित्य' शब्द का भी प्रयोग करते हुए कहा है—

'अनौचित्याद्वृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यवन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥'

—ध्वन्यालोक पृ० १४५

ध्वन्यालोक का अनुसरण करते हुए महाकवि क्षेमेन्द्र ने इसी विषय पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ 'ओचित्यविचारचर्चा' लिखा है। क्षेमेन्द्र ने भी इस विषय पर बहुत मार्मिकता से विवेचन किया है। यों तो काव्यप्रकाशकार ने भी दोष विषयक आलोचना सर्वथा निष्पत्ता से की है किन्तु क्षेमेन्द्र स्वयं महाकवि भी था इसने अपनी कृति के उदाहरण जिस प्रकार ओचित्य के उदाहरणों में दिखाये हैं उसी प्रकार अनौचित्य के उदाहरणों में भी दिखा कर इसके द्वारा अपने को निष्पत्त करना असम्भव नहीं तो दुष्कर तो अवश्य ही है।

—❀❀—

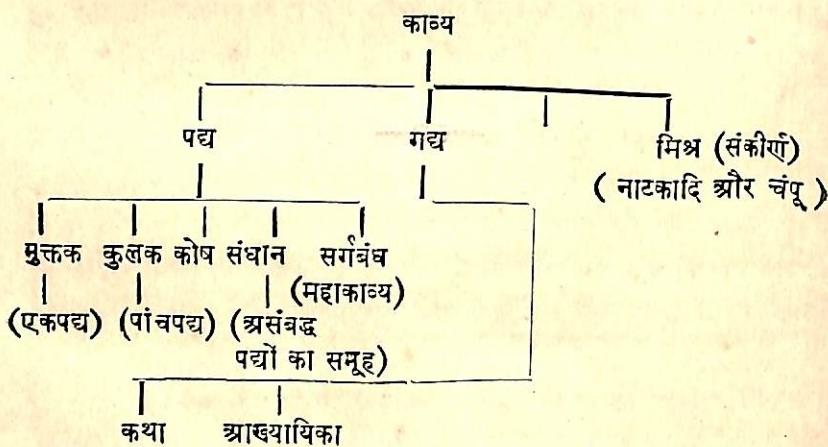
काव्य के विभाग

काव्य का वर्गीकरण साहित्य ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से किया गया है। अग्निपुराण में काव्य के शब्द, अभिनेय (दृश्य) और प्रकीर्ण यह तीन भेद बताये गये हैं—

‘श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः’

—३३७।३८

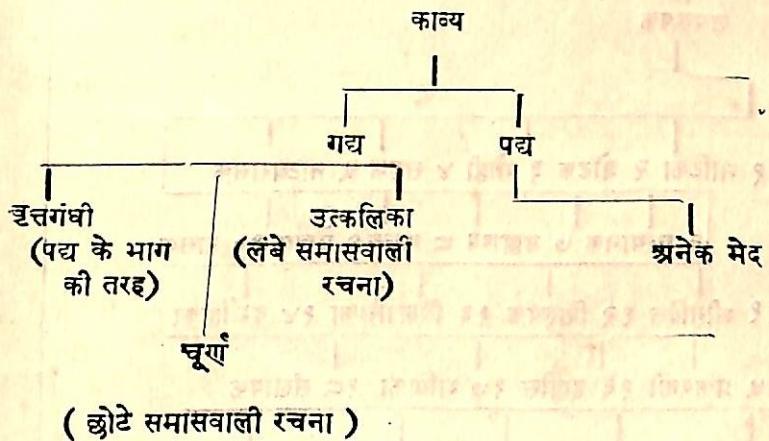
भामह ने काव्य को गद्य और पद्य दो भागों में विभक्त करके फिर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश यह तीन भेद बताये हैं, फिर वह देवचरित, उत्पाद्य वस्तु कलाश्रय और शास्त्राश्रय यह चार भेद और इनके सर्गवन्ध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (नाट्य), आख्यायिका, कथा और अनिवद्ध यह पांच भेद बताता है (का० लं० ११६-१८) और इसके बाद काव्य के इन विभागों की स्पष्टता करता है (का० लं० १६-३०) और दण्डी ने (का० द० १११) अग्निपुराण के मतानुसार गद्य, पद्य और मिथि यह तीन भेद बता कर फिर इन भेदों को—



काव्य के विभाग

इस प्रकार विभक्त किया है। उसके बाद वह काव्य को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र भाषाओं में विभक्त करता है।

दण्डी के बाद वामन ने (काव्यालङ्कार सूत्र १३।२१।२६) काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

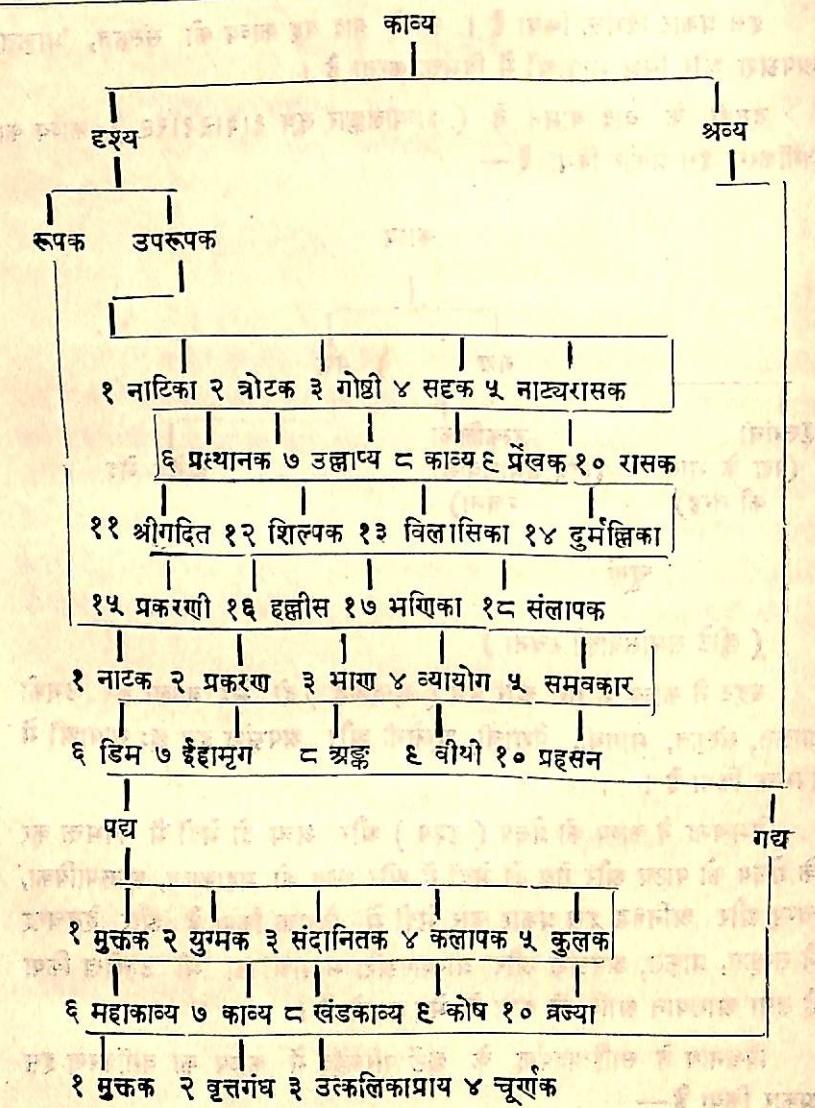


रुद्रट ने काव्य के गद्य और पद्य (छन्दोवद्ध) दो मेद बतला कर उनको प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शूरसेनी और अपभ्रंश इन छः भाषाओं में विभक्त किया है।

हेमचन्द्र ने काव्य को प्रेद्य (दृश्य) और श्रव्य दो मेदों में विभक्त कर के प्रेद्य को पाठ्य और गेय दो मेदों में और श्रव्य को महाकाव्य, आख्यायिका, चम्पू और अनिवद्ध इस प्रकार चार मेदों में विभक्त किया है और हेमचन्द्र ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्यापभ्रंश भाषाओं का भी उल्लेख किया है तथा आख्यान आदि को कथा के मेद बताये हैं।

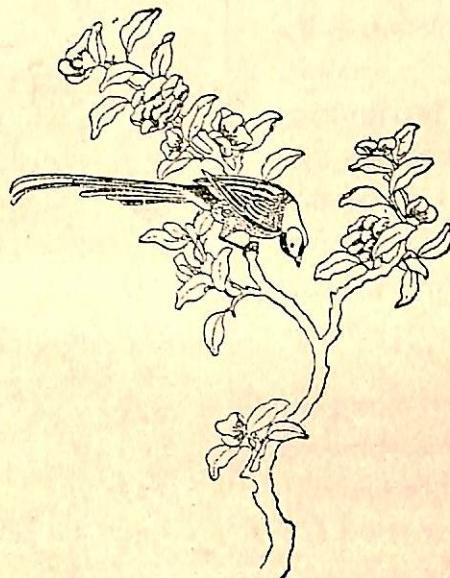
विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

संस्कृत साहित्य का इतिहास



काव्य के विभाग

काव्य के इन भेदों के आचार्यों ने लक्षण और किसी-किसी ने उदाहरण भी दिखा कर स्पष्टता की है। यहां ग्रन्थ-गौरव भय से केवल नाम मात्र का उल्लेख किया गया है।



पद्यानुक्रमणिका

अ

	भाग	पृष्ठ
अक्षरं परमं ब्रह्म	२	६८
अङ्गीकरोति यः काव्यं	१,	१८५,
	२	२८
अजामेकांलोहित	१	४
अतिकांत सुखाःकालाः	,,	४२
अत्रापि, बहुवक्तव्यं	,,	८१
अथ तं स्मारयमास	,,	१७
अद्यया ममगोविंद	,,	६२,
	८४	
	२	६६
अध्यापनमध्ययनं	१	१३५
अनुग्रहाय लोकानां	,,	१३१
अनुप्रासः सयमको	,,	७६
अनुमानेऽन्तरभावं	२	१४८
अनुरागवती संध्या	१	१०८
अनेना सावाद्यः	,,	१८५
अनौचित्यादते नान्यत्	२	१५३
अपारे काव्य संसारे	१,	६८,
	२	१६
अपार्थ व्यर्थमेकार्थम्	१	८४
अपिचायंपुरा गीतः	१	१४

	भाग	पृष्ठ
अभिवेयेन सारूप्या	१	७०
असुं कुवलयानंदः	१	२०२
अयमुते समर्तासि	१	५
अयं मन्दद्युतिभास्वान्	१	६२
अयं स रसनोल्कर्षी	१	४२
अयुक्तिमद्यथा	१	९१
अर्थमनर्थोपशमं	२	५
अर्थः सहृदयश्लाघ्यः	१	१६२
अर्थान्तर गतिःकाक्षा	१	१२५
अर्थालङ्कार रहिता	२	७८
अलङ्कारमलङ्कारो	२	८९
अलङ्कारान्तरा	२	७७,
		१२६
अलङ्कृतमपि प्रीत्यै	२	१०७
अलङ्कृतमपि श्रव्यं	२	१०८
अलमर्थमलङ्कुरु	२	७५
अलं स्थित्वा श्मसाने	१	४२
अल्लावदीन वृपतौ	१	१६४
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च	१	६१
अविरोधी विरोधी	१	१२४
अवोध्यग्निः समिधा	१	५

संस्कृत साहित्य का इतिहास

	भाग	पृष्ठ
अव्युत्पचिकृतो दोषः	१	१२३
अष्टावेव रसा नाष्ट्ये	२	७२
अस्ति चेद्रस निष्ठिः	२	४०
अस्त्यनेको गिरां	१	८७
अस्मिन्तु मानुषेलोके	१	४५

आ

आक्षेपोऽर्थान्तर	१	७६,
		८४
आचार्य शेखरमणे	१	१४१,
		१५५
आटोपेन पटीयसां	१	१७३
आत्मानं रथिनं	१	५
आत्मोपदेश सिद्धं	१	२२
आनन्दः सहजस्तस्य	२	६८
आनन्दामधीम्यां	२	७१
आनोवर्हीरिशा	१	५
आहादकल्पं माधुर्ये	२	११४
आ समाप्ति जिगीषस्य	१	१७६

इ

इति नवतितमेऽस्मिन्	१	१४१
इति निगदिता	१	८१
इतिहासोचमादस्मा	१	४२
इत्थं भूमां रचक	१	१७३
इत्याद्यशेषमिह	१	६
इत्याह युक्तं विदुरो	२	६६

	भाग	पृष्ठ
इत्येष मार्गो	१	१६७
इत्यौत्सुक्यादपरि	१	६१
इदमुच्चममतिशायिनि	२	२७
इयं गेहे लक्ष्मी	१	१०८

उ

उक्तं तर्दाभनेया	१	७६
उद्धृत्योद्धृत्य सारं	१	३४
उपकुर्वन्ति तं सन्तं	१	६४
	२	८६
उपमानेनोपमेयस्य	१	८३
उपमायावृधैरेते	१	२२
उभावेतावलङ्कार्याँ	१	१४३
उमौ यदि व्योम्नि	१	१०९
उवाच स महातेजा	१	४१

ऋ

ऋग्वेदंभगवोऽव्येमि	१	३६
	ए	

एको रसः करुण एव	२	६५
एकं शत सहस्रं तु	१	४५
एकाकिनी यदवला	१	११३
एवं चतुष्पदी तच्च	१	५५

क

कटुकौषधवच्छात्रं	२	६
कदली कदली	१	१८६
कदाचिन्मंखकोपज्ञं	१	१७४

	भाग	पृष्ठ
कन्या हरण संग्राम	१	८४
कवयति पंडितराजे	„	२०३
कवित्वं दुर्लभं तत्र	२	१४
कवि व्यापार वक्रत्वं	२	१३२
कर्वरभिप्राय	१	७९
क्वचिद्गुदन्त्यच्युत	२	७०
क्लीवानां धार्ष्टय जननं	२	५
कामं सर्वोप्यलङ्कारो	२	१६,
		८०
कारणान्यथ कार्याणि	२	४१
काव्यमिर्द विहित	१	७६
काव्यंतु जायते जातु	२	११
काव्यं यशसे अर्थकृते	२	६
काव्य शोभाकरान्यमान्	२	७६
काव्यस्यात्मा ध्वनिः	२	१३५
काव्यस्य नाटकादेश्च	१	६४
काव्यस्यात्मा स एवार्थः	२	१४४
काव्याख्येऽविल सौख्य	१	१२०
काव्यान्यपि यदीमानि	१	७४
कि गौरि मा प्रति	१	११३
किंतु बीज विकल्पानां	१	८५
क्षीणः क्षीणोऽपिशशी	१	१७८
ग		
गतोऽस्तमकोंभातीन्दु	१	८४,
		८६
गच्छ पद्म भयी चंपू	१	६६

	भाग	पृष्ठ
गिरामलङ्कार विधिः	१	६५
गौडीयमिदमेचतु	„	८६
ग्राम्यानुप्राप्तमन्यत्तु	„	७६
च		
चक्रं दहतारं	१	११३
चतुर्वर्गफलास्वाद्	२	८
चतुर्विंशति साहस्रीं	१	४८
चंद्रालोकमसुं	१	१८८
चित्र द्रवींभावमयो	२	११८
चौहाण कुल मौलिभा	१	१३४
ज		
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्	१	४
जातयो दूषणा भासा	१	९०
जातिक्रियाणगुद्रव्य	१	६३
जाते जगति वात्मीकौ	१	६३
जानुदध्नी सरिन्नारी	१	६२
त		
त एत उपमादोषाः	१	७९
तत्कथाख्यायिकेत्येका	१	८५
तत्कारित सुरसच न	२	६
ततो ये तण्डुना प्रोक्ता	१	२६
ततस्तंडुं समाहूय	१	२६
ततः कथंचित् सागौरी	१	१०१
ततः संस्मारितो रामः	१	१७
तत्त्वायामि ब्रह्मणा	१	६

संस्कृत साहित्य का इतिहास

	भाग	पृष्ठ		भाग	पृष्ठ
तदत्परमपिनोपेक्ष्यं	२	१६	दिवमण्युपयातानां	१	३
तदस्ततंद्रैरनिशं	२	१२	दिशिमन्दायतेजो	२	१४२
तदोषौ सगुणौ	२	२२	दीपत्यात्मविस्मृतेर्हेतु	२	११५
तद्विष्णोः परमं पदम्	१	५	दुःखार्तानां श्रमार्तानां	२	४
तमर्थमवलंबते	१	१६४	दूषणन्यूनताद्युक्ति	१	८६
तं श्री रुद्यकमालोक्य	१	१७३	दूषणामाषस्तु	१	६०
तत्राक्षिभ्रुविकाराः	१	३३	दूषणानि न्यूनता	१	८९
तस्माच्चक्तव्यं	२	८१	देवो यस्य महेद्रपाल	१	१३७
तस्य प्रसादः सौभाग्यं	१	६१	दोषं व्यक्तिविवेकेषु	१	१६७
तस्य श्रीमदनंतं	१	१५६	चामालिलिङ्गं	१	१७४
तस्याः कला परिच्छेदे	१	६६	द्वा सुपर्णसयुजा	१	६
तस्या सार निराशात्	२	१२	दृष्ट पूर्वाह्यपि ह्यर्थाः	१	८८
तालाजाभन्तिगुणा	१	१२४	दृष्टद्राविड़ दुर्ग्रह	१	२०७
तात्पर्यशक्तिरमिथा	२	१४६	दृष्टं वा सर्वं सारूप्यं	१	७६
ताडङ्कवल्लभः	१	१३६	ध		
तैस्तैरलङ्कृतिशतै	२	४०	धन्यासिवैदर्भि	१	१६४
त्वं विश्वस्यमेघिरे	१	६	धर्मार्थकाममोक्षाणां	२	५
त्वामस्मि वच्चिविदुषा	२	३५	धर्मेचार्थे च कामे च	१	४०
तयोग्रयस्तयोवेदा	१	८५	धर्मेऽधर्मप्रवृत्तानां	२	५
त्रिपुरवधादेव	१	११६	धर्म्य यशस्यमायुष्यं	२	५
त्रिरूपालिङ्गतोज्ञान	१	८९	ध्वनिनातिगंभीरेण	१	११८,
त्र्यम्बकंयथामहे	१	४			१२३
द			ध्वनेरित्यं गुणीभूतं	२	८२
दासेक्तागसि	१	१६४	न		
दिगन्तेश्रूयन्ते	१	२०४	न कान्तमपि निर्भूतं	२	१८
			नमस्कृत्य परां वाचं	१	१७२

पद्मानुक्रमणिका

	भाग	पृष्ठ		भाग	पृष्ठ
न विद्यते यद्यपि	२	१२	प्रधान गुणभावाभ्यां	२	१४४
न शशाक वशो करुं	१	५१	प्रयोगा कारिका	१	३४
न स शब्दो न तद्वाक्यं	२	१०	प्रसादे वर्तस्व	१	१६८
न स संकुचितः	१	८	प्रहेलिका सा ह्युदिता	१	७६
न हन्तव्या त्रिय इति	"	१३	प्रेयः प्रियतराख्यानं	२	८१
नाटकं द्विपदी शम्या	"	७६	प्रेयो गृहागतं कृष्णं	२	६६
नारदो श्रावदेवान्	"	४५	ब		
नारी नितम्बद्वय	१	९२	बमूववल्मीकभव	१	१३१
निर्दोषं गुणवत्काव्य	२	२२	ब्रह्मानन्दोभवेदेष	२	६८
निर्दोषालक्षणवती	२	२३	भ		
निर्माय नूतनसुदा	१	२०४	भरतानां च वंशोऽयम्	१	२३
निमित्ततो वचोयत्तु	२	१२४	भाविकत्वमिति प्राहुः	१	८४
निषेधो वक्तुमिष्टस्य	१	१६४		२	८०
नीलोत्पलदलश्यामा	१	९७	भू		
न्यक्षारो ह्यमेव	२	२९	भूरिभारभराकान्तः	१	१५४
प			भूभूर्भुर्भुवन	१	१५६
पञ्चविंशतिसंयुक्ते	१	११७	भ्रमधार्मिकविश्रब्धः	२	१४९
पर्यङ्कःस्वास्तरणः	१	११७	म		
पावनीवामनस्येयं	१	१०६	मंखुक निवन्ध वृत्तौ	१	१७५
पिञ्चेपञ्चदशप्रोक्तं	१	४५	मंत्र दूत प्रयाणाजि	१	८४
पूर्वशास्त्राणि संहृत्य	१	६३	मदनगणनास्थाने	१	१७३
प्रकटत्वमभिव्यातिः	१	६७	मदनवैश्वर्यलवेन	१	८
प्रज्ञानवनवोन्मेष	२	१६	मदो जनयति प्रीतिः	१	८३
प्रतापरुददेवस्य	१	१८६	मधुरं रसवद्वाचि	२	७६
प्रतिभाकारणंतस्य	२	१३	मनसि सदा स		
			समाविनि	२	१०

संस्कृत साहित्य का इतिहास ।

	भाग	पृष्ठ		भाग	पृष्ठ
मनोरथः शंखदच्चश्री	१	११०	यमकं नाम कोप्यस्याः	२	१३३
मनोरथाव्ययस्तेषां	१	१००	यः काव्येमहतीं छायां	२	१०६
मन्दमग्निमधुरर्य	१	१७४	यस्य विकाराः प्रभवन	१	११३
महीपतेः सन्ति न यस्य	२	७	यस्मिन्नस्ति न वस्तु	२	१२६
मातङ्ग मानभङ्गरम्	१	८६	यष्टुं विश्वजितायता		
माधुर्यं संविधानं च	१	६०	यात्येकतोऽस्त शिखरे	१	६२
माधुर्यैः प्रसादाख्यः	१	१६०	या निर्वृतिस्तनु भृतां	२	६६
मा निषाद प्रतिष्ठां	१, ७, २८,		यायावरो यजन्तो	१	१३५
	२	३६	या वाक्प्रधानाः	१	२८
मार्जन्त्यधरणां	१	६२	या व्यापारवतीरसान	२	६६
मिथिलास्थः सयोगीन्द्रः	१	१६६	युक्तं लोक स्वभावेन	२	१६,
मृदुललितपदाद्यं	२	१७			७६
मुक्ताकांगः शिवस्वामी	१	१२६	युवतेरिंव रूपमङ्ग	२	१०८
मुनिनामरतेन	१	३४	येनायोजिनवेशम्	१	१००
य			ये रसस्याङ्गिनोधर्माः	२	३२,
यत्किञ्चिदप्यनुरणन्	१	१२०			८५, ११३
यं तस्मै प्रथमं प्रादात्	„	१७	ये व्युत्पत्यादिना	२	७५
यत्र वाणा समरतन्ति	„	६	येषां चन्द्रालोके	१	२००
यत्रार्थः शब्दो वा	२	१३९	यो मार्ग परिधान	१	१३६
यत्रायेन	१	१३६	र		
यथा नराणां वृपतिः	२	६२	रतिदेवादि विषया	२	६६
यदि चोत्कण्ठया	१	६१	रतिर्हासश्च शोकश्च	१	१६३
यदि भवति वचश्चयुतं	२	१०८	रत्नभिच्छिषु संक्रान्तैः	१	६६
यद्विद्वद्वनेतु	१	१७०	रत्नस्तम्भेषु संक्रान्त	१	६६
यदुक्तंत्रिप्रकारत्वं	१	७९	रत्नादिकानां भावानां	२	६६

पद्यानुक्रमणिका

	भाग	पृष्ठ		भाग	पृष्ठ
रवि संक्रान्त सौभाग्य	१	७		वाचांवकार्थ शब्दोक्ति	२ १२४
रस भावस्तदाभास	२	१४१		वाच्यालङ्कार वर्गोऽयं	२ १४३
रसवद्विंशित स्पष्ट	२	७९,		वार्ता विचित्रा शालीन	१ १३५
		८१		वाश्रेय विद्ययन्मि	१ ५
रसवद्रस पेशलम्	२	८१		विद्वान् दीनार लक्षणे	१, १०१,
रसस्य कार्यता भोगो	२	१४६			१०५
रस स्याङ्गित्वमात्स्य	२	११८		विनेयानुमुखी	१ १६१
रसो वै सः रस	२	३९		विभावानुभावास्तत्	२ ४१
राज्ये श्रीमदनन्तराज	१	१५६		वियदलिमिलनाम्बु	२ ५८
राज्ञी कृतज्ञ भावेन	१	१६६		विरुद्धाऽविरुद्धावा	२ ६१
रुचकाचार्यों पश्चे	१	१७२		विरुद्धेनोपमानेन	१ ८२
रूपकादिरलङ्कार	१	७८		विष्णोः सुतेनापि	१ १३८
ल					
लाटीय मनुप्रास	१	७६		विसृजास्मैवधायत्वं	१ १७
लिमदतीव तमोऽङ्गानि	१	६२		विहितधनालंकारं	१ ६
लोकोच्चर चमत्कार	२	१३१		वीराद्भुतादिस	१, १५३
व					
वक्ता व्यौचित्य वशात्	२	३१		वेदिताः सर्व शास्त्राणां	२ १२२
वक्तामिषेय शब्दोक्ति	२	१२४		वैदर्भमन्यदस्तीति	१ ७६
वक्त्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च	२	८३		वैदर्भादिकृतः पन्थाः	२ १०७
वक्त्रोक्तिस्तु भवेद्भज्या	२	१२८		व्यङ्गयस्य यत्राप्राधान्यं	१ ६८
वपुष्य ललिते	२	७८		व्यंजन्ते वस्तु मात्रेण	१ १२६
वाक्यस्यवक्र भावोऽन्यो	२	१३३		व्याख्या गम्यमिदं	१ ७४
वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि	२	१६,		व्यास गिरां निर्यासं	१ ४०
		३६, ७९		श	
				शक्तिर्निपुणता लोक	२ १२

संस्कृत साहित्य का इतिहास

	भाग	पृष्ठ
शतानन्दापराख्येन	१	११३
शन्नोदेवीरभीष्ये	१	६
शब्द तत्वाश्रयाः	१	१२०
शब्दाभिधेये विज्ञाय	२	११
शब्दार्थैसहितौवक्र	२	२२
शस्त्र् सुधामवसुधा	१	१३६
शान्तस्य शमसाध्यत्वात्	२	७१
शास्त्रेशब्द प्रधानत्वं	१,	६३,
	२	१८
शिष्ट प्रयोग मात्रेण	१	८८
शुक्लेन्धनभिवस्त्वच्छ	२	११५
शेषो हिम गिरिस्त्वंच	१	८८
श्लेषः प्रसादः	१	६१
श्लेषः सर्वासु पुण्णाति	१	६०
	२	१२६
श्लेषो लालित्य	१	६१
शृंगार वीरकरुणा	१	१५३
शृंगार हास्य करुणा	२	६२
शृङ्गारी चेत्कविः	१	६८
शृङ्गारी गिरिजानने	१	११७
श्रद्धेयं जगतिमतं	१	६०
श्रीचन्द्रशेखर महाकवि	१	१६३
श्रीमानमप्य दीक्षितः	१	२०३
श्री वीरदत्त इत्येषां	१	१०१
श्रीमद्वाग्भट्टेवोऽपि	१	१८१

	भाग	पृष्ठ
श्रुतेश्लभ्य मानोथाँ	१	६७
	प	
पष्टिशत सहस्राणि	१	४५
	स	
सथाक्षितोऽधनिः	१	६६
संकल्प्य भगवानेवं	१	४
संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थं	२,१	१६,
		६४
स च भोज नरेन्द्रश्च	१	१५३,
		१५६
संख्यानमिति मेधावि	१	७९
समासातिशयोक्ति	१	८०
समाहृत्यान्यतत्राणि	१	५४
सत्यं मनोरमा रामा	१	१६२
समुदायार्थं शून्यं	१	८४
समूर्तो यत्रासीद्	१	२३४
सरस्वतीव कर्णादी	१	६८
सरस्वत्यास्तत्वं	१	१२०
सर्गवन्धो महाकाव्यं	१	८४
सर्वकालं मनुष्येण	१	१४
सर्वथा पदमप्येकं	२	१८
सर्वशास्त्रार्थं सम्पन्नं	१	४
सर्वेवातिशयोक्तिस्तु	२	१२४
साधु शब्दार्थं सन्दर्भं	२	२३

पद्मानुकमणिका

	भाग	पृष्ठ		भाग	पृष्ठ
सापत्युः प्रथमापराध	२	१२८	स्वपक्षलीला	१	१७४
सार्द्धमनोरथ शतैः	१	११७	स्वभावोक्तिरलङ्कार	१	८०
साविद्यानौस्तिती	„	५५	स्वयंकृतैरेव	१	६५
सिंहा इवमानदन्ति	„	५	स्वरूपमथ साहश्य	१	५६
सुखमात्यन्तिकंयचद	२	५४	स्वं स्वं निमिच्चमासाद्य	२	६३
सुवन्धुर्वाण मट्टश्च	२	१२७	स्वादु काव्य रसोन्मिश्र	२	९
सैवा सर्वैव वक्रोक्ति	१	६५,	ह		
		११४	हारादिवदलङ्कारः	२	८८
स्फुटमर्थालङ्कारा	२	७६,	हेतुश्च सूक्ष्मलेशौच	१	६०
		१२४	हेमनः संलक्षयते ह्यमौ	२	१४६

ऐतिहासिक नामानुक्रमणिका

	पृष्ठ		पृष्ठ
अ		अ	
अकालजलद	१३४, १३६	अभिधावृति	२६, ३०, १०५, १२१, १३६, १४२, १८२
अभिपुराण	२७, २८, ५३-७०, ७६, ११०, १५१, १५२, १८० २५२	अभिज्ञान शाकुन्तल	१२१, १३० ८१
अचलपुर या एलिचपुर	१००	अमरकृक	१३२, १६७
अच्चा दीक्षित	२०१	अमरसिंह	५४, ५५
अथर्ववेद	५	अमरकोप	५३, ५४
अद्वैतसिद्धि	२०२	अमोघवर्ष	६६, १३८
अनन्तदास	१६५	अर्थशास्त्र	३६, १३२
अनन्तराज	१४२, १५६	अर्जुन	५१
अपराक्षा (टीका)	१६६	अर्जुनदेव	१६८
अप्यय दीक्षित	१७३, १८४, २६६, २०१, २०५, २०७	अर्जुन च.रत	१२६
अभिनव गुप्त पादाचार्य	३०, ६६ ७८, ८६, १०३, १०५, १०८, ११३, ११५, १२०, १२१ १२७, १३०, १३६, १४०, १४१, १४७, १४८, १५५, १७०, १८०, २१३	अर्थ द्योतनिका	८१
अभिनवभारती (टीका)	२५,	अलक या (अल्लट)	१६८
		अलङ्कार तिलक	१८७
		अलङ्कार कौस्तुभ	१६६
		अलङ्कार शेखर	१३२, १३३, १६६
		अलङ्कार सर्वस्व	६६, १०६, १४४, १४८, १७१, १७२, १८८

ऐतिहासिक नामानुक्रमणिका

	पृष्ठ		पृष्ठ
अलङ्कार रत्नाकर	१६८	इंडियन हिस्ट्री R. G. मजूमदार	४३
अलङ्कारोदाहरण	१६६		४९
अल्लावदीन	१९५	इलियड	४९
अवन्तिसुन्दरी	१३४	इंडिया हाट कैन इट टीच अस्‌ (मैक्स मूलर)	५४, ९९
अवन्तिसुन्दरी कथा	९६, १००,	इंपीय्राफिका इंडिका	७६, १३७,
अवन्तिवर्मा	१०५, १२६, १३०,		
	१३१, १६८.	२०२	
अशोक	१५	इंडिया आफिस कैटलाग	११०
अश्वघोष	७१	इंसाइक्लोपीडिया	१८३
अष्टाध्यायो	७१	इन्दुराज	१०५, १०६
आ		उ	
आगसे	६५	उज्जैनी	१३८
आनन्दपुर	१००	उज्ज्वल नीलमणि	१६५
आनन्ददेव	११७	उत्तररामचरित	३२, ३६
आनन्द वर्धनाचार्य	८, ३१, ३२, ४९, ५३, ६८, ७८, ८८, ९४, १०४, १०६, १२७, १२८, १३२, १३७, १४६, २१३	उद्घट ३९, ७८, ८२, ८३, ८३, ९६, १०१, १०९, ११०, ११२, ११६, १२१, १२६, १३२, १३७, १४०, १५१, १५६, १६१; २१२, २१३	१३८
आनन्दवृन्दावन चंपू	१९६	उद्घट विवेक	१०६
आयुर्वेद	४	उद्घटालंकार वृत्ति	१०६
आश्रमोपनिषद्	१३५	ऊवट	१६६
आसफविलास	२०६	ऋग्वेद	५, ६, ११, ३८
इ		ए	
इंडिया आफिस लाइब्रेरी	२३	एकशिला	१८९
इंडियन एंटिकायरी	२६, ७७, ९५, १००, १६६, १८१		

संस्कृत साहित्य का इतिहास

	पृष्ठ		पृष्ठ
ओ			
मि० ओक	५४	काशिका वृत्ति	११०
मि० ओफेस्ट	११५	काश्मीर रिपोर्ट हूलर ११०, ११५	
मि० ओल्डन वर्ग	४७	कामसूत्र	१६, २०, १३२
औ		काव्यप्रकाश २७, ३०, ३१, ३६,	
औचित्य विचार चर्चा,	१२४,	४२, ६७, ६४, १०३, १०७,	
१३३, १४९, १५५		१४५, १५७, १७७, १८०, १८२,	
औद्धटा:	१३७	१८५, २०३, २०७	
औरंगजेब	२०७	काव्यप्रकाश का विषय	१५७
क		काव्यप्रकाश का लेखक	१६३
कठोपनिषद्	५	काव्यप्रकाश दर्पण	१६३
कपिल रुद्र	७२	काव्य प्रकाशादर्श	२७
कमलाकर भट्ट	१५७, २०२	काव्यादर्श ५५, ५७, ५८, ५९	
कर्पूर मंजरी	१३३, १३४, १३७	काव्यानुशासन	२३, १२५
कर्णपूर गोस्वामी	१९६	काव्यानुशासन (वार्गभट)	१६०
कल्लट	१०५, १३०	काव्यालंकार	६२, ७२, ७३,
कल्हण	१२९, १५४		२१२
कविराज	१३४	काव्यालंकार (रुद्र)	१११
कविराज मार्ग	६६	काव्यालङ्कार सूत्र (वामन)	८२,
कादंबरी	३३, ६६		१०६
कामधेनु टीका	११०	काव्य मीमांसा	१९, १०३, ११३
काणे (p. v. काणे)	२२, २३,	१२६, १३१, १५५	
२४, २९, ३५, ३६, ५३, ५५,		काव्यालंकार सार संग्रह (उद्धट)	
६२, ६४, ६५, ६६, ८३, ६०,		७८, ८२, ८६, ११३, १२४, १४१	
१२९		कालिदास ८, २९, ३३, ३४, ३५,	
		३७, ७१, ६०, ६१, ९२, ११७,	
		१३१, १४४, १४५, १६३	

ऐतिहासिक नामानुक्रमणिका

	पृष्ठ		पृष्ठ
काशीनाथ अंवक तैलिंग	११	गुणाढ्य	६०, ६१
कान्यकुब्ज	१३६	गोकुलनाथ	१५७
कीथ	१०, ११	गोपदेव	१८७
किरातार्जुनीय	४२, १००	गोपेन्द्र त्रिपुहर भूपाल	११०
कुचमार	१६, २०	गोविंद ठक्कुर	१७१, १६४
कुड्णी मत	२३, ३२, ११७	गौरी	१०१
कुंतक या कुंतल	१२४, १२५, १४२, १४६, १८०, २१३	गौरीशङ्कर ओझा	१३७
कुमारदास	-	गौरांग गणोदेश्य दीपिका	१६६
कुमारसंभव (कालिदास)	१२२	च	
कुमारसंभव (उद्घट)	१०२	चतुर्विंशति प्रवंध	१३६
कुमार स्वामिन	१७२, १९०, १६५	चंद्रशेखर	१९३
कुमारपाल	१८३	चंद्रगुप्त	३४, ३६, ४९,
कुवल्यानंद	१८४	चंद्रालोक	१८४, १६४
कुसुमा प्रतिमा (टीका)	६४	चंद्रादित्य	९८
केशव मिश्र	१३२, १३३, १८६, १६६	चारुदत्त नाटक	६२,
कौटिल्य	३६, १३२	चिनवीर	२०२
कृष्णकवि	१५२	चिनवौवा	२०२
श्रीकृष्ण	४७	चित्र मीमांसा	१७३
ग		चित्र मीमांसा खंडन	२०१, २०७
गणपति शास्त्री	३५, ६०, ६१	चिन्नतामणि विनायक वैद्य	१०, १४
गणेश्वर	१८७	१५, १६, १८, ४३, ४४, ४७, ५०	
गवर्नरमेंट ओरियण्टल	मैनिस्कृष्ट	चैतन्य महाप्रभु	१९६
लाइब्रेरी मद्रास	७०	चैतन्य चंद्रोदय	१६६
छ		छन्द	४

संस्कृत साहित्य का इतिहास

	पृष्ठ		पृष्ठ
छान्दोग्य उपनिषद्	३६	जे० डालमेन	४६
ज		जेकब	६६, १०३, १०४
जगदाभरण	२०६	जेकोवी १०, ११, १२, ८३, ९९,	
जगदीश	१५७	१०६, १८३	
जयदेव (चन्द्रालोक प्रणेता)		जैयट	१६६
१८४, १८५, १८४		जेलोपाध्याय	१२९
जयदेव (गीत गोविंद प्रणेता)	१८५, १८७	ड	
		डायोनक्राय सौस्टम	४६, ५०,
जयरथ विमर्शीणीकार	१७२,		त
१७५, १८०, २०५		तरलकवि	१३४
जयचंद्र	१६९	तरल टीका	१८७
जयसिंह (राजा)	१५४, १८१	तरुण वाचस्पति	८७, ९४
जयसिंह काश्मीराधिपति	१५४	तिलक (कवि)	१०६
जयन्त	१७१	तौत भट्ट	१३६, १४०
जयानक	१६८	त्रिवेदी	८२, ८६ ९५
जयापीड	७८, १०४, १०५,	द	
११०, ११७		दण्डी ३८, ३६, ४३, ५५, ६२,	
जरनल रायल एशियाटिक		६३, ६४, ६५, ६६, ६८, ७३,	
सोसायटी १०, २६, ५४, ७६,		८४, ८५, ८६, ८७, ८३, १०१	
७७, ८३, ८७, ८६		१०२, १०५, १०६, ११०,	
जरनल वांवे ब्राँच एशियाटिक		१५०, १५२, १५४	
सोसाइटी	८३	दशकुमार चरित	६५
जलहण	९८, १२३, १२५	दशरूपक १, ३१, १३८, १३९;	
जानकी हरण	८	१८७	
जिनेन्द्र तुद्धि	८९	दशावतार चरित	१५६,

ऐतिहासिक नामानुकमणिका

	पृष्ठ		पृष्ठ
दाराशिकोह	२०६		
दामोदर गुप्त	२३, ३२, ११७		
दिल्लीनाग	८६, ९०		
दुर्विनीति	१००		
दुर्दक	१३४		
दुर्गा प्रसाद	१३४		
देवी शतक	१२६		
	ध		
धनञ्जय	९, ३१, १३८, १३९, १८७, २१४		
धनिक	१३८, १३९, १५०		
धनुर्वेद	४		
धरसेन	७६		
धर्म कीर्ति	८९, १३०		
ध्वनिकार	६६, ६७, ६९, १०७, ११५, ११८, १४६, १५०, १६१, २०५, २१३		
ध्वन्यालोक	३०, ३१, ३२, ४२, ५३, ६६, ६८, ६६, ८७, ८८, १०३, १०६, १०८, १०९, ११३, ११६, १२८, १४३, १४५, १४६, १८२, १८७, २०३		
धृतराष्ट्र	४७		
धातुवृत्ति	८८		
धारानगरी	१३९		
		न	
नट सूत्र		७१	
नन्दिकेश्वर या नन्दि, नन्दि-भरत		१६, २६	
नमि साधु	७२, ११२, ११७,		
नरसिंह	१८८, १६३		
नरसिंह ठक्कुर		१५७	
नवसाहस्राङ्क चरित	१३६, १५३, १७०		
नागरी प्रचारिणी पत्रिका		१३७	
नागभट्ट विश्वेश्वर		१८६	
नागेश (नागोजी भट्ट)	१५७, २०७, ३०८		
नाथ्यशास्त्र	४, १९, २१, २२, २७, ३८, ३९, ७६, ८०, ११०, १४८, २१२		
नाथ्यवेद		४	
नायक (भट्ट)		३०	
नारायण भट्ट	३२, ८१, १३२		
नारायण दीक्षित		१३५	
न्यायवातिक		८६	
निरुक्त		४	
न्यासोद्योत		८६	
नील कंठ		२०३, २०७	
नीलकंठ चंपू		२०३	

संस्कृत साहित्य का इतिहास

	पृष्ठ		पृष्ठ
नृसिंहदेव	६४	पेरुमड्ड	२०६
नृसिंहाचार्य	८३	पौराणिक काल	३, ३९
नेमि कुमार	१९०	प्रकाशोन्द्र	१५५
नैवधीयचरित	४२, १९४	प्रताप रुद्र यशोभूषण	७७, ६५,
नोणा	१२६		१३९, १७२
प		प्रतापरुद्रदेव	१८८
पंचतंत्र	११७	प्रतिहारेंदुराज	७८, ६६, १०२,
पतंजलि	७१, ६०		१०६, १०६, ११४, ११५,
पंडितराज जगन्नाथ	१०७, ११८		१२१, १२२, १२४, १२७
१७२, २०१, २०३, २०६,		प्रतिशा यौगंधरायण	६०
२१५		प्रत्यभिज्ञा वृहती वृत्ति	१४१
पद्माभरण	२००	प्रदीप	१७१
पराविंशिका	१४१	प्रद्योत भट्ट	१८६
परिमल	१३६	प्रभाकर भट्ट	३०
पाठक (प्रोफेसर)	८३, ८८,	प्रभाचंद्र	१८१
६६		प्रभाकर चरित	१८१
पाणिनि	१०, ११, ७१	प्रभाण विनिश्चय	१३०
पिट्ठरसन	८२, ९६, १०५, १६८,	प्रसन्न राघव नाटक	१८५, १८७
१६६		प्राचीन लेख माला	१३८
पिशल,	८२, ११५, १७६, १८८	पृथ्वीकोक्षण	१००
पिशल की शृंगार तिलक की		पृथ्वीराज विजय	१८०
भूमिका	१७२	पृथ्वी वल्लभ	१३८
पीयूष लहरी	२०७	ब	
पुरुषोत्तमलालजी (गोस्वामी)	४४	बटुकनाथ	९१
पुलकेशिन द्वितीय	६८, १००	बलदेव उपाध्याय	६१
पुष्यमित्र	१५, ३४, ६३		

ऐतिहासिक नामानुक्रमणिका

	पृष्ठ
वाण भट्ट ३३, ८८, ८९, ६९, १०१, १३२, १४५	भरतसुनि ४, १६, ८०, ६०, ११६, ११८, १३२, १८०
बलदेव भूषण १५७	भागवत १३५, २०२
बालकवि २०७	भानुदत्त १८६, २०८
बाल चरित्र ६२	भामह १८, ३८, ३८, ५३, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, १०१, १०२, १०३, १०५, १०६, ११०, ११४, १४३, १४४, १५०, १५७, २१२, २१३
बाल रामायणम् १३३, १४६	भामह विवरण १०३
बाल भारत १३१, १३२	भामिनी विलास २०६,
मिं० वृल्हर १०, ११०, ११५, १५४, १७९, २०२	भारत ४२
बी० एस० दलाल ४३	भारती रीति २८
बौद्ध मत १५	भारत मंजरी १५६
ब्रह्मा ४१	भारवि १००, १३२, १४५, १८८
ब्रह्माच्छ्र १६	भावप्रकाश १८८
भ	
भक्ति रसायन २०२	भाषा भूषण २००
भगवद्गीता ४६, १३९	भास ३४, ३५, ६२, ६४
भट्टि १८, ३८, ३८, ७३, ७६, ८८, ११०, ११२, ११४, १५०	भीमसेन १६६
भट्टोजि दर्दित २०७	भुवनकोष १३३
भट्टेदु राज १३८, १४०, १४१	भूषण (टीका) १३, १७
भंडारकर १०, ११, १०	भैमरथी ७१
भंडारकर ओरियंटल लाइब्रेरी १०६	भोजराजा ७०, ११३, १३३, १५३ १५६, १८०, १८४, १८८ २१३
भवभूति ३२, ३३, ३८, ३७, १०६, १३२, १४५	
भर्तृ मेंखक ६२,	

संस्कृत साहित्य का इतिहास

	पृष्ठ		पृष्ठ
मंखक	१७३, १७५, १७६,	महेश्वर	११०
१७९		महेन्द्रपाल	१३४, १३७
मंगल	१३२	माघ	६६, १०६, ११७, १३२,
मथुरानाथ	१६५	१८८	
मधुसूदन सरस्वती	२०२	माणिक्य चन्द्र	१६७, १७६
मनुस्मृति	१३५	माधवाचार्य	८९, १३६
मनोरमा कुच मर्दन	२०७	मालविकामिमित्र	३४
मनोरथ	१००	मालवरुद्र	७२
मममट	१८, ३१, ४२, ६९,	मुकुलमट्ट	१०५, ११५, १२१,
७८, ९३, १०२, १०७, ११३,		१३०	
११५, १२७, १३६, १४२,		मुङ्डकोपनिषद्	६
१४८, १४६, १४७, १४८,		मुंज	१३८, १३९
१४६, १७७, १८०, १८५,		मुरारिदान	२०९
१८८, १९१, १६२, २०५,		मेगास्थनीज	४९, ५०
२१३, २१४		मेघदूत	८, ६१
मयूर	१३२	मेकडोनल	१४, १५, २६, ४०,
महिनाथ	१८७, १८९	४८, ९९	
महाभारत	४, १०, ११, १३,	मेधातिथि	१६६
१४, १५, १६, १७, १८, ४०		मेधाविन	७२
महादेव	१८५, १८९	मैक्समूलर	५४, ६६
महामाघ्य	७१	मोरोपंत	४४
महिम भट्ट	१२३, १२५, १४५,	मृच्छकटिक	६२
१४६, १४७, १९३, २१३		य	
महीपाल	१३७	यजुर्वेद	५, ६
महेशचन्द्र	६६	यवन	१५, ३७, ५०
		यशवन्त यशोभूषण	१६६, २०९

ऐतिहासिक पद्यानुक्रमणिका

	पृष्ठ		पृष्ठ
यशस्क का अलंकारोदाहरण	१६६	राज राज या राजदेव	१८०
यशस्तिलक	१३७	रामा एण्ड होमर	१०, १०
याज्ञवल्क्य स्मृति	१६६	राम शर्मा	८१
यास्क	४	रामायण तिलक	१३
यूनानी	३७	रामायण शिरोमणि	१३
र		रामजन्म	१५
रंगराजाध्वरी	२०१	रामसिंह	२०८
रघुवंश महाकाव्य	३४	रामायण मंजरी	२५६
रत्नाकर	११७, १६८, २०५	रामचरण तर्क वार्गीश	१६५
रत्नार्पण (टीका)	१५५, १६५	रावण	१६
रमेशचन्द्र दत्त	४६	रावणवध काव्य	७४
रमा	१८६	रावर्टसन	१५
रविवर्मा	१८०	राशि गणित	१५
रस गंगाधर	१०७, ११८, २०१, २०६, २०८	रुद्रट	७२, ८५, १११, १३२, १४३, १५१, १६०, १७८, १८०, १८४, २१३
रसार्णव सुधाकर	२३, १८६, १८८	रुद्रभट्ट	११५, ११६, ११७
राका	१८६	रूप गोस्वामी	१६५
राघव भट्ट	८१, ८२	रुद्धक या रुचक	१७१, १८५, १८८, १८१, २१३
राजमित्र	८१	लघुवृत्ति	७८, १०१, १०२, १०४, १०५
राजतरंगिणी	३०, १०४, ११०, १२६, १५६, १६८, १६९, १७६, १८०	लक्ष्मी लहरी	२०७
राजशेखर	१६, २१, ७२, ८५, ८८, १०३, १०८, ११३, १२२, १२६, १३१, १३४, १३६, १४५, १५०, १५६	लिङ्गी नायक	२०२
		लेवी (प्रोफेसर)	२६, ४१, ४७
		लोचन (व्याख्या)	७०, ८६,

संस्कृत साहित्य का इतिहास

	पृष्ठ		पृष्ठ
१२१, १३०, १३६, १४०, १८२	२४	विक्रमांक देवचरित	१७६
लोहलट भट्ट	३०, ३१	विक्रमोर्वशी	३४, ३५,
व वक्षस्थलाचार्य	२०१	विजिजिका	९८
वल्लभ देव	११७	विद्धशाल भैजिका	१३३, १३५
वलभी	७६	विजयानगरम	२०२
वक्रोक्ति जीवित १२४, १४५, १८२		विद्यानाथ	१८८, १८९
वाग्मट्ट	१३३, १८१, १९०	विद्याधर	१३६, १८७
वासवदत्ता	३५, ६०	पिद्यापीठ पत्रिका	२०२
वत्सराज	९०	विलियम्स इंडिनय विजडम	४६
वररुचि	८१	विष्णुवर्धन	१००
वाक्पतिराज	१३२, १३७, १३८, १५३	विष्णु शर्मा	११७
वाचस्पति मिश्र	८९	विमर्शीणीकार	१७७
वादि जंघाल	८७	विश्वनाथ	१७१
वात्स्यायन	१६, १३२, १८६	१३८, १३९, १६१, १६३, २०५, २१५	
वामन ८२, ९७, १०५, १०६, ११०, ११२, ११४, १३२, १४३, १५०, १५९, १६१, १८०, १८८		विषम वाण लीला	१२४, १२९
वामनाचार्य	२८	विश्वावर्त	१७६
वामुक	११३	वीरदत्त	१०१
वार्तिककार	७१	वीरेश्वर	२०८
वाल्मीकीय रामायण	६	वैकट राव	२०२
वाल्मीकि	३३	वेणीसंहार	३१, ३२, ४२
		वेद व्यास	१०, ४१, ४३
		वेन्वर	१०, ४६, ४७, ४८, ९६, ११५
		वैदिककाल	३
		वैशम्पायन	४४

ऐतिहासिक पद्यानुक्रमणिका

	पृष्ठ		पृष्ठ
बौद्धायन स्मृति	१६६	शृंगार प्रकाश	७०, १५०, १५२
ब्यक्ति विवेक	३०, १४६, १८७	शृङ्गार तिलक	११५, ११६, ११७
व्याकरण	४	शृंगाररथ	१८०
व्यासदास (क्षेमेन्द्र)	१५५	शौद्धोदनि	१६६, १६७
वृत्त रत्नाकर	८१	श्रीनारायण	१६३
वृहत्स्थाकार	६१	श्रीविल्लभ	१३८
श		श्रीकण्ठ चरित	१७३, १७४,
शंकर दिग्विजय	१३६		१७६
शकुंतला नाटक	४२	श्रीहर्ष	१६९, १८८, १९४
शंकुक	३०, १४६	श्वेताश्वतरोपनिषद्	५
शतीश चंद्र	६०	स	
शतानंद	११३	संकेत (टीका)	१७९
शरदागम	१८६	सरस्वती तीर्थ	१७१
शलाका पुरुष चरित	१८३	सरस्वती कंठाभरण	७०, ११३,
शाकायन	८६		१३३, १५०, १८३, २१४
शाखवर्धन	८१	संस्कृत साहित्यका इतिहास	
शाहजहाँ	२०६, २०७	(अंग्रेजी, मेकडोनल)	१४, १५,
शिशुपाल वध	४२, १०६		२६, ४३, ४८
शिवरथ	१८०	संस्कृत साहित्य का इतिहास	
शिवदत्त कविरत्न	१६५	(बाबू सुशीलकुमार दे)	२२
शिशुवंश	१५६		२३, २४, ८३
शूद्रक	६२	संस्कृत वांगमया चात्रोटक,	११,
शोषकृष्ण	२०८		१३, १४, १७
शोष गिरि	१८६	समुद्रवंध	१२३, १२५, १४०,
शोभाकार	१६८		१७२, १७५, १७६, १८०

संस्कृत साहित्य का इतिहास

	पृष्ठ		पृष्ठ
सामवेद	५, ६	सोमदेव	१३७
सारंगधर पद्मति	६२, १८६	सौति	४४, ४५, ४७, ५१
साहित्य कौमुदी	२८	स्वप्नवासव दत्ता	६०
साहित्य दर्पण	२२, २९, ५३, ६५, ८३, १५०, १८६, १९१	स्टीन	१५४, १६५
साहित्य सर्वस्व	११०	स्यादोनी का शिलालेख	१३७
सिद्धांत विदु	२०२	ह	
सिद्धांतलेश संग्रह	२०७	हरिनाथ	८७
सिद्धांत कौमुदी	२०८	हर्ष	१६६, १७०
सिंधु	१५५	हर्षचरित	३३, ८६
सिंधुल	१५३	हर्षवर्धन	८८, ९६
सियाकसलकार (स्वभाषालङ्कार)	६७	हरविजय	१६८
सिंहभूपाल	१८६, १८८	हरिदत्त	२०८
सी० डी० दलाल	१३४	हरिप्रसाद शास्त्री	२८
सुवंधु	७१	मि० हापकिन्स	४०
सुमनोत्तरा	७१	हरिविलास	१३३
सुमित्रा	१८५	हिंदी मेघदूत विमर्श	६, ३४, ६२
सूर्यमल	४४	हिरीन	४१
सुरानंद	१३४	हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (वेर)	१०, ४३
सुर्याल कुमार दे २०, २२, २३, २४, २५, ३६, ३७, ८३, १४३		हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (विंटरनीज)	४०, ४३, ४७, ४८
सुवर्णनाभ	१६, २१	हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (मैक्समूलर)	४६
सूरदास जी	४४	हिस्ट्री आफ इंडिया आक्सफोर्ड (विंसेंट ए. स्मिथ)	४६, ४८
सूक्ति मुक्तावली	१२३		
सुव्रह्मण्य शास्त्री	२०८		

ऐतिहासिक पद्यामुक्तमणिका

	पृष्ठ
हिस्ट्री आफ इंडिया (ऐलफिन्स्टन)	४६
हिस्ट्री आफ इंडिया केम्ब्रिज	४६
हिस्ट्री आफ इंडिया वी. एस. दलाल	४३
हिस्ट्री आफ इंडिया सिविलिजेशन	४३
हिस्ट्री आफ इंडिया लाजिक	१०
हृदयज्ञमा	१४
हेमचन्द्र	२३, ११७, १२४,
	१२७, १३३, १७०, १८३
होमर	१०
हारनेल	५४
	क्ष
क्षेमेन्द्र	६५, १२४, १२७, १३३,
	१४१, १४६, १५५,
क्षेमेन्द्रन्यास	८८

इस ग्रंथ के लिखने में सहायक और उपयोग में लाये गये ग्रंथों की नामावली

- १ अभिपुराण—आनन्दाश्रम संस्करण पूना
- २ अधिभावृत्तिमातृका (मुकुल भट्ट) निर्णयसागर प्रेस, बंबई
- ३ अमरकोष
- ४ अर्थशास्त्र (कौटिल्य)
- ५ अलङ्कार शेखर (केशव मिश्र) निर्णयसागर प्रेस सन् १८६५
- ६ अलङ्कारसर्वस्व (रुच्यक) जयरथ की विमशिणी सहित—निर्णय-
सागर प्रेस, बंबई सन् १८६३
- ७ अलङ्कार सूत्र (रुच्यक) समुद्रवन्ध की व्याख्या अनन्तशयन संस्करण
सन् १८२६
- ८ आनन्दवृन्दावन चंपू (कर्णपूर गोस्वामी) मथुरा
- ९ आश्रमोपनिषद्
- १० उज्वलनीलमणि (श्रीरूपगोस्वामी) नि० सा० प्रेस, बंबई
- ११ उच्चरामचरित (भवभूति)
- १२ ऋग्वेद
- १३ एकावली (विद्याधर) बांवे संस्कृत सीरीज
- १४ औचित्यविचारचर्चा (क्षेमेन्द्र) नि० सा० प्रेस बंबई
- १५ कठोपनिषद्
- १६ कर्पूरमंजरी (राजशेखर) नि० सा० प्रेस, बंबई
- १७ कविकण्ठाभरण (क्षेमेन्द्र) नि० सा० प्रेस, बंबई
- १८ कामसूत्र (वात्स्यायन)

संस्कृत साहित्य का इतिहास

- १९ काव्यप्रकाश (मम्मटाचार्य) वामनाचार्यकृत वालवोधिनी व्याख्या—
निर्णयसागर प्रेस, सन् १९०१
- २० काव्यप्रकाश—श्री गोविन्दठकुरकृत प्रदीप और नारेश भट्टकृत
उच्चोत व्याख्या सहित
- २१ काव्यप्रकाश—माणिक्यनन्दकृत संकेत व्याख्या
- २२ काव्यमीमांसा (राजशेखर) गायकवाड़ संकेत व्याख्या
- २३ काव्यादर्श (दण्डी) कुसुमप्रतिमा व्याख्या लाहोर द्वितीयावृत्ति
- २४ काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) निर्णय सा० प्रेस, सन् १६०१
- २५ काव्यानुशासन (वाम्पट) निर्णयसागर प्रेस, सन् १६१५
- २६ काव्यालङ्कार (भामह) विद्याविलास प्रेस, बनारस
- २७ काव्यालङ्कार (रुद्रट) नि० सा० प्रेस, सन् १८८६
- २८ काव्यालङ्कारसारसंग्रह (उद्घट) भंडारकर पूना सन् १६२५
- २९ काव्यालङ्कारसारसंग्रह (उद्घट) निर्णयसा० प्रेस, सन् १६१५
- ३० काव्यालङ्कारसूत्र (वामन) सिंहभूपालकृत कामधेनु व्याख्या विद्या-
विलास प्रेस, बनारस १६०७
- ३१ किरतार्जुनीय (भारवि)
- ३२ कुट्टनीमत (दामोदर गुप्त) निर्णयसागर प्रेस
- ३३ कुवलनयानन्द (अप्पयदीक्षित) श्रीवैकटेश्वर प्रेस, वम्बई
- ३४ चन्द्रालोक (पीपूपवर्ष जयदेव) गुजराती प्रिंटिंग बांबे
- ३५ चित्रमीमांसा (अप्पय दीक्षित) नि० सा० प्रेस
- ३६ छान्दोग्य उपनिषद्
- ३७ जसवन्तजसोभूषण (मुरारिदान) मारवाड़ स्टेट प्रेस, जोधपुर
- ३८ दशरूपक (धनंजय) निर्णयसागर प्रेस
- ३९ देवीशतक (श्री आनन्दवर्धनाचार्य) नि० सा० प्रेस,
- ४० ध्वन्यालोक (ध्वनिकार) नि० सा० प्रेस, सन् १८९१
- ४१ नागरीप्रचारणीपत्रिका, बनारस

सहायक ग्रंथों की नामावली

- ४२ नाथ्यशास्त्र (श्री भरतमुनि) निं० सा० प्रेस, सन् १८६४
- ४३ नाथ्यशास्त्र (श्री भरतमुनि) अभिनवगुप्तपादाचार्यकृत अभिनव भारती व्याख्या सहित—गायकवाड़ संस्करण
- ४४ नैषधीयचरित (श्रीहर्ष)
- ४५ प्रतापसूद्रयशोभूषण (विद्यानाथ) बोंवे सीरीज
- ४६ प्रसन्नराघव नाटक (जयदेव)
- ४७ प्राचीनलेखमाला, निर्णयसागर प्रेस बंबई
- ४८ बालरामायण (राजशेखर)
- ४९ श्रीभगवद्गीता
- ५० भक्तिरसायन (श्री मधुसूदन सरस्वती) अच्युतग्रन्थमाला बनारस
- ५१ भट्टि काव्य
- ५२ श्री मद्भागवत
- ५३ भामिनी विलास (पण्डितराज जगन्नाथ) निं० सा० प्रेस, बंबई
- ५४ मनुस्मृति
- ५५ महाभारत
- ५६ महाभारतमीमांसा (श्री चिंतामणि विनायक वैद्य)
- ५७ माधुरी पत्रिका, लखनऊ
- ५८ मालवकामिमित्र (कालिदास)
- ५९ मुण्डकोपनिषद्
- ६० मेघदूत (कालिदास)
- ६१ मृच्छकटक (शूद्रक)
- ६२ वशवन्तयशोभूषण (सुवश्मण्य शास्त्री) मारवाड़ स्टेट प्रेस
- ६३ याग्यवल्क्य स्मृति
- ६४ रसतरंगिणी (भानुदत्त) बनारस
- ६५ रसमंजरी (भानुदत्त)
- ६६ रघुवंश (कालिदास)

संस्कृत साहित्य का इतिहास

- ६७ रसगङ्गाधर (पण्डितराज जगन्नाथ) नि० सा० प्रेस, सन् १८६४
- ६८ राजतरंगिणी (कहण)
- ६९ वकोक्तिजीवित (कुन्तक) ओरियन्टल सीरीज कलकत्ता
- ७० वाग्मयालङ्कार (वाग्मट) नि० सा० प्रेस, बंबई
- ७१ वाल्मीकीय रामायण—गोविन्दराजीय भूषण आदि तीन व्याख्या
सहित—गुजराती प्रिटिंग बांधे
- ७२ विक्रमोर्वशीय (कालिदास)
- ७३ विद्यापीठ पत्रिका, बनारस
- ७४ वेणीसंहार (नारायण भट्ट)
- ७५ वृत्तिवातिंक (अप्ययदीक्षित) नि० सा० प्रेस, बंबई
- ७६ व्यक्तिविवेक (महिम भट्ट) निर्णयसा० प्रेस,
- ७७ शृंगारप्रकाश (भोजराज) ला प्रिटिंग मद्रास
- ७८ शृंगारतिलक (रुद्रभट्ट) निर्णयसागर प्रेस,
- ७९ श्रीकण्ठचरित (मंखक) निर्णयसागर प्रेस,
- ८० श्वेताश्वतरोपनिषद्
- ८१ शिशुपालवध (माघ)
- ८२ संस्कृतवाङ्मयाचा ओटक इतिहास (चिन्तामणि विनायक वैद्य)
- ८३ सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज) निर्णयसागर प्रेस, बंबई
- ८४ साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) रुचिरा व्याख्या
- ८५ साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) श्रीकाणे सम्पादित नि० सा० प्रेस,
- ८६ सुभाषितावली (वल्लभदेव)
- ८७ स्वप्नवासवदत्ता (भास)
- ८८ हरिमक्तिरसामृत (श्रीरूपगोस्वामी) अच्युतग्रन्थमाला बनारस
- ८९ हरविजय (रत्नाकर) नि० सा० प्रेस, बंबई
- ९० हिन्दीमेवदूत विमर्श (कन्हैयालाल पोद्दार)
-

अंग्रेजी के सहायक ग्रंथों की नामावली

- 1 Bhandarkar, Dr. Rama & Homer.
 - 2 Cambridge History of India.
 - 3 J. Dahlmann : Das Mahabharata Als Epos Und Rechtsbuch.
 - 4 B. S. Dalal : A History of India.
 5. S. K. De : History of Sanskrit Poetics.
 - 6 Indian Antiquity.
 - 7 James Mill & H. H. Wilson : History of British India.
 - 8 Journal of the Asiatic Society of Bengal.
 - 9 Journal of the Royal Asiatic Society.
 - 10 P. V. Kane : Introduction to Sahitya Darpan.
 - 11 Lionel D. Barnett : Antiquities of India.
 - 12 Macdonell : History of Sanskrit Literature.
 - 13 Max Muller : History of Ancient Sanskrit Literature.
 - 14 Max Muller : India what can it teach us.
 - 15 R. C. Mazumdar : Ancient Indian History.
 - 16 R. G. An Outline of Ancient Indian History and Civilization.
 - 17 Monier Williams : Indian Wisdom.
 - 18 Mountstuart Elphinstone : The History of India.
 - 19 Oldenberg : Das Mahabharata.
 - 20 Peterson : Kashmir Report.
 - 21 Rameshchandra Dutt : History of Civilization in Ancient India.
 - 22 P. C. Roy : Translation of Mahabharata.
 - 23 C. V. Vaidya : The Mahabharata A Criticism.
 - 24 Vincent A. Smith : The Oxford History of India.
 - 25 Weber : History of Indian Literature.
 - 26 Winternitz : History of Indian Literature.
-



